सुमित्रानंदन पंत का नवचेतना काव्य

(1937 से 1969 ई०)

नेमनारायण जोशी
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055

पूज्य पिताजी
की
स्मृति
को

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन मे लिखा गया है। यह प्रबन्ध हिन्दी के यशस्वी कवि श्री सुमित्रानन्दन पत के उत्तरवर्ती काव्य का एक अध्ययन एवम् मूल्याकन प्रस्तुत करता है। लेखक ने प्रतिपादित किया है कि हिन्दी-आलोचना अभी पत जी के परवर्ती काव्य के साथ पूरा-पूरा न्याय नही कर सकी है जिसका एक प्रधान कारण रहा है 'नवचेतना' के स्वरूप का ठीक से स्पष्ट न होना। अत लेखक ने 'नवचेतना' के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए पत जी के चेतना-काव्य को समझने की चेष्टा की है। प्रस्तुत-प्रबन्ध मे लेखक की यह भी दृष्टि रही है कि पत की काव्य-चेतना की मूलभूत एकता एवम् प्रवहमानता को उद्घाटित किया जाए ताकि मूल्याकन वस्तुनिष्ठ एवम् सत्य के अधिक निकट हो सके।

इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से वर्तमान हिन्दी के यश.प्राप्त एवम् वरेण्य काव श्री सुमित्रानन्दन पत के काव्य से सम्बद्ध होकर मै गौरव का अनुभव करता हूँ।

कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय

प्रस्तावना

पत-काव्य के प्रति मेरी अभिरुचि किशोर जीवन ही से थी। गत बीस वर्ष के दीर्घकालिक अध्यापकीय जीवन मे भी पत-काव्य का अध्ययन-अध्यापन निर्विशेष भाव से चलता रहा पर लगभग सात वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षाओ को जब पहली बार 'चिदम्बरा' की कविताएँ पढाने का सुयोग प्राप्त हुआ तो पत-काव्य का तब तक का अपना अध्ययन मुझे अपर्याप्त प्रतीत हुआ—इसलिए नही कि पत जी की कोई कृति मेरे लिए अ-देखी रह गई थी या कि उन पर लिखी गई कोई आलोचना-पुस्तक मैने नही पढी थी, बल्कि इसलिए कि पत जी द्वारा लिखे गए तथा पत जी पर लिखे गए के बीच पूरी-पूरी सगति नही बैठ पा रही थी। इसी बीच एक दिन 'चिदम्बरा' की भूमिका 'चरण-चिन्ह' पढते हुए मेरी दृष्टि एक वाक्य पर आकर अटक गई: "मेरे द्वितीय उत्थानकाल के लिए उपयुक्त सज्ञा होगी नवीन चेतना का काव्य", और मेरे भीतर जैसे प्रकाश हो उठा। नवीन चेतना की दृष्टि से पत-काव्य का पुनरवलोकन करने का मन ही मन सकल्प कर मैं शीघ्र ही उसमे प्रवृत्त हो गया। उसी अध्ययन का परिणाम है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

मेरे शोध-कार्य मे प्रवृत्त होने के समय पत-काव्य पर जो प्रमुख समीक्षात्मक ग्रन्थ उपलब्ध थे उनके नाम इस प्रकार है: 'सुमित्रानन्दन पत' (डा० नगेन्द्र), 'सुमित्रानन्दन पत काव्य-कला और जीवन-दर्शन' (स० शचीरानी गुर्टू), 'सुमित्रानन्दन पत' (विश्वभर 'मानव'), 'पत जी का नूतन काव्य और दर्शन' (डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय), 'कवियो मे सौम्य सत' (बच्चन) तथा 'हिन्दी काव्य और अरविन्द-दर्शन' (डा० प्रतापसिह चौहान)। और भी कुछ छोटे-बडे ग्रन्थ थे। इनमे से कोई भी ग्रन्थ चूँकि 'नवचेतना' को आधार बना कर नही चला था, अत मेरा विषय लगभग अछूता था। विश्वभर 'मानव' के ग्रन्थ मे अवश्य आठ पृष्ठ का 'नवचेतनावाद' शीर्षक से एक स्वतन्त्र अध्याय था पर उसमे नवचेतना 'अरविन्दवाद' के सीमित अर्थ मे गृहीत होने के कारण उस अध्याय मे निबद्ध सामग्री मेरे लिए विशेप उपयोगी न रही। इसी प्रकार डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय के बृहद् ग्रन्थ की उपादेयता भी मेरे लिए अधिक नही रह गई क्योकि उसमे एक तो नवचेतना को 'मात्र अरविन्द-दर्शन के

प्रभाव' रूप मे ग्रहण किया गया और दूसरे 'नवचेतना-काव्य' की परीक्षा एक विशिष्ट राजनीतिक मतवाद (साम्यवाद) के निकष पर हुई। शेष ग्रन्थो मे भी 'नवचेतना-काव्य' को अपने-अपने ढग से ग्रहण किए जाने तथा उसकी अभिनव एवम् मनचाही व्याख्याएँ होने के कारण, मुझे अपना मार्ग लगभग स्वयम् ही प्रशस्त करना पडा। मेरे जानते नवचेतना के स्वरूप को सम्यक् रूप से हृदयगम कर पत के उत्तर-काव्य के अध्ययन की आवश्यकता वनी थी। मेरा यह नम्र प्रयास उसी दिशा मे है।

अपने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय मे मैने नवचेतना के स्वरूप को लेकर हिन्दी आलोचना-जगत् मे प्रचलित कतिपय भ्रातियो का सकेत देते हुए उसके सम्यक् स्वरूप की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है। ऐसा करने मे मेरी विचार-धारा का प्रमुख आधार स्वयम् कवि द्वारा अपनी कृतियो मे दी गई विस्तृत भूमिकाएँ ही रही है। नवचेतना की स्वरूप-स्थापना मे यद्यपि मेरा मौलिक योगदान नगण्य सा ही है तथापि उनकी भूमिकाओ मे विखरी पडी नव-चेतनात्मक प्रवृत्तियो के विवेकपूर्ण आकलन, विश्लेषण-सश्लेषण एवम् कवि के नवमानवतावाद के स्वप्न को समग्रत उपस्थित करने की सूझ-बूझ मेरी अपनी है। इसी अध्याय के 'समीक्षा' शीर्षक के अन्तर्गत कवि द्वारा किए गए द्वन्द्वो, विशेषत भूत और अध्यात्म के समन्वय की व्यवहार्यता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए एवम् मौलिक तर्को द्वारा उसकी सुरक्षा करते हुए उन कतिपय आरोपो का प्रत्याख्यान किया गया है जो हिन्दी-आलोचको द्वारा कवि के चेतना-काव्य पर लगाए गए है।

द्वितीय अध्याय मे प्रमाणित किया गया है कि कवि के 'द्वितीय उत्थान-काल' की कृतियो मे प्राप्त होने वाली लगभग सभी नवचेतनात्मक प्रवृत्तियाँ स्फुट-अस्फुट रूप मे, 'प्रथम उत्थान-काल' की कृतियो, विशेषत 'ज्योत्स्ना' मे उपलब्ध है और इस प्रकार आलोचना-क्षेत्र मे फैले एक और भ्रम का निराकरण किया गया है कि श्री अरविन्द के सम्पर्क मे आने के बाद से पत जी नवचेतनावादी हुए हैं। जन्मकाल से ही कवि के सस्कारी मन पर पडने वाले अन्त बाह्य प्रभावो की चर्चा करते हुए मैने दिखाया है कि नवचेतना कवि के व्यक्तित्व का ही विकास है और कि कवि के सम्पूर्ण कृतित्व मे एक ही चेतना का अविच्छिन्न सूत्र आरम्भ से अन्त तक देखा जा सकता है। इस दृष्टि से पत जी के काव्य-सचरण को विभिन्न वाद-खण्डो मे विभक्त करके देखने की हमारी प्रवृत्ति अवैज्ञानिक है। 'प्रथम उत्थान काल' की कृतियो से समग्रत विकसित होने वाली नवचेतना की विस्तृत रूपरेखा अध्याय के अन्त मे दी गई है।

यह देखने के लिए कि कवि के नवचेतनावाद पर श्री अरविन्द के दर्शन का कितना कुछ प्रभाव है, अपेक्षित था कि अरविन्द-दर्शन का समुचित अध्ययन प्रस्तुत किया जाना। अत तृतीय अध्याय मे मैंने यथासभव मूल ग्रन्थो की सहायता से अरविन्द-दर्शन का सक्षेप उपस्थित किया है। ज्ञानमीमासा, तत्त्व-मीमासा और मूल्यमीमांसा—दर्शन के इन तीन अगो मे से सामान्यतया तत्त्व-मीमासा का ही विवेचन करने की प्रवृत्ति हिन्दी-आलोचना मे रही है : शेष दो अग उपेक्षित कर दिए जाते है। मैने इस अध्याय मे अरविन्द-दर्शन को समग्रत समुपस्थित करने की चेष्टा की है।

तत्त्वमीमासा की दृष्टि से अरविन्द-दर्शन एक विकासवादी दर्शन है, अतः विकासवाद की पृष्ठभूमि पर ही उसका सम्यक् स्वरूप ग्रहण किया जा सकता है। इसी दृष्टि से मैंने विकासवाद का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत अध्याय मे उपस्थित किया है। विकासवादी बर्गसाँ के दर्शन का अध्ययन करते हुए तो मैं इतना अधिक प्रभावित हो गया कि शोध के भीतर की शोध प्रारम्भ हो गई और मुख्य कार्य कुछ काल के लिए स्थगित कर देना पडा।

अरविन्द-दर्शन का विवेचन करते हुए हिन्दी-आलोचना की यह प्रवृत्ति रही है कि तत्त्वमीमासा की व्याख्या करने के बाद 'विकासवाद' को परिशिष्ट की भाँति चिपका दिया जाता है या कगारू के बच्चे की तरह अलग थैली मे रख दिया जाता है। मैने प्रयत्न किया है कि विकासवादी तत्त्वमीमासा को उसके अखण्ड रूप मे समुपस्थित करूँ। मूल्यमीमासा के रूप मे अरविन्द के आचार-दर्शन की सक्षिप्त रूपरेखा भी उपस्थित की गई है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत 'नवचेतना' के काव्य-पक्ष का विवेचन किया गया है। 'भाव' तथा 'विचार' का सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है कि 'विचार' काव्य के लिए विजातीय तत्त्व नही है और कि व्यापक युगबोध पर आधृत लोक-मगल के काव्य के लिए तो विचार-स्तर का भेदन नितान्त अनिवार्य है। इसी सन्दर्भ मे, सत्य, शिव. सुन्दर के सैद्धान्तिक अद्वैत की तर्काश्रित पद्धति पर प्रतिष्ठा की जाकर उस ऐश्वर्य-भूमि का परिचय दिया गया है जहाँ से नवचेतना काव्य उद्भूत हुआ है।

पचम, षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे 'द्वितीय उत्थान काल' की काव्य-कृतियो का नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो की दृष्टि से गभीर आलोडन किया गया है और कवि की कृतियो से उपयुक्त उद्धरण देते हुए निष्कर्षो की पुष्टि की गई है।

पंचम अध्याय में 'लोकायतन' महाकाव्य से पूर्व तक की बारह काव्य-कृतियों ('युगवाणी' से 'कला और बूढ़ा चांद' तक) को समेटा गया है और एक-एक कृति का पृथक् विश्लेषण न कर बारहों कृतियों का एक साथ विश्लेषण करना मुझे अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ है ताकि उनमें व्यक्त 'नवचेतना' का समग्र रूप सहज ही प्राप्त किया जा सके। इन कृतियों में विकसित नवचेतनात्मक प्रवृत्तियों को 'प्रथम उत्थान काल' की नवचेतना से मिला कर देखा तो दोनों में मुझे अद्भुत साम्य दिखाई पड़ा। इसी आधार पर मैं यह निष्कर्ष निकाल सका हूँ कि 'प्रथम उत्थान-काल' तथा 'द्वितीय उत्थान-काल' की काव्य-चेतना एक और अविच्छिन्न है। मार्क्स-दर्शन, गांधी-दर्शन तथा अरविन्द-दर्शन के प्रभाव की मात्रा प्रकट करते हुए मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन प्रभावों ने कवि के काव्य की मूल चेतना को सपुष्ट करने ही में योग दिया है, उसकी दिशा को परिवर्तित नहीं किया।

षष्ठ अध्याय में 'लोकायतन' के प्रबन्धत्व एवम् महाकाव्यत्व का विवेचन कर आधुनिक युग के हिन्दी-महाकाव्यों में उसका स्थान निर्धारित किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में नवचेतनात्मक प्रवृत्तियों का संधान करने पर फिर वही रूप-रेखा उभरी है जो पूर्व-लोकायतन कृतियों तथा प्रथम उत्थान-काल की कृतियों से विकसित हुई थी। इस प्रकार मैं प्रतिपादित कर पाया हूँ कि पंत काव्य की अपरिवर्तित काव्य-चेतना को अकारण खण्डों में विभाजित कर हमारे आलोचक सत्य से दूर जा पड़े हैं। इस कृति में भी गांधी, मार्क्स तथा अरविन्द के प्रभाव की मात्रा का अंकन करते हुए यह प्रमाणित किया जा सका है कि पंत-काव्य में 'वाद' प्रमुख नहीं, कवि का 'व्यक्तित्व' ही प्रमुख है।

सप्तम अध्याय में 'लोकायतन' महाकाव्य के बाद की तीन काव्य-कृतियों के आधार पर नवचेतना की परिचित रूपरेखा विकसित की गई है तथा उसकी दो प्रवृत्तियाँ—राग-भावना का परिष्कार तथा आन्तर क्रान्ति का महत्त्व का विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया गया है। यह भी देखने की चेष्टा की गई है कि इन दो तत्त्वों के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले कितने नवीन ब्योरे देने में कवि सफल हो सका है। प्रस्तुत अध्याय में चेतना के उन नवीन बिन्दुओं का भी स्पर्श किया गया है जो लोकायतनोत्तर काव्य में प्रथम बार प्रकट हुए हैं।

आठवें अध्याय में नवचेतना काव्य के कला-पक्ष का विवेचन सर्वथा मौलिक पद्धति पर किया गया है। प्रारम्भ में भाषा की उस द्विविध परिसीमा को मैंने स्पष्ट किया है जिसकी पूर्ति के लिए ही काव्य में बिम्ब, प्रतीक, छन्द आदि

कला-पक्ष के तत्त्वो का समायोजन होता है। तत्पश्चात् बिम्ब-विधान, प्रतीक-विधान, छन्द-विधान एव शैली-सरचना के खण्ड-शीर्षको के अन्तर्गत अभि-व्यजना-पक्ष का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करते हुए नवचेतना काव्य के कला-पक्ष की श्रेष्ठता प्रमाणित की गई है।

नवम तथा अन्तिम अध्याय मे नवचेतना-काव्य का सम्यक् मूल्याकन बाधित करने वाले कारणो का विश्लेषण किया गया है और उसके सम्यक् मूल्याकन-हेतु एक व्यवहार्य काव्य-निकष विकसित किया गया है। नवचेतना-काव्य को इस नव्य निकष पर परीक्षित कर उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हुए एक और आरोप को निर्मूल सिद्ध किया गया है कि नवचेतना काव्य मे आकर पत जी की कला ह्रासोन्मुख हो गई है। मैने प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि पत जी का नवचेतना-काव्य साम्प्रतिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

अन्त मे, मै परम श्रद्धेय, गुरुवर डा० कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर का श्रद्धापूर्ण अभिवन्दन करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ जिनके प्रेरणाप्रद एवम् विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मे यह शोध-कार्य निष्पन्न हुआ है। डा० देवराज उपाध्याय, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर ने समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव देते रहने की जो महती कृपा की है, उसके लिए मै हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। विभाग के प्राध्यापक बन्धुओ, विशेषत श्री नवल किशोर तथा डा० आलमशाह खान ने विविध रूपो मे जो सौहार्दपूर्ण सहयोग दिया है उसके लिए भी मै हृदय से आभारी हूँ। उन समस्त विद्वज्जनो के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके ग्रन्थो से मैने इस शोध कार्य मे सहायता ली है।

नेमनारायण जोशी

अनुक्रम

पृ० सं०

पृ० स०

अध्याय 1

नवचेतना का स्वरूप

पंतजी का नवचेतना काव्य

द्वितीय उत्थान-काल (1937–57 ई०) की अपनी रचनाओं को कविवर श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'नवीन चेतना-काव्य' नाम से अभिहित किया है[1] जिसे मात्र संक्षिप्तता के आग्रह से मैंने "नवचेतना काव्य" की संज्ञा[2] दी है। पंत जी को क्षोभ रहा है कि उनके इस काल के काव्य-संचरण का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के आलोचक कृपण, अनुदार एवं निर्मम रहे हैं[3] और कि इस काव्य के साथ न्याय नहीं हो सका है। इधर उनकी इसी काल की काव्य-कृतियों पर, जिनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन 'चिदम्बरा' में हुआ है, 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' मिल जाने से, जहाँ पंत जी आंशिक रूप से आश्वस्त हुए हैं, वहाँ निर्मम आलोचक हतप्रभ होकर अपने आलोचना-मानों में पुनरवलोकन की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं। तथापि, पंत जी के इस काव्य के संबंध में किसी भी प्रकार का त्वरित निर्णय देने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वयं कवि द्वारा स्पष्ट किये गये[4] नवचेतना के स्वरूप को ठीक से हृदयंगम कर लिया जाय।

नवचेतना का आशय

'नवचेतना' से कवि का आशय जीवन और जगत के प्रति एक स्वस्थ और संतुलित, नवीन दृष्टि विकसित करने से है, ऐसी दृष्टि जो पृथ्वी पर नवीन

---

1 चिदम्बरा, द्वितीय संस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 27।

2. वैसे कुछ आलोचक इस संज्ञा को पहले से अपना चुके हैं यथा विश्वंभर 'मानव' (सुमित्रानंदन पंत, पृ० 277)।

3 चिदम्बरा द्वितीय संस्करण, चरणचिन्ह पृ० 10।

4. युगवाणी, आधुनिक कवि भाग-2 उत्तरा, रश्मिबंध, चिदम्बरा आदि कृतियों की प्रस्तावनाएँ।

मानवता को जन्म देने मे सहायक हो सके ।[1] मानवतावाद की प्रतिष्ठा पत जी के आचार-दर्शन का चरम मूल्य (सम्मम् बोनम्) है। यो मानववादी विचारधारा का इतिहास बहुत प्राचीन है, पर पूर्व तथा मध्यकालीन मानवतावाद जहाँ धर्म अथवा दर्शन का सहारा लेकर खडा होता था, वहाँ आधुनिक मानवतावाद, जिसमे पत जी का विश्वास है, जनतत्र एव जागरूक सामाजिकता का अवलब ग्रहण करता है। इसके पहले लगाया गया विशेषण 'नव' इसी अन्तर का द्योतक है।

अब तक की जीवन-दृष्टियों की एकांगिता

अव तक अपनाई गई जीवन-दृष्टियाँ, अपने अतिवाद तथा एकागिता के कारण, विशेष कर आज की परिवर्तित जीवन-परिस्थितियो मे, अनुपयोगी, निरर्थक एव जड प्रमाणित हो चुकी हैं क्योकि मनुष्य का सर्वभावेन हित-साधन करने मे वे अक्षम रही है। प्राचीन सामाजिकता के चरमराते ढाँचे की अध रूढि-परम्पराओ, पूर्व-वैज्ञानिक युग की सकीर्ण आर्थिक-राजनीतिक पद्धतियो तथा खोखले नैतिक-धार्मिक आदर्शो की सीमाओ मे जकडी मानवता, इस सीमा तक सज्ञाशून्य हो चुकी है कि उसे अपने हिताहित का विवेक भी नही रह गया है और दो विश्व-युद्धो का स्नायुभजक त्रास भोग कर भी, वह आज एक तीसरे महा-विनाशकारी अणु-युद्ध के स्वागत मे तैयार खडी है। इस परिप्रेक्ष्य मे युग-मानवता को जिस नवीन दृष्टि अथवा चेतना की आवश्यकता है, वह एक परिपूर्ण, सतुलित एव समग्र जीवन-दृष्टि होगी जो त्रस्त मानवता की, न केवल इस महाविनाश से रक्षा करेगी अपितु भू-जीवन को नवीन मानवीय ऐश्वर्य एव श्री-सुषमा से मण्डित करेगी।

मानव-सत्य की पूर्णता शरीर, मन एव आत्मा की समग्र सन्तुष्टि मे है। अब तक की जीवन-दृष्टियाँ, इनमे से किसी एक ही को लक्ष्य बना कर चली और यह एकागिता ही उन्हे अतिवाद के कगार तक ठेल कर लक्ष्य-भ्रष्ट करती रही। पश्चिम का भूतवाद यदि अन्त चेतना की एकान्त अवहेलना करता हुआ, देहवाद का पर्याय होकर, सकुचित राष्ट्रीय स्वार्थो की टकराहट मे विश्व-युद्धो का आयोजन करने लगा, तो पूर्व, विशेषत भारत का अध्यात्मवाद, सम्पूर्ण बाह्यजगत के मिथ्यात्व की घोषणा करता हुआ, काल्पनिक स्वर्ग-अपवर्ग की उलझी पगडडियो पर भटक गया। दोनो ही, अतिवाद की दो भिन्न स्थितियो मे पहुँच कर लक्ष्य-भ्रष्ट हो गये।

वस्तुत हुआ यह भूतवाद और अध्यात्मवाद को एक दूसरे का विलोम समझने के कारण, उन दोनो के बीच का सतुलन खो देने के कारण।[2] यदि इस

1 चिदम्बरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिह्न, पृ० 28।

2 वही, पृष्ठ 33।

विलोमता को, नदी के दो तटो की विलोमता के अर्थ मे ग्रहण किया गया होता तो इतना अनर्थ न होता। वस्तुत जीवन की सरिता, भूत एव अध्यात्म के तटो का स्पर्श करती हुई प्रवाहित होती है, और इस प्रकार, ये दोनो परस्पर विरोधी न होकर पूरक है। दोनो मिलकर ही जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। भौतिक समृद्धि से रहित अध्यात्म खोखला है, अध्यात्म से रहित भूतवाद निष्प्राण है।

भौतिक जीवन के लिये मार्क्सवादी दृष्टि की उपयोगिता

मनुष्य की शारीरिक आकांक्षाएँ अथवा स्थूल भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ प्राथमिक और अनिवार्य है, उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। न तो वाह्य जगत मिथ्या अथवा माया का प्रसार है, न शरीर, आत्मा के विकास-मार्ग का वाधक ही। शारीरिक एवम् वाह्य जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करके ही हम अध्यात्म के शिखरो की ओर अग्रसर हो सकते है। वाह्य भौतिक जीवन को अधिक सम्पन्न एव सुखपूर्ण वनाने की दृष्टि से, मार्क्सवाद उपयोगी और नवीन दृष्टि प्रदान करता है क्योकि वह उत्पादन एव वितरण के साधनो पर सामूहिक अधिकार का हामी है और सव प्रकार के आर्थिक शोषण का विरोधी है। अन्न, वस्त्र, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य के समुचित प्रवध के अभाव मे, केवल धर्म और अध्यात्म पर जीने वाली मानवता विरूप, विपन्न एव विकलाग है। उन्नत इन्द्रिय-जीवन का वहिष्कार करने वाली सस्कृति, मध्यकालीन खर्व चेतना की प्रतीक है। भू-जीवन को अधिक उन्नत वनाने तथा सामूहिक जीवन की शिक्षा देने के उद्देश्य को लेकर चलने वाले मार्क्सवाद को, जीवन के एक समतल सिद्धात के रूप मे अगीकार करने मे, इसलिये, पत जी ने कोई हिचक नही की है और उसकी उपादेयता को वडे अश्लिष्ट भाव से, स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है।[1]

मार्क्सवाद से ही क्या, पत जी को किसी भी राजनीतिक मतवाद से विरोध नही रहा है। उल्टे, उनकी तो मान्यता है कि युग का प्रत्येक मतवाद हमारी आज की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के किसी न किसी दुर्गुण या अभाव की ओर सकेत करता है[2] तथा प्रवुद्ध मध्यम वर्ग का ध्यान आकृष्ट करता है—मध्यम वर्ग, जो वैचारिक क्राति का सूत्रधार है। पर, पत जी मार्क्सवाद के सर्वांग ग्रहण के पक्ष मे कभी नही रहे। उनकी दृष्टि मे, मार्क्सवाद की उपयोगिता उसके

1 आज भी जव नवमानवतावाद की दृष्टि से, मैं विश्व-जीवन के वाह्य पक्ष की समस्याओ पर विचार करता हूँ तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वय-सिद्ध प्रतीत होती है।

चिदम्वरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिह्न, पृ० 15।

2 'उत्तरा' की भूमिका, द्वितीय सस्करण, पृ० 7।

वैज्ञानिक आदर्शवाद में ही है जो जन-हित अथवा सर्वहारा का पक्ष है, उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, जो वर्ग-संघर्ष एवं रक्त-क्रांति को ऐतिहासिक अनिवार्यता तथा संस्कृति को, आर्थिक-राजनीतिक ढाँचे पर खड़ा अतिविधान (सुपर स्ट्रक्चर) मानता है।

युग-संघर्ष का व्यापक रूप

वर्ग-संघर्ष, युग-संघर्ष का पर्याय नहीं हो सकता क्योंकि युग-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक वस्तु है। अधिक से अधिक वह युग के विराट्-व्यापी संघर्ष का राजनीतिक चरण मात्र हो सकता है।[1] युग-संघर्ष के अन्तर्गत भूत और अध्यात्म का समन्वय, विज्ञान और संस्कृति का समन्वय, राग-भावना का परिष्कार, मानव-स्वातंत्र्य एवं मानव-एकता का प्रश्न, उपचेतन की समस्याओं तथा जीवन-मान्यताओं के संघर्ष का समाधान, विकसित सांस्कृतिक मूल्यों की नवीन लोकतंत्र के रूप में प्रतिष्ठा, ऋण-मूल्यों के स्थान पर धन-मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि अनेक प्रश्नों का समाहार हो जाता है।[2] वर्ग-संघर्ष की भी उपयोगिता अन्य देशों में भले ही हो, भारत के लिये तो यह न केवल अनावश्यक, अपितु, हानिकारक भी है।[3] इसी प्रकार, रक्त-क्रांति की अनिवार्यता भी पंत जी नहीं मानते। वे इसे मार्क्स के अपने युग की सीमा[4] बताते हैं।

आर्थिक-राजनीतिक क्रान्तियों की सीमाएँ

आर्थिक-राजनीतिक क्रान्तियाँ, चाहे उनका विस्तार कितना ही दिग्व्यापी क्यों न हो, भावी मानवता के स्वरूप-निर्माण की दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी, अपने आप में पूर्ण नहीं कही जा सकतीं[5] क्योंकि वे मानव-चेतना के सम्पूर्ण धरातलों का स्पर्श करने में सक्षम नहीं होतीं। उन्हें पूर्णता प्रदान करने के लिये यह आवश्यक है कि व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन भी आयोजित हो[6] जो मानव-

---

1 उत्तरा, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 6।

2. चिदम्बरा, द्वितीय संस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 23-24।

3 उत्तरा, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 7।

4 वही, पृ० 6।

5. मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। —वही, पृ० 7।

6 इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा। —वही, पृ० 7।

चेतना के मानसिक-आध्यात्मिक धरातलो का भी स्पर्श कर, उसकी चेतना का नवीन सस्कार कर सके। वाह्य जीवन के समुचित गठन के साथ-साथ अन्त सगठन का अनुष्ठान ही युग-पुरुष की चेतना को पूर्णता प्रदान करेगा। इसमे सन्देह नही कि लोक-सगठन और मन सगठन परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, पर यह सोचना भ्रामक होगा कि एक का सगठन दूसरे को स्वत सगठित कर देगा।[1] उसके लिये इच्छित प्रयत्नो की अपेक्षा रहेगी।

मार्क्स-दर्शन में संस्कृति-पक्ष की उपेक्षा

मार्क्सवादी दर्शन में, इस प्रकार के अन्त सयोजन के लिए कोई व्यवस्था नही है। वह शायद इसकी आवश्यकता भी अनुभव नही करता क्योकि सस्कृति को वह अर्थनीति-राजनीति पर आधारित अतिविधान मानता है और समझता है कि मूलभूत आर्थिक ढाँचे मे होने वाले परिवर्तन, सास्कृतिक ढाँचे को स्वय परिवर्तित करते चलते हैं।[2] पर यह सब कुछ सस्कृति-पक्ष का अति-सरलीकरण प्रतीत होता है, क्योकि सस्कृति जैसी जटिल वस्तु के मूल, न केवल वाह्य जीवन-परिस्थितियो मे, अपितु मन की अतल गहराइयो मे भी छिपे होते है।

संस्कृति का स्वरूप

'सस्कृति' शब्द का प्रयोग पत जी एक व्यापक अर्थ मे करते हैं और इस के अन्तर्गत, जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक धरातलो के अतिरिक्त धर्म, नीति, रूढि, रीति, लोक-व्यवहार आदि का भी समावेश मानते हैं, जिन सब का

---

1 ऐसा नही समझना चाहिए कि स्थूल के सगठन से सूक्ष्म अपने आप सगठित हो जायगा जैसा कि आज का भौतिक दर्शन या मार्क्सवादी कहता है, अथवा सूक्ष्म मे सामजस्य कर लेने से स्थूल मे अपने आप सतुलन आ जायगा जैसा कि मध्ययुगीन विचारक कहता आया है। ये दोनो दृष्टिकोण अतिवैयक्तिकता तथा अतिसामाजिकता के दुराग्रह मात्र हैं।

—उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 20।

2 स्वय पत जी युगवाणी–ग्राम्या काल मे इस विचार से प्रभावित थे। आगे चलकर ही उनकी मान्यता मे परिवर्तन हुआ। अन्यथा 'आधुनिक कवि, भाग-2' के पर्यालोचन मे वे क्यो लिखते कि "मनुष्य की सास्कृतिक चेतना उनकी वस्तु-परिस्थितियो से निर्मित सामाजिक सबधो का प्रतिबिम्ब है। यदि हम वाह्य परिस्थितियो मे परिवर्तन ला सके, तो हमारी आन्तरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जायेगी ·

(शेष अगले पृष्ट पर)

अन्त समजस रूप, मानवीय व्यक्तित्व को अनुपम गरिमा प्रदान करता है। पृथ्वी पर मानव के अवतरित होने के समय से लेकर आज तक उसकी चेतना या मन के जितने सस्कार हुए हैं, उनका सकलित रूप ही 'सस्कृति' है। इस प्रकार सस्कृति हमारे चित्त का स्थायी अश वन कर तन-मन मे रमी रहती है। पत जी ने इसीलिये उसे 'हृदय की शिराओ मे वहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर'[1] कहा है।

अन्तश्चेतना के संस्कार की आवश्यकता

वाह्य जीवन मे युगान्तर उपस्थित कर देने वाली आर्थिक-राजनीतिक हलचलो की प्रतिध्वनि भीतर भी गूँजती है और हमारी अन्तश्चेतना को प्रभावित भी करती है, पर यह प्रभाव उस अनुपात मे नही उत्पन्न होता जिस अनुपात मे वाह्य लोक-जीवन प्रगति कर जाता है। प्रचण्ड वैज्ञानिक आविष्कारो के इस युग मे जब वाह्य जीवन विद्युत् एवम् अणु-शक्ति की टॉगो पर वडी तीव्र गति से भाग रहा है, हमारी अन्तश्चेतना, प्राय उपेक्षित रहने के कारण चीटी की भॉति रेगती हुई बहुत पीछे छूट गई है। चन्द्रलोक और मगल-लोक मे पहुँच रहा मानव आज भी जाति, वर्ग, धर्म, देश और तथाकथित सस्कृति की सकीर्णताओ से घिरा है। उसकी अन्तश्चेतना आज भी अविकसित या अर्धविकसित है। मनुष्य के वाह्य चेतन व अन्तश्चेतन का यह व्यापी अन्तराल ही उसके आज के दुख, द्वन्द्व, नैराश्य, विक्षोभ, विग्रह और युद्ध का कारण है क्योकि उसकी अल्पविकसित

(पिछले पृष्ठ का शेष)

स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन
वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्त्तन।" पृ० 25

और भी,

"मैं यह भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास मे वाह्य परिस्थितियो से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तश्चेतना (साइकी) तदनुकूल पहले ही विकसित हो जाती है।"

—उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 38।

1. सस्कृति को हमे, अपने हृदय की शिराओ मे वहने वाला मनुष्यत्व का रुधिर कहना चाहिए, जिसके लिये मैंने अपनी रचनाओ मे सगुण, सूक्ष्म-सगठन या मन सगठन तथा लोकोत्तर, देवोत्तर, मनुष्यत्व आदि शव्दो का प्रयोग किया है।

—उत्तरा, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 19।

अन्तश्चेतना, विकसित भूत-शक्ति के दुर्दम दानव का सचालन करने मे अपने आप को असमर्थ पा रही है ।[1]

युग-संघर्ष का सांस्कृतिक पक्ष

अत हमारे युग की प्राथमिक आवश्यकता पिछडी हुई अन्तश्चेतना का विकास कर, अन्तर्वाह्य चेतना मे सामजस्य स्थापित करना है और यह सामजस्य अन्तश्चेतना के नवीन सस्कार द्वारा ही सभव है, ऐसा सस्कार, कि वह सब प्रकार की सकीर्णताओ से मुक्त होकर, न केवल मानवता को महासहार से बचा ले, अपितु वैज्ञानिक जगत की नवीन खोजो से प्राप्त होने वाली महान् भौतिक शक्तियो का उपयोग मानव-समृद्धि के लिये करने लगे । तभी भू-जीवन समृद्ध और मगलमय बन सकेगा । पर इसके पूर्व, अन्तश्चेतन को सस्कृत करने की प्रक्रिया मे, मानवता को जाति, देश, धर्म, राष्ट्रीयता आदि अनेक मोर्चो पर सघर्ष लेना होगा । यह हमारे युग-सघर्ष का सास्कृतिक पक्ष होगा जिसे पत जी ने 'अन्तर्मानव का सघर्ष' भी कहा है ।[2]

गांधी के प्रेम-अहिंसा के सिद्धान्त

अन्तर्मन को सस्कृत या सगठित करने की दिशा मे गाँधी का[3] सक्रिय अहिसा का सिद्धात, नवमानवता का अमूल्य उपादान है । एक दृष्टि से देखे, तो अहिसक होना ही मानव होना है । मनुष्य के हृदय मे बैठे पशु को हटाकर उसके स्थान पर मानव की, देवता की प्रतिष्ठा ही आज के सास्कृतिक अनुष्ठान का लक्ष्य है और इस दृष्टि से हृदय-परिवर्तन एव सुधार-जागरण के आन्दोलनो का भी अपना महत्त्व है । पत जी का यह विश्वास है कि बिना प्रेम और अहिसा के, बिना अन्तर की एकता के, किसी भी प्रकार के साम्य की स्थापना असभव

---

1. भविष्य मे जब मानव-जीवन विद्युत् तथा अणुशक्ति की प्रबल टाँगो पर प्रलय वेग से आगे बढने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका सचालन करने मे समर्थ नही हो सकेगी ।

—उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 9 ।

2 अत मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहता के विधान की भी नवीन चेतना-रूप मे परिणति सभव समझता हूँ और युग-सघर्ष मे वर्ग-सघर्ष के अतिरिक्त अन्तर्मानव का सघर्ष भी देखता हूँ ।

—वही, पृ० 8 ।

3 मूल रूप से बुद्ध का ।

है।[1] समानता या साम्य का सिद्धांत व्यावहारिक नहीं बनता जब तक कि वह भावनात्मक या सांस्कृतिक एकीकरण से पोषित नहीं होता। बाह्य आर्थिक-राजनीतिक जीवन का साम्य मानवता को वर्गहीन बनाने में असमर्थ है।

अतः वर्गों की संकीर्ण भित्तियों से मानवता तभी मुक्त हो सकती है, जब बाह्य जीवन में साम्य की स्थापना के साथ-साथ, अन्तश्चेतन में ऐक्य की प्रतिष्ठा की जाय। इस अन्तरैक्य की प्रतिष्ठा के लिये अहिंसा और प्रेम, अनिवार्य उपादान हैं।[2] इन उपादानों के सहारे यदि नवीन सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया जाय तो पृथ्वी पर वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती है और वर्तमान के दुःख-द्वन्द्व को लोक-जीवन के मधुरिम संगीत में परिणत किया जा सकता है।[3]

गाँधीवाद का सांस्कृतिक चरण

'नवचेतना' से पंत जी का आशय अन्तश्चेतना के इसी परिष्कार या संस्कार से है। गाँधीजी जीवन भर इसी के संस्कार एवम् उन्नयन का प्रयत्न करते रहे और उनकी मृत्यु के बाद संत विनोबा इस अनुष्ठान को उठाये हुए हैं। फिर भी, गाँधीवाद का यह सांस्कृतिक चरण अभी तक अपने गंतव्य तक नहीं पहुँचा है। भूतविज्ञान में पिछड़ा हुआ भारत, विश्व को विज्ञान का दान शायद ही दे सके। उसका तो सांस्कृतिक-सात्त्विक दान ही हो सकता है। संसार के दो बड़े प्रगतिशील कहलाने वाले राष्ट्र अपने निहित राष्ट्रीय स्वार्थों एवम् आर्थिक स्पर्धाओं के कारण विश्व-संहार के यंत्रालय बने हुए हैं और अपनी धरती से दूर, अन्य देशों में निरन्तर आर्थिक-सामरिक सहायता पहुँचा कर, केवल इसलिये युद्धों का आयोजन करते रहते हैं कि उनका अपना वर्चस्व सदा अक्षुण्ण रहे। इस पृष्ठभूमि में, पंत जी की कामना है कि बुद्ध और महावीर का यह देश भारत

---

1. मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके, क्योंकि ऊर्ध्व संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है और वर्गहीनता का अर्थ केवल अंतरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है।
—उत्तरा, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृ० 25।

2. इस युग के महापुरुष गाँधीजी की अहिंसा को हम मानव-चेतना का नवनीत अथवा विश्व-मानवता का एकमात्र सार कह सकते हैं। अणुभृत मानव जाति के पास अहिंसा ही एक मात्र जीवन-अवलम्ब तथा संजीवन है। सत्य-अहिंसा के सिद्धांतों को मैं अन्तःसंगठन के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ।
—वही, पृ० 16-17।

3. वही, पृ० 8।

अपने वहिरतर को नवीन चेतना के सौंदर्य से मण्डित कर, नवमानवतावाद के प्रचार-प्रसार का एक विराट् कार्यालय वन जाय ।[1]

भूत एवम् अध्यात्मवादी दृष्टि में समन्वय की आवश्यकता

चूंकि भूतवाद और अध्यात्मवाद दोनो अपने आप मे अधूरे है, इन दोनो का विराट् समन्वय, भावी मानव-जीवन को सतुलित एव समग्र वनाने की दृष्टि से, नवीन सास्कृतिक चेतना के निर्माण का एक आवश्यक उपकरण है। दोनो के सामजस्य मे ही मानव-सत्य की पूर्णता है। आज के प्रवुद्ध वुद्धिजीवी समन्वय के नाम से ही चौकते है। भूत और अध्यात्म के समन्वय मे वे अन्तर्विरोध देखते है और इसे 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' की कोटि मे रखते है। पर उनके ऐसा सोचने का कारण शायद यह है कि अध्यात्म को वे वादलो के ऊपर का कोई सत्याभास मानते है जिसका मनुष्य के दैनदिन जीवन से कोई सवध नही। पर वस्तुत अध्यात्म की यह धारणा रूढ एव मध्यकालीन धारणा है, जिससे पत जी की अध्यात्म की परिभापा नितान्त पृथक् और भिन्न है। उनके लिये आध्यात्मिकता, मानसिकता के विकास का ही अग्रिम चरण है। पदार्थ, प्राण, मन और आत्मा एक ही विकास-क्रम के चार पूर्वापर चरण है, जिनमे से कोई किसी से कम सत्य नही है। इस सत्य से अपरिचित रहने के कारण ही उनके इस समन्वयवाद की कटु आलोचना[2] हुई है।

पत जी का काव्य वस्तुत अध्यात्म का काव्य नही, सस्कृति का काव्य है जिसमे आध्यात्मिकता एव भौतिकता का, नवीन मनुष्यत्व की दृष्टि से सयोजन है। व्यापक मानव-हित की दृष्टि से, या सास्कृतिक दृष्टि से देखने पर उनमे कोई विरोध नही दिखाई पडता।[3] इस प्रकार, उनका काव्य उच्चतर मानव-मूल्यो का

---

1 उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 17।

2 मेरी द्वितीय उत्थान की रचनाएँ, जिनमे युग की भौतिक-आध्यात्मिक दोनो चरणो की प्रगति की चापे ध्वनित है, समय-समय पर, विशेप रूप से कटु आलोचनाओ एव आक्षेपो की लक्ष्य रही है।

—चिदम्वरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 10।

3 ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन मे मुझे किसी प्रकार का विरोध नही जान पडा क्योकि मैंने दोनो का लोकोत्तर, कल्याणकारी सास्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूत-हित की जितनी विशद भावना मुझे वेदात मे मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन मे भी।

—आधुनिक कवि, भाग-2, पष्ठ सस्करण, पर्यालोचन, पृ० 30।

काव्य है। फिर भी, यदि किसी का आग्रह इसे, 'आध्यात्मिक' ही मानने का हो, तो उचित होगा कि वह इसे रूढ अध्यात्म से पृथक् करके समझे।

नवचेतना का रूढ़ अध्यात्म से अन्तर

. रूढ अध्यात्म, वाह्य भौतिक जीवन से न केवल असम्पृक्त था, अपितु उससे अपना स्वाभाविक विरोध भी मानता था, यहाँ तक कि कभी-कभी तो इन्द्रिय एवम् भू-जीवन से विरति भी अनिवार्य मानता था। पर पत जी के काव्य की आध्यात्मिकता कोई हवाई चीज नही हैं, उसके पाँव सदा पृथ्वी पर ही रहे हैं। भावी मनुष्यता के जिस स्वर्ग का निर्माण वे करना चाहते हैं उसकी स्थिति भौतिक जगत मे ही होगी। ईश्वर-सान्निध्य की प्राप्ति के लिये उन्होने भू-जीवन के त्याग का नही, नवीन मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठा द्वारा, लोक-जीवन के नव-निर्माण का परामर्श दिया हैं। ईश्वर के दर्शन वे घट के भीतर नही, बाहर की लोक-मानवता मे, श्रेप्ठ सुन्दर लोक-जीवन मे करना चाहते है।[1] उनके लिये रवीन्द्र की भॉति, उन्नत सस्कृत सामाजिक जीवन ही भगवच्चेतना का मूर्त्त पीठ है, व्यक्ति का तप शुद्ध मन नही। लोक-जीवन को विकसित एवम् परिपूर्ण बनाना ही ईश्वर-पूजा है और भगवत्प्रेम जीवन-मुक्ति का नही, जीवन-रचना-मगल का उपादान हैं। भू-जीवन को भागवत जीवन बनाने के लिये कही ऊपर नही खो जाना है, इस दु ख-दैन्यपूर्ण जीवन मे ही, नवीन मूल्यो की अवतारणा द्वारा लोक-मगल का विधान करना हैं। यो तुलसी का 'रामचरित-मानस' भी लोक-मगल का काव्य है पर उसमे लोक-जीवन तथा भागवत जीवन परस्पर विच्छिन्न होने के कारण दो पृथक् मूल्य है। पत जी के काव्य मे इस प्रकार का कोई अलगाव नही है, क्योकि वे भागवत जीवन की प्रतिप्ठा सामाजिक भूमि पर ही करते हैं।[2]

---

1. धरती के जीवन से भगवत् सत्ता को पृथक् कर, लोक-मानवता के वदले किसी कल्पना या मन सिद्धि के स्वर्ग मे, ध्यान-धारणा के शिखर पर ईश्वर-साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है।

—चिदम्बरा, द्वितीय सस्करण, चरण-चिन्ह, पृ० 28-29।

2 मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, वैराग्य के स्फटिक शीत मन्दिर मे रह कर सभव नही मानता। जगत या सृप्टि के मूल मे जो ईश्वर या भागवत चेतना है, उसे विकास-क्रम मे, मनुष्य के सामाजिक जीवन एव विश्व-जीवन मे मूर्त्त होना ही चाहिये। यही मेरी दृप्टि मे मात्र भगवत्-साक्षात्कार है।

—चिदम्बरा, द्वितीय स०, चरणचिन्ह, पृ० 29।

दूसरे, पतजी के अध्यात्म का इद्रिय-जीवन से भी कोई विरोध नही है। जहाँ मध्यकालीन अध्यात्म, देह और इद्रियो की निन्दा करते नही थकता था वहाँ पत जी इन्द्रियो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है क्योकि वे अनत की लीला का दर्शन कराने वाले गवाक्ष हैं।[1]

द्वन्द्वों में समन्वय

पत जी का कहना है कि जिस प्रकार भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद मे परस्पर कोई विरोध नही है, उसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म मे, या आदर्शवाद तथा वस्तुवाद मे भी नही है और उनका सामजस्य किया जा सकता है। आवश्यकता केवल एक व्यापकतर दृष्टि अपनाने की है। आदर्शवाद यदि द्रष्टा का दृष्टिकोण है तो वस्तुवाद कर्त्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है।[2] कर्त्ता या कर्मी की रुचि वस्तु के गोचर-प्रत्यक्ष रूप मे ही होती है पर द्रष्टा, वस्तु के यथार्थ अथवा गोचर रूप से सन्तुष्ट न होने के कारण उसके आगामी भव्यतर रूप मे रुचि रखता है जिसमे कि यथार्थ को विकसित होकर पहुँचना है। दूसरे शब्दो मे, द्रष्टा की कल्पना मे जो आज का सत्य है, वही कर्त्ता या कर्मी के लिये कल का सत्य है। द्रष्टा का काल्पनिक सत्य ही समय पाकर कर्त्ता या कर्मी का गोचर-यथार्थ वन जाता है। अत विरोध की स्थिति कही है नही। आदर्श और यथार्थ वस्तुत विकास-सत्य से सबध रखने वाले दो सूक्ष्म-स्थूल तथ्य है और इस दृष्टि से देखने पर उनमे सहज ही समन्वय किया जा सकता है।[3] इसी आधार पर सूक्ष्म तथा स्थूल का भी सामजस्य किया जा सकता है। वस्तुत अभी तक हमारी चेतना द्वन्द्व-पीडित रही है और विलोम प्रतीत होने वाले शब्दो को, युग्मो के रूप मे सुशोभित करने की हमे आदत हो गई है। पर अब हम जिस

---

1. मैं उपकृत इद्रियो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्वर
   लीला-द्वार खुले अनन्त के बाहर-भीतर।

   —वाणी, प्रथम स०, पृ० 25।

2 उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 12।

3 किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनो से अतिशय तथा ऊपर भी है—सूक्ष्म-स्थूल रूप या बिम्ब-प्रतिबिम्ब मान ले तो दोनो दृष्टिकोणो मे सहज ही सामजस्य स्थापित किया जा सकता है, और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओ को मानते हुए, विश्व-कर्म मे परस्पर सहायक की तरह हाथ वँटा सकते हैं।

   —उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना, पृ० 12।

युग में प्रवेश करने वाले हं, उसमें विलोम प्रतीत होने वाले शब्दो-भावो की दूरी निरन्तर कम होती जाएगी और उनमें सामजस्य की स्थापना सभव हो सकेगी ।[1] निश्चय ही युग्मो के रूप में अभिव्यक्ति, वास्तविकता या सत्य का विभाजन नही, हमारी बुद्धि का विभाजन है ।[2] इस प्रकार नवीन सास्कृतिक (चेतनात्मक) दृष्टि, ऐसी व्यापक दृष्टि होगी जो द्वन्द्वो के परे या उनकी पृष्ठभूमि मे छिपे, वृहत्तर सत्य को पहचान सके ।

रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार

नवमानवता के निर्माण के लिये मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का परिष्कार भी एक अनिवार्य उपादान है । हमारी वर्त्तमान राग-भावना मध्यकालीन नैतिक दृष्टि से अनुरजित हैं । पिछले युगो की नैतिकता, स्त्री-सम्पर्क को आध्यात्मिकता का शत्रु समझती थी और उसे मानव-उन्नयन मे वाधक मानती थी । यहाँ तक कि निषेध और वर्जना के सहारे राग-भावना के उन्मूलन का प्रयत्न भी वह करती थी । वह शायद नही जानती थी कि राग (काम) भावना, सर्वाधिक प्रवल होती हैं और जीवन की मूल प्रेरणा होती हैं । इसका दमन करने वाले वज्रयानी एव वाममार्गी साधको तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले पडो, पुरोहितो एव महन्तो का भ्रष्ट यौनाचार इस वात का सकेत हैं कि हमारी आध्यात्मिक-नैतिक दृष्टि अयथार्थ, अप्राकृतिक और ऋृण-मूल्य-समन्वित रही है,[3] जिसे न केवल सहज वनाना हैं, अपितु, धन-मूल्यो पर भी आधारित करना है । भविष्य मे नर और नारी के पृथक् समाज नही होगे और समाज की लघुतम इकाई होगी नर-नारी । तव पुरुष एव स्त्री, एक दूसरे की आध्यात्मिक प्रगति मे

---

1. वास्तव मे आदर्शवाद-वस्तुवाद, जड-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका सचरण-वृत्त अव समाप्त होने को हैं ।

—उत्तरा, द्वितीय सस्करण, प्रस्तावना पृ० 12 ।

2. वही, पृ० 11 ।
3. सच तो यह हैं कि पिछली आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की धारणा ही खोखली, एकागी तथा अवास्तविक रही हैं, जिसे स्त्री-स्पर्श तथा सम्पर्क, उन्नत करने के वदले कलुषित कर सका है । निश्चय ही, वह जीवनोन्मुखी अध्यात्म न होकर रिक्त, जीवन-विरत तथा अप्राकृतिक अध्यात्म रहा है जिसका दूसरा छोर हमारा वाममार्गी, वज्रयानी साधना-पथ तथा पडो, पुरोहितो और महतो का धार्मिक जीवन रहा है ।

—चिदम्वरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 25–26 ।

सहयोगी ही होगे । दोनो का सतुलित, सस्कृत सहजीवन भावी मानव-सस्कृति का एक आवश्यक उपादान होगा ।[1]

राग की मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठा

अभी हमारे रागात्मक मूल्य इन्द्रिय-भोग पर आधारित है, वे देह-बोध का भार वहन करते हैं। उन्हे मानसिक और आध्यात्मिक धरातल भी प्रदान करने होगे। तभी नर और नारी के मध्य, अन्त शुद्ध रागात्मकता का सामजस्य उदय होगा, हमारे यहाँ जिसके प्रतीक, रति-काम या पार्वती-परमेश्वर के रूप हैं । ये ही रूप बाह्य जीवन मे सीताराम तथा राधा-कृष्ण के युगल-रूप बनाते हैं । युग्मेच्छा को ऐसे सतुलित उन्नयन का अवसर प्रदान करने वाले समाज की रचना से पूर्व हमे अपनी कामासक्ति को, परिष्कृत राग-भावना मे प्रक्षालित कर, स्वच्छ बना लेना होगा। राग-भावना को स्वच्छ-शुद्ध करने का एक मार्ग होगा—विस्तृत सामाजिक क्षेत्र मे पहुँच कर, नर और नारी का सहकारी के रूप मे कार्य करना । तब न तो नारी घर की चहारदीवारी मे बन्द रहेगी और न उसे एक बार, येन केन प्रकारेण देख लेने की आसक्ति रखने वाले अलाउद्दीन खिलजी पैदा होगे । 'काम' तब देह और व्यक्ति का मूल्य न रहकर, सामाजिकता और सस्कृति का मूल्य हो जायेगा, वैसे ही, जैसे 'क्षुधा' का प्रश्न अर्थनीति और राजनीति का प्रश्न बन गया है ।[2] पर ऐसे समाज की रचना अत्यन्त धैर्य, विवेक, सावधानी और जागरुकता द्वारा ही सभव होगी ।

राग वृत्ति का परिष्कार लोकजीवन की पीठिका पर

आध्यात्मिक तथा लौकिक मूल्य जो परस्पर विच्छिन्न रहे हैं उनका कारण राग-भावना का अविकसित रहना ही है। इसी विच्छेद के कारण, सास्कृतिक दृष्टि से, न तो हमारा सामाजिक जीवन पूर्णता प्राप्त कर सका है, न धार्मिक जीवन। दोनो एकागी, स्वर्ग-भीरु तथा धरा-भीत रहे हैं। हमारी राग-भावना व्यापक प्रेम में परिणत हो, इसके लिये पूर्ण लोक-जीवन को ही रागात्मक अनुष्ठान

---

1 स्त्री-पुरषो के बीच रागात्मक सामजस्य सस्कृति का मूल उपादान है ।
—चिदबरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिह्न, पृ० 26 ।

2 उदर-क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एव अर्थनीति का प्रश्न है, तो युग्म-भावना एव रागात्मकता का प्रश्न कल की सस्कृति का प्रश्न है । क्षुधा-काम तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रह कर सामाजिकता तथा सस्कृति के मूल्यो, आत्मा तथा लोक-मगल के मूल्यो मे बदल जायेगे ।
—वही, पृ० 26 ।

की पीठिका बनाना होगा ।[1] जिस भगवत्प्रेम को हम आन्तरिक शुद्धि तथा यमनियमासनादि की जटिल साधना द्वारा घट के भीतर प्राप्त करना चाहते हैं, उसी को हम कृष्ण-गोपियों के समान सरल लोक-जीवन के धरातल पर प्राप्त करें तो राग-भावना के परिष्कार की दिशा में, वह एक ठोस कदम होगा। कृष्ण की रासलीला में, परिष्कृत राग-भावना की आंशिक झांकी प्राप्त होती है।

नारी-सौन्दर्य के प्रति विरक्ति-समन्वित अनुराग-दृष्टि

कवि-दृष्टि निर्वैयक्तिक एवं आसक्ति-मुक्त होती है। वह नारी-सौन्दर्य को भोग की मंजूषा में संचित न कर व्यापक मानसिक-आध्यात्मिक उपभोग के लिये वितरित कर देता है। कवि-समाज में यह कोई नवीन परम्परा नहीं है, वह तो आदि कवि वाल्मीकि के समय से चली आ रही है। स्त्री-सौन्दर्य, कवि के लिये उद्दीपन की अपेक्षा आह्लाद का ही कारण अधिक रहा है। और इसी रूप में, वह उसे सामान्य जन तक पहुंचाता है। नारी के सौंदर्य को वह पृथ्वी पर कला की पीठिका तथा उसके लीलागार को अध्यात्म का द्वार मानता है। स्त्री-सौंदर्य के प्रति यह दृष्टि, न तो कामुकता की दृष्टि है, न वैराग्य की, अपितु इन दोनों अतिवादों के बीच की विरक्ति-समन्वित शुद्ध अनुराग की दृष्टि है।[2]

पन्त जी द्वारा गृहीत युग-सत्य की व्यापकता

पन्त जी ने इस प्रकार, युग की सर्वोपरि आवश्यकता को पहचानते हुए, तथा नवीन मानवता के विकास की संभावनाओं को दृष्टि-पथ में रखते हुए, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, राजनीति, अर्थनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों में, वे समस्त आवश्यक उपकरण बटोरे हैं, जो समग्र आज के मानव को एक नवीन चेतना, एक नवीन जीवन-दृष्टि दे सकें।[3] यह नवचेतना मात्र आदर्श-लोक या कल्पना-

---

1. चिदम्बरा, द्वि० सं०, चरणचिन्ह, पृ० 26-27 ।
2. यह प्रवृत्ति-पथ नहीं, निवृत्ति-पथ नहीं, निवृत्ति-संतुलित, प्रीति-संयमित प्रवृत्ति-पथ है, इंद्रिय-पथ नहीं, इंद्रिय-मूल्यों पर आधारित शील पथ है ।
—वही, पृ० 27 ।
3. इस प्रकार पाठक देखेंगे कि मैंने भौतिक, आध्यात्मिक, दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर, जड़-चेतन-संबंधी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर, व्यापक, सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे-पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यकता है ।
—चिदम्बरा, द्वितीय संस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 22 ।

जगत की वस्तु नही है, हमारे अपने युग के महामानवो के मन क्षितिज पर उनकी प्रकाश-रेखा चमक उठी है। आज विश्व-राज्य, विश्व-एकीकरण, आदि विचारधाराओ के रूप मे जिन नवीन सास्कृतिक शक्तियो का उदय हो रहा है, उन्हे बल प्रदान करना आज के कवि, कलाकार, एवम् दार्शनिक का परम कर्त्तव्य है। यो, कुछ प्रबुद्ध राजनीति-चेता भी इस दिशा मे जाग्रत दिखाई पडते है। पर कार्य यह, प्रमुखत साहित्य एव कला-स्रष्टा और द्रष्टा का ही है।

अन्य साहित्यकारों द्वारा युग-सत्य का आंशिक ग्रहण

यह हमारे युग का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि इस उदय होते हुए युग-सत्य को आज का कलाकार देख नही पा रहा। भारत ही नही, पश्चिम के साहित्य-कार भी एक दिग्भ्रम की स्थिति मे जी रहे है और जिसे युग-सत्य समझकर वे चिपके हुए है, वह व्यापी युग-सत्य का एक अत्यल्प, नगण्य भाग है। हमारे आज के साहित्य-स्रष्टा एव बुद्धिजीवी, मात्र निम्न वर्ग की दैन्य-पीडा तथा ऋण-मूल्यो के चित्रण को ही, सृजन का चरम पुरुषार्थ मान बैठे है और अपनी अल्पजीवी कृतियो द्वारा युग-विषाद को और भी गहरा कर रहे है। हमारी दीर्घकालिक राज-नीतिक पराधीनता ने हमे परमुखापेक्षी बना दिया है और पश्चिम द्वारा प्रव-र्त्तित मनोविज्ञान-जगत की भ्रातियो ने हमारी प्रबुद्ध कही जाने वाली तरुण पीढी को इतना आक्रान्त कर लिया है कि मानव-चेतना के उच्चतर स्तरो से सबध रखने वाली स्थितियाँ उन्हे मानसिक रोगो के रूप मे दिखाई पडती है। आध्या-त्मिक उन्नयन उनके लिये 'पलायन' का, सयम 'दमन' का तथा निषेध-वर्जन 'आत्मपीडन' का पर्याय बन कर रह गया है। उपचेतन मन की ग्रन्थियो, कुठाओ एव रुग्ण-प्रवृत्तियो के चित्रण को ही वे सृजन-कर्म की कसौटी मानने लगे है।

युग-कवि का दायित्व

पर इस खर्व चेतना को लेकर मनुष्यता अधिक दिनो तक जीवित नही रह सकती। आज के युद्धो की विभीषिका तथा जीवन के दिग्व्यापी सत्रास से मुक्ति पाने के लिये मानवता को एक बार फिर उस अमृतत्व की खोज करनी होगी जो चेतना के उच्चतर पुलिनो का स्पर्श करने से ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य की जिजीविषा अधिक दिनो तक अन्धकार मे नही भटकेगी, वह निश्चय ही, अपना मार्ग पहचानेगी और अणुसहार के नृशस नाटक को नया मोड देकर, नवीन भू-रचना एवं लोक-मगल का द्वार उन्मुक्त करेगी। इस जिजीविषा के स्फुलिग को फूंक मार-मार कर प्रबल, दुर्दम अग्निशिखा के रूप मे परिणत करना आज के कलाकार का दायित्व है। जो विश्व-मानवता का नवीन प्रकाश आज के जाग्रत-प्रबुद्ध महाजनो के मानसिक क्षितिज पर आलोकित हो उठा है, सवेदनशील हृदयो

मे नवीन चेतना का ज्वार उठकर जीवन-बोध के स्तरो को चूम रहा है, उसी की काव्यात्मक अभिव्यक्ति युग-कवि की सबसे बडी चिन्ता होनी चाहिये। अन्यथा, वर्त्तमान की खडित मूल्य-प्रतिमाओ एवम् बौनी मान्यताओ से भावी मानवता का काम नही चलने का।[1] प्रबुद्ध जन-मानस मे सौन्दर्य और मगल, जो रूपाकार ग्रहण करने के लिये अकुला रहा है, जिस जीवन-सत्य की प्रसव-पीडा से युगात्मा कराह उठी है, वह हमारे लोक-जीवन मे साकार-रूपायित हो सके, कवि का यही प्रयत्न होना चाहिये।[2]

समीक्षा

नवचेतना के स्वरूप को लेकर फैली भ्रांतियाँ

स्वय कवि द्वारा निरूपित 'नवचेतना' के स्वरूप को हृदयगम करने के बाद, हिन्दी-आलोचना-क्षेत्र मे उसके प्रति व्यक्त की गई प्रतिक्रिया पर दृष्टिपात करे, तो पायेगे कि 'नवचेतना' का स्वरूप-ग्रहण अपेक्षित सजगता एव गभीरता से नही किया गया। शायद इसलिये, पत जी को अपने द्वितीय उत्थान-काल के काव्य की मूल चेतना को 'उत्तरा', 'रश्मिबन्ध' तथा 'चिदम्बरा' की विस्तृत भूमिकाएँ लिख कर स्पष्ट करना पडा। उनके 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' काव्यो के प्रकाशन पर आलोचको ने उनके काव्य को भिन्न-भिन्न नाम दिये। किसी ने उसे 'स्वर्ण-काव्य'[3] की सज्ञा दी, किसी ने 'अध्यात्म-काव्य'[4] की तो किसी ने 'गुह्य-काव्य'[5] कह कर उसे अभिहित किया। यहाँ इन नामो के औचित्य

---

1. वर्त्तमान युग की बौनी, खण्डित एव अपर्याप्त मान्यताओ से सचमुच ही आने वाले मनुष्य का काम नही चलेगा, चाहे वह चन्द्रलोक मे रहे, चाहे मगल लोक मे।

—चिदम्बरा, द्वितीय सस्करण, चरणचिन्ह, पृ० 34।

2. मनुष्य की अन्तश्चेतना मे जो सत्य अभी अमूर्त्त है, उसे रूप दे सके, जीवन-सौन्दर्य की जो मानसी प्रतिमा आज अन्तर्मन मे विकसित हो रही है उसे भौतिक जीवन मे साकार कर सके और हमारा मन स्वर्ग पृथ्वी पर उतर आये।

—युगवाणी, षष्ठ सस्करण, दृष्टिपात, पृ० 11।

3. डा० सत्येन्द्र, सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू) दूसरा सस्करण, पृ० 179।
4. डा० नगेन्द्र, वही, पृ० 255।
5. विश्वभर 'मानव', सुमित्रानन्दन पत, पृ० 285।

अनौचित्य, मे प्रवेश करना अभीष्ट नही है, केवल स्वरूप-ग्रहण की भिन्नता लक्षित करना ही ध्येय है, जो स्वय इस बात की सूचक है कि आलोचक, इस काव्य की मूल चेतना को ठीक से पकड नही पाये।

पर जिन आलोचको ने इस काव्य के मूल स्वर को आध्यात्मिक बताया, उनमे से कुछ ने, इस काव्य के अध्यात्म को मध्यकालीन रूढ अध्यात्म से पृथक् कर, अपने विवेक का परिचय भी दिया।[1] पर शेष ने उसे प्राचीन जड-रूढ अध्यात्म का ही पुनरुत्थान समझ कर अनेक साहित्यिक भ्रातियाँ उत्पन्न की।

नवचेतना की भ्रान्त परिभाषा

'नवचेतना' को परिभाषित करने का इच्छित प्रयत्न हिन्दी आलोचना मे नही के बराबर ही हुआ। साधारणतया, परिभाषा निर्मित करना बडा जोखिम का काम माना जाता है और बुद्धिमान लोग, यथासभव, उससे बचने का ही

---

1 (क) यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नही है और न यह रहस्यवाद ही है। यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है। इसका सबध सूक्ष्म चेतना से है। .....
उन्होने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमे भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नही है, उन्नयन है, दमन नही है।
डा० नगेद्र, पत का जीवन-दर्शन, सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू) पृ० 256।

(ख) अरविदवाद पर आधारित पत जी का जीवन-दर्शन अतीत के सभी चितको से भिन्न प्रकार का है—जहाँ मध्यकालीन सतो ने शरीर को नश्वर बतला कर उसे गर्हित ठहराया है, वहाँ पत जी ने देह के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की है। शरीर के साथ इद्रियो का भी उन्होने गुणगान किया है। ..
विश्वभर 'मानव', सुमित्रानदन पत, पृ० 283।

(ग) उत्तरा का अध्यात्म तत्त्व न तो किसी शास्त्रीय दार्शनिक सिद्धात का प्रत्यक्ष मे पोषक है और न वह प्रच्छन्न मे किसी साम्प्रदायिक धार्मिकता मे विश्वास रखता है। उसका विषय मानवात्मा के विकास से सबद्ध होने पर भी आत्मा की औपनिषदिक व्याख्या करना नही है। दार्शनिक अद्वैतवाद या ब्रह्म चिन्तन की परिपाटी से तथाकथित अध्यात्मवाद का पोषण उसका ध्येय नही है।
विजयेन्द्र स्नातक, 'उत्तरा' मे पत का अध्यात्मवाद, सुमित्रानन्दन पत (शचीरानी गुर्टू) द्वि० स०, पृ० 303।

प्रयत्न करते हैं। परिभाषा न देकर, परिभाष्य के प्रमुख गुणो या तत्त्वो का परिगणन कर देना अधिक सुरक्षात्मक एव उपयोगी माना जाता है। परिभाषित करने का कार्य भारी आशकाओ से ग्रस्त रहता है। उदाहरण के लिये, वृक्ष को परिभाषित करने के अपने उत्साह मे, उसकी जडो और डालियो को काट कर हम उसे एक लट्ठे मे बदल देते हैं—लट्ठा, जो कक्षा से कक्षा तक लुढकाया जा सकता है। यह लट्ठा किसी पाठ्य-पुस्तक के लिये उपयुक्त हो सकता है पर 'वृक्ष' का समुचित बोध कराने मे तो असफल ही रहता है।

आलोचना-क्षेत्र मे केवल एक स्थान पर ही 'नवचेतना' को परिभाषित किया गया है[1] और वहाँ 'लट्ठा' ही लुढकाया गया है। गत पृष्ठो पर दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि 'नवचेतनावाद' मात्र अरविन्द-दर्शन का साहित्यिक सस्करण नही है। अपने नवचेतनावाद के लिये उपयोगी उपकरण, कवि ने अरविन्द-दर्शन के अतिरिक्त अन्य अनेक दर्शनो तथा व्यक्तियो की विचारधाराओ से बटोरे हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख आगामी अध्यायो मे किया जायेगा। फिर सबसे बडी बात तो यह है कि पत जी ने इन समस्त बाह्य प्रभावो को अपने अन्तर के आलोक मे ग्रहण किया है।[2] वे उनके व्यक्तित्व के साँचे मे ढल कर एक सर्वथा नवीन रूप मे प्रकट हुए हैं, ज्यो के त्यो प्रतिफलित नही हो गये।

समन्वयवाद पर हुए आक्षेपो की परीक्षा

नवचेतना के स्वरूप के सबध मे आलोचको द्वारा उठाई गई कतिपय शकाओ एव निर्मम आक्षेपो पर यहाँ किंचित् दृष्टिपात कर लेना अप्रासगिक नही होगा। पत जी की कटुतम आलोचना उनके 'समन्वयवाद',[3] विशेषकर, भूतवाद और

---

1 काव्य मे अरविन्दवाद को नवचेतनावाद कहते हैं।
विश्वभर 'मानव', सुमित्रानदन पत, तृतीय सस्करण, पृ० स० 277।

2. मेरी प्रेरणा के स्रोत नि सन्देह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हे युग की वास्तविकता ने सींच कर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अन्तर के प्रकाश मे ही बाह्य प्रभावो को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है।
चिदम्बरा, चरण-चिन्ह, द्वितीय सस्करण, पृ० स० 30।

3 (क) ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद के समझौते का नाम है गाँधीवाद। साम्राज्यवाद और पूंजीवाद से मजदूरो के निर्णायक सघर्ष का नाम है मार्क्सवाद। फिर इन दोनो का समन्वय कैसे हो सकता है? डा० रामविलास शर्मा, 'सुमित्रानन्दन पत काव्य-कला और जीवन-दर्शन, (सं० शचीरानी गुर्टू), द्वितीय सस्करण, पृ० 281।

(शेष पृष्ठ 19 पर)

अध्यात्मवाद के समन्वय को लेकर हुई हैं और उन्हे 'समझौतावादी', 'पलायन-वादी', 'प्रतिक्रियावादी', 'आदर्शवादी' और पता नही, क्या-क्या कहा गया हैं। आलोच्य कवि पर इस प्रकार के तथा ऐसे ही कुछ अन्य शब्द यो फेक दिये जाते है, जैसे वे शब्द न होकर, अपने आप मे पूर्ण, सटीक समालोचनाएँ हो। विद्वज्जन ही निर्णय दे सकेंगे कि स्वस्थ आलोचना-पद्धति के विकास के लिये यह प्रवृत्ति कहाँ तक लाभकर हैं।

समन्वयवाद पर किये गये डा० रामविलास शर्मा के इन आक्षेपो को ध्यान-पूर्वक देखें, तो तीन बाते स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती हे —

(1) ये आक्षेप आर्थिक-राजनीतिक धरातल से (वह भी मार्क्सवाद का) किये गये हे।

(2) असली पीडा, पत जी द्वारा समन्वय किये जाने की नही, मार्क्स-वाद को अस्वीकारे जाने की हैं।

(पृ० 18 का शेष)

(ख) जिस तरह ज्ञान और अज्ञान मे कोई समन्वय नही हो सकता, उसी तरह मजदूरो के क्रातिकारी दर्शन मार्क्सवाद और सामती तथा पूँजी-वादी आदर्शवाद मे कोई समन्वय नही हो सकता।

वही, पृ० 298-99।

(ग) समन्वय के इस व्यूह मे घुस कर पत जी ने पूरी तरह मार्क्सवाद को अस्वीकार कर के ही दम लिया हैं। सर्वहारा वर्ग और उसके सहायक गरीब किसानो को त्याग का उपदेश देने के सिवा उनके पास कुछ नही रहा। आर्थिक और राजनीतिक रूप से यह समन्वय वर्ग-सहयोग के सिद्धात के अलावा और कुछ नही हैं। इस कटु सत्य को रुचिकर बनाने के लिये उस पर भक्ति की चाशनी चढाई गई है। ट्रूमैन की ईसाइयत से ज्यादा महत्त्व इस कीर्तन का नहीं है। विश्वव्यापी सकट मे पडा हुआ पूंजीवाद इस समय अल्ला-अल्ला करने के अलावा कुछ कर भी नही सकता।

वही, पृ० 299।

(घ) पत जी भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय जैसी कोई असंभव चीज नही कर रहे है। उनकी तमाम कविता भौतिकवाद और जन-वादी सघर्ष को अस्वीकार करती है और वह दर असल समन्वय करती हैं तमाम देवी-देवताओ की उपासना के साथ पूंजीवाद की उपासना का।

पृ० 283-84।

(3) पंत जी के अध्यात्म की, रूढ़ अध्यात्म से पृथकता को, आलोचक देख नहीं पाया है।

अब इन पर क्रमशः विचार किया जायेगा।

पंत जी का नवचेतना-काव्य, राजनीति पर लिखा गया शास्त्र नहीं है, न वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र की समकक्षता का आकांक्षी है। इस काव्य का क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है और पंत जी ने मूल्यों का समन्वय किया है, किन्हीं राजनीतिक मतवादों का नहीं। कवि ने नवमानवतावाद के जिस आदर्श की प्रतिष्ठा की है, उसके स्वरूप-निर्माण के लिये उपयोगी मूल्यों का आकलन, मुक्त भाव से किया है और वह किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से बाधित नहीं रहा है। यदि शारीरिक और मानसिक सन्तुष्टि पहुँचाने वाले मूल्य एक दर्शन से, तथा आत्मिक सन्तुष्टि प्रदान करने वाले मूल्य दूसरे दर्शन से आकलित कर लिये जायें तो इसमें विरोध कहाँ है? यह तो वैसा ही है, जैसा अपनी आवश्यकता की कुछ वस्तुएँ एक दुकान से खरीदना और कुछ दूसरी दुकान से। इसमें भी यदि आलोचक को अन्तर्विरोध दिखाई पड़े, तो क्या किया जा सकता है? साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र मे, अर्थनीति और राजनीति के पैमाने काम मे लेने पर इसी प्रकार का मतिभ्रम उत्पन्न होता है। यह मार्क्सवाद का एक पूर्वाग्रह ही है कि वह साहित्य को, संस्कृति को अर्थनीति-राजनीति पर आधारित अतिविधान मानता है। आलोचक पर यह मतवाद अत्यधिक हावी है, और यह अकारण नहीं है कि 'गाँधीवाद' और 'मार्क्सवाद' को परिभाषित करते हुए उनके सांस्कृतिक पक्ष को वह बिल्कुल ही भूल गया और मात्र उनका आर्थिक-राजनीतिक रूप ही सामने ला सका।

यदि राजनीतिक धरातल ही की बात करे, तब भी 'मार्क्सवाद' और 'पूँजीवाद' में मूषक-बिडाल वैर परिलक्षित नहीं होता। मार्क्स के अपने युग मे, भले ही ये राजनीतिक मतवाद, विलोम-ध्रुवों के रूप में दिखाई पड़ते रहे हों, पर आज तो रूस तथा अमेरिका अपने बीच के अन्तर को कम करते-करते इतने निकट आ चुके हैं कि चीन को, दोनों के मध्य एक गुप्त समझौते और गठबन्धन का सन्देह होने लगा है और कौन जानता है कि स्वयं चीन ने भी अमेरिका से कोई गुप्त संधि न कर रखी हो।

कभी डा० रामविलास शर्मा स्वयं पंत जी के प्रशंसकों में से थे और उन्हें प्रगतिवादी आन्दोलन का नेता मानते थे, हालांकि पंत जी को उनकी इस मान्यता के प्रति कोई रुझान नहीं थी। पर जब उन्होंने देखा कि पंत जी ने मार्क्सवाद को सर्वांगतः ग्रहण नहीं किया है तो वे बड़े बिदके और आलोचना के स्तर से उतर कर गाली-गलौज करने लगे। पंत जी ने पूरा-पूरा, न तो मार्क्सवाद को ग्रहण किया और न अरविन्दवाद को, वे तो अपनी अन्तरात्मा के प्रकाश में जहाँ से

जो कुछ उपयोगी मिला, ग्रहण करते चले गये। मार्क्सवाद से उपयोगी तत्त्व चुनते हुए भी उसके दो सिद्धातो मे पत जी की सहमति न हो सकी

(1) वर्ग-सघर्ष तथा रक्त-क्राति की अनिवार्यता।

(2) संस्कृति को अर्थनीति-राजनीति पर बना अतिविधान मानना।

वर्ग-सघर्ष तथा रक्त-क्राति मार्क्स के अपने युग की सीमाएँ हैं और वे वस्तुत निवार्य हैं क्योकि भविष्य मे ऐसा भी समय आ सकता है जब ये अनावश्यक सिद्ध हो जाये। फ्रास तथा रूस मे, जिस सामतवाद का उन्मूलन करने के लिये रक्त-क्राति आयोजित करनी पडी, भारत मे, उसका अन्त बिना एक बूद भी रक्त गिराये हो गया। एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देश बिना किसी रक्तपात के विदेशी साम्राज्यवाद के चगुल से मुक्त हो गये।

मानवता को त्राण देने के लिये, आधी या चौथाई जनसख्या को भूमि की सतह से पोछ देना, और कुछ भी हो, मानवतावाद नही हो सकता। साध्य की श्रेष्ठता या पवित्रता, साधन को पावन नही बना देती। पर साधन की हीनता या भ्रष्टता, साध्य को भ्रष्ट अवश्य कर देती है। रूस और चीन की रक्त-क्रातियाँ उदाहरणस्वरूप उद्धृत की जा सकती है। वहाँ साम्यवाद की स्थापना के पवित्र लक्ष्य को लेकर चलनेवाली हिसा की धारा, 'अधिनायकवाद' पर ही पहुँच कर नि शेष हो गई, फिर चाहे वह अधिनायकवाद 'सर्वहारा' का ही क्यो न रहा हो। अत लक्ष्य का पवित्र होना पर्याप्त नही है, उसकी प्राप्ति के लिये अपनाये जाने वाले साधन भी उतने ही पवित्र होने चाहिएँ।

मार्क्सवाद के इस विश्वास को भी मान्यता देना कठिन है कि सस्कृति का स्वरूप, समाज की अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप निर्मित होता है और अर्थ-व्यवस्था मे परिवर्तन आने के साथ, सस्कृति स्वत परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि यह निर्विवाद है कि आर्थिक-राजनीतिक क्षेत्र की घटनाएँ, अन्तश्चेतना पर प्रभाव डालती है और उसका सस्कार करती है, पर यह भी उतना ही सदिग्ध है कि अन्तश्चेतना का सस्कार अत्यन्त मद-श्लथ गति से होता है। बाह्य जीवन से सामन्तवाद का पूर्ण तिरोभाव हो जाने पर भी, भारत की अधिकाश जनता आज भी सामती मूल्यो मे आक्रान्त है। अपराध घोषित कर दिये जाने के कारण, हमारे बाह्य लोक-जीवन मे तो अस्पृश्यता का निवारण हो गया है, किन्तु जहाँ तक अन्तर्मन का प्रश्न है, सब जानते है कि आज भी स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना के मूल हमारे मन मे बहुत गहरे है। सस्कारो का सस्कार बडा ही दुस्तर कार्य है और निरन्तर चेतन प्रयत्नो की आकाक्षा रखता है। अत पत जी यदि अन्तश्चेतना को सस्कृत करने की दृष्टि से, हृदय-परिवर्तन तथा सुधार-जागरण के आन्दोलनो की चर्चा चलाते है तो वह व्यापक युग-बोध ही को वाणी देते है, किसी प्रतिक्रियावाद या पलायनवाद का प्रतिनिधित्व नही करते।

जैसा कि पहले सकेत दिया जा चुका है, स्वय पत जी किसी समय 'सस्कृति' को, समाज की अर्थ-व्यवस्था पर खडा अतिविघान मानते थे पर आगे चलकर उन्होने इसके जटिल-सश्लिष्ट रूप को पहचाना और अपनी धारणा मे परिवर्त्तन किया। यह उनकी विचारधारा का अन्तर्विरोध नही, विकास है। यह उनकी वौद्धिक ईमानदारी है कि सिद्धात के मिथ्यात्व का वोध होते ही उन्होने उसे त्याग दिया, तथाकथित प्रगतिवादियो के समान उसे वदरिया के मृतक वच्चे की भॉति छाती से चिपकाये नही रहे ।

डा० रामविलास शर्मा ने पत जी के अध्यात्म को मध्यकालीन भक्तिवाद का ही पर्याय समझ लिया है और इसी भ्राति मे पड कर वे नवचेतना काव्य पर अनेकानेक काल्पनिक आरोप लगा वैठे हैं। पर जैसा कि कहा जा चुका है, पत जी का अध्यात्म, मानसिकता का अग्रिम चरण है। 'आत्मा' उनके लिए कोई रहस्यमयी, सूक्ष्म वस्तु नही, जो मृत्यु के समय शरीर को छोडकर पृथक् हो जाती हो। वह तो मानवी चेतना का केन्द्र-विन्दु है, जो निश्चेतन न होकर स्वचेतन है। दूसरे शब्दो मे वह अतिम विन्दु है जहाँ तक मानवी चेतना विकसित हो सकती है। भारतीय मनोविज्ञान, पाश्चात्य मनोविज्ञान की भॉति प्रकृत (नेचुरल) विज्ञान न होकर, वस्तुत चेतना के विकास का विज्ञान है। पाश्चात्य मनोविज्ञान, मानव-चेतना के केवल वर्तमान रूप का अध्ययन करता है पर भारतीय मनोविज्ञान इससे आगे वढकर, भविष्य मे हो सकने वाले इसके सभाव्य विकास, तथा उस विकास की प्राप्ति मे योग देने वाले उपायो (योग आदि) का भी अध्ययन करता है। सम्मोहन, वशीकरण, दूरानुभूनि (टेलीपेथी) आदि इस वात के प्रमाण है कि चेतना के विकास की वात कोई ढकोसला नही है। भारतीय मनोविज्ञान के इस पक्ष को न समझ सकने के कारण ही शर्मा जी ने पत जी के अध्यात्म को, जो वास्तव मे विकसित चेतना या अतिचेतना के अतिरिक्त कुछ नही है, पता नही किन-किन नामो से पुकारा है।

यदि पत जी के 'अध्यात्म' को उपरिलिखित सही अर्थ एवम् सदर्भ मे ग्रहण किया जाय तो भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय मे किसी प्रकार का विरोध नही दिखाई पडेगा। लौकिक जीवन मे प्रगति करने के साथ-साथ यदि मनुष्य की चेतना का भी सस्कार होता रहे, जो एक दृष्टि से आवश्यक भी है, तो इसमे वुराई क्या है और विरोध कौन-सा है ?

इसी प्रकार ससीम और असीम, चल और अचल, जड और चेतन आदि मे भी परस्पर कोई विरोध नही है। एक व्यापकतर दृष्टि से देखने पर वे एक-दूसरे के पूरक वन जाते है और एक अतिशय सत्य के सापेक्ष छोर-से दिखाई पडते हैं। सृष्टि के रहस्य मे एक ऐसा विन्दु भी है, जहाँ अन्तर्विरोध मिल जाते है, जहाँ ससीम अपनी सीमाओ को व्यापक वनाते-वनाते, असीम वन जाता है और असीम,

अपनी परिधि का सकोच करते-करते, ससीम वन जाता है। यदि मिलन के उस बिन्दु को भुला दिया जाय तो वस्तुएँ अपनी यथार्थता खो वैठती है। यदि हम लोहे के एक टुकडे को, एक वहुत वडे अणुवीक्षण यत्र के नीचे देखे, तो हमे उडते हुए परमाणु-अश ही दिखाई देगे, लोहा नही दिखाई देगा। दही के साथ यदि यही किया जाय तो असख्य वैक्टीरिया ही देखने को मिलेगे, दही का अस्तित्व लुप्त हो जायेगा। लोहा इसलिये लोहा है और दही इसलिये दही है कि असीम ने ससीम रूप धारण कर रखा है। इस प्रकार असीम तथा ससीम, अपने आप मे पृथक् सत्य नही है, वे उस सत्य के मात्र दो पहलू या छोर है जो इन दोनो का समाहार करते हुए भी दोनो से अतिशय (ट्रॉन्सेन्डेन्ट) है।

चल और अचल के सवध मे भी यही सत्य है। आकाश के नक्षत्र चल है या अचल? दूर से देखने पर वे अचल है, निकट से देखने पर चल है। नक्षत्रो के सवध मे, ये दोनो तथ्य समान रूप से सही है। 'दूर' तथा 'निकट' के तथ्य परस्पर भिन्न है, पर है वे तथ्य (फैक्ट्स) ही। ये दोनो तथ्य, जिस तीसरी वस्तु से सवद्ध है, जिसके स्वामित्व को स्वीकार करते है, वही सत्य (ट्रुथ) है। इस सत्य के सवध मे ईशोपनिषद् का तत्त्वदर्शी कहता है—'वह चल है, वह अचल है, वह निकट है, वह दूर है।'[1] सकीर्ण दृष्टि वाले विज्ञानवादी को भले ही इसमे विरोध दिखाई पडे, पर समग्र दृष्टि के स्वामी को, द्रष्टा को, इसमें किसी प्रकार का अन्तर्विरोध लक्षित नही होता।

यदि हम सृष्टि-विकास के सूत्र को पकड सके तो जड और चेतन का द्वन्द्व भी तिरोहित हो जाता है। जिसे हम 'जड' कहते है, उसमे चेतना का अत्यन्ताभाव नही होता, अपितु चेतना का कुछ न कुछ अश अवश्य रहता है, रूप उसका चाहे कुछ भी हो। यदि ऐसा न होता, तो जड से चेतन का विकास असभव हो जाता। जड पदार्थ मे निहित सुप्त चेतना ही जीव-कोशाणु, कीट पतग, लता-पादप, पक्षी-पशु आदि मे होती हुई मानवी चेतना का स्वरूप ग्रहण करती है और यदि योगादि के द्वारा विकसित की जाय, तो महच्चेतना या अतिचेतना तक पहुँच जाती है। इस पूरी शृखला को न देख पाने तथा इसकी प्रारभ एव अन्त की कडी को पास-पास रख कर देखने के कारण, दूसरे शब्दो मे, पूरे सत्य को न देख कर, खण्डित सत्य को देखने के कारण प्रारम्भ व अत की स्थितियो मे विरोध दिखाई पडना स्वाभाविक है। किसी व्यक्ति के शैशव के चित्र को, उसकी वृद्धावस्था के चित्र के पास रख कर देखे तो यह कहना कठिन होगा कि ये दोनो चित्र एक ही व्यक्ति के है। पर यदि वीच के सभी चित्रो को भी यथास्थान सजा दिया जाय, तो दोनो चित्रो मे हमे किसी प्रकार का विरोध नही दिखाई

1. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

पडेगा । आवश्यकता एक व्यापकतर दृष्टि अपनाने तथा सत्य को उसके समग्र रूप में देखने की है ।

पर मनुष्य का यह दुर्भाग्य है कि विकास के सत्य को वह स्थिरता से नापने की चेष्टा करता रहता है । मनुष्य की बुद्धि, जिस पर मानव को गर्व है, विकास के निरन्तर गतिशील सत्य को टुकडो मे बॉट कर देखने की आदी है और इसी का यह परिणाम है कि उसे हर कही द्वन्द्व और अन्तर्विरोध दिखाई पडते है—ऐसे, कि जिनका समाहार असभव है और वह पूरे आत्म-विश्वास के साथ द्वन्द्वो के सामजस्य को असभव मानता रहता है ।[1] पर यह उस समय सहज सभव प्रतीत होने लगेगा जब मनुष्य सत्य को उसके समग्र रूप मे देखने, जानने की तत्परता दिखायेगा । अभी तक मनुष्य की चेतना युग्म-पीडित रही है पर अब समय आ गया है कि हम अपनी चेतना का नवीन सस्कार कर उसे युग्मवाद से मुक्त करे ।

पलायनवाद का आक्षेप एवम् उसकी परीक्षा

'समन्वयवाद' के अतिरिक्त जो आक्षेप पत जी के नवचेतनावाद पर लगाये गये है, वे है 'पलायनवाद' तथा 'अश्लीलत्व' के । कहा गया है कि निम्न वर्ग और मध्यम वर्ग की समस्याओ का समाधान नवचेतनावाद के पास नही है[2] और पत जी वर्तमान की समस्याओ से कतरा कर अतीत तथा भविष्य मे—दोनो ओर पलायन करते है ।[3]

---

1 (क) इस प्रकार लौकिकता और अध्यात्म, जडता और चेतनता, अज्ञान और ज्ञान, बधन और मुक्ति के बीच मिला-जुला मार्ग कवि ने खोजा है, उसे कहाँ तक और कब तक मान्यता मिलेगी, कहा नही जा सकता । विश्वभर 'मानव', सुमित्रानन्दन पत, तृतीय सस्करण, पृ० 306 ।

(ख) अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल पत जी ने उस कृति (कला और बूढा चाँद) मे अधकार और प्रकाश को एक ही कर दिया है । पत जी ज्ञान-अज्ञान, तम-प्रकाश, जड-चेतन मे कोई अन्तर नही मानते । . . मै नही समझता, पत जी की इस बात को कभी भी मान्यता प्राप्त हो सकेगी ।

वही, पृ० 288 ।

2. वही, पृ० 278 ।

3 (क) वे अतीतवादी भी है और भविष्यवादी भी । वर्तमान का दुख जब उन्हे क्षुब्ध करता है तो या तो वे स्वर्ण अतीत मे डूब जाते है या सुखद भविष्य की कल्पना करने लगते है । इस प्रकार वे दोनो ओर पलायन करते है ।

वही, पृ० 290 ।

पलायनवाद का आक्षेप इस प्रतिबद्धता के संदर्भ मे ही सार्थकता ग्रहण करता है कि कवि या कलाकार को अपने युगीन जीवन का ही चित्रण करना चाहिये और कोल्हू के बैल की भाँति सीमित यथार्थ के वृत्त मे ही घूमना चाहिये। उन महान प्रतिभाओ के प्रसग मे, जो काल के एक सुदीर्घ खड पर दृष्टिपात कर सकने मे समर्थ हैं और जो युगीन नही, युगयुगीन साहित्य की रचना कर विश्व-साहित्य की परिदर्शनशाला मे अपनी कृतियाँ सजाती हैं, यह आक्षेप अपनी अधिकाश अर्थवत्ता खो देता है। पत जी युगीन साहित्यकार हैं या युग-युगीन, यह विवाद न उठाकर, यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि वे हिन्दी के उन गिने-चुने कृतिकारो मे से हैं जो अपेक्षाकृत अधिक दीर्घजीवी साहित्य दे रहे हैं।

माण्डूक आलोचना[1] की बात छोड दे तो शायद ही कोई आलोचक यह स्वीकार करने को तैयार होगा कि पत जी युग-बोध से विरत हैं और कि यथार्थ से मुँह चुरा कर कल्पना-लोक मे शरण लेते हैं। वस्तुत पत जी का सा व्यापक युग-बोध, कम-से-कम हिन्दी के किसी भी अन्य कवि या कृतिकार मे नही पाया जाता। 'बम्बई मे गोरी फौज के मुकाबले मे सडको पर बैरीकेड'[2] बनाने वालो की कीर्तिगाथा गाना तथा 'कानपुर, कलकत्ता और कोयम्बटूर मे महीनो'[3] तक हडताल चलाने वाले मजदूरो को अपने काव्य का नायक बनाना तो 'प्रगतिवाद' हो गया और आसन्न विश्व-युद्ध की विभीषिका मे, महानाश के विवर मे समा जाने को उद्यत मानवता के त्राण से चिन्तातुर होना तथा नवीन प्रगतिशील जीवन-मूल्यो के समन्वय द्वारा, भग्नाश मनुष्यता को नवमानवता के रूप मे नवीन सास्कृतिक सम्बल प्रदान करना 'प्रतिक्रियावाद' और 'पलायन-वाद' हो गया। तर्क की इससे बडी दुर्गति भला क्या हो सकती है! जिनकी दृष्टि सकुचित घेरे मे ही घूम सकती हैं उन्हे चूल्हे मे जली आग ही दिखाई देती है, पूरे गाँव मे जलती हुई आग नही दिखाई देती।

(पृष्ठ 24 का शेष)

(ख) कल्पना-लोक का हजार मन सोना भी इस पलायन और पराजय को ढक नही सकता।
डा० रामविलास शर्मा, सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू) पृ० 283।

1 आलोचना जो वाद-विशेष के कूप के भीतर से की जाती है।

2 डा० रामविलास शर्मा, सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू), द्वितीय स० पृ० 298।

3 वही, पृष्ठ 298।

अश्लीलत्व का आरोप व उसकी परीक्षा

पत जी के नवचेतनावादी काव्य पर लगाया गया अन्तिम आरोप है अश्लीलत्व का जिसे आरोपित करने मे विशेप उत्साह दिखाया है श्री विश्वभर 'मानव'[1] तथा डा० रामविलास शर्मा[2] ने। इनमे से डा० शर्मा की तो वात ही छोडिये, उन्हे पत जी के काव्य मे सिवा छिद्रो के कुछ दिखाई ही न पडा और उनके अनुसार तो पत जी को काव्य नाम की कोई चीज लिखनी ही नही चाहिये थी। शव्द-चयन, भापा, विचार, कला आदि सभी दृष्टियो से पत जी का काव्य उन्हे हेय जान पडा। क्या किया जा सकता है, अपनी-अपनी समझ ही तो है। हमे तो उनके निवध मे आलोचना की अपेक्षा आक्रोश अधिक दिखाई पडा है और आक्रोश मे कही या लिखी गई वात कभी सतुलित नही होती। रही वात 'मानव' की, तो उनकी भी राग-भावना कुछ उदार होती, तो उन्हे भी पत जी के काव्य मे वासना की गध न मिलती। पीछे कहा जा चुका है कि पत जी मनुप्य की राग-भावना को मध्यकालीन नैतिकता से मुक्त कर उसका नवीन परिप्कार करना चाहते है और उसे व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रतिप्ठित देखना चाहते है। फिर, हमे यह भी न भूलना चाहिये कि जघन, उरोज, नाभिगर्त, आदि शव्दो का प्रतीको के रूप मे प्रयोग हुआ है। इसी को अश्लीलता समझ कर हम नाक भौ सिकोड लेगे, तो पश्चिमी देशो मे लिखे जा रहे श्रेप्ठ साहित्य के घोर अश्लील अशो को पढ कर तो हमे आत्महत्या कर लेनी होगी।

पत जी की कृतियो के मूल मे, नैतिकता के प्रति जो आग्रह वरावर रहा है, उसे देखते हुए तथा काव्य की प्रतीक शैली का ज्ञान रखते हुए उनके 'उपमानो मे वासना की गन्ध पा लेना या तो पक्षपात का सूचक है या फिर घ्राण शक्ति का दोप'।[3]

---

1 इस कृति मे उनकी काम-भावना असाधारण रूप से उभर आई है। यो वासना के पुट से उनका कोई काव्य-ग्रन्थ अछूता नही रहा लेकिन वह किसी एक ही कृति मे इतनी पुजीभूत नही हुई थी जितनी 'कला और वूढा चाद' मे। इसका तो मूल स्वर ही जैसे वासना है—दर्शन तो एक आड मात्र है।
विश्वभर 'मानव', सुमित्रानन्दन पत, तृतीय सस्करण, पृ० 285।

2 पत जी भक्ति की रामनामी के नीचे कामशास्त्र की पोथी भी दवाये है। नारी के नख-शिख-वर्णन से उन्होने अपनी भक्ति को सरल वना लिया है।
सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू) द्वितीय सस्करण, पृ० 292।

3 विजयेन्द्र स्नातक, सुमित्रानन्दन पत (स० शचीरानी गुर्टू) द्वितीय सस्करण पृ० 310।

अध्याय 2

पूर्ववर्ती काव्य में नवचेतना के बीज

काव्य-चेतना की अविच्छिन्नता

हिन्दी-आलोचना-जगत मे अभी तक प्राय यही समझा जाता रहा है कि पत जी, अरविन्द के सम्पर्क मे आने के वाद से नवचेतनावादी हो गये हैं और कि इससे पूर्व वे क्रमश प्रगतिवादी, छायावादी या प्रकृतिवादी थे। यह धारणा, एक ओर तो नवचेतना की स्वरूप-सबधी अनभिज्ञता प्रकट करती है, दूसरी ओर कवि के प्रवहमान व्यक्तित्व की एकसूत्रता को उपेक्षित करती है। कवि के सतत विकासमान व्यक्तित्व की समग्रता को, इस प्रकार खडो मे विभक्त कर, अगल-अलग दराजो मे रखने की प्रवृत्ति, चाहे जितनी सुविधाजनक हो, वैज्ञानिक कदापि नही हो सकती। कवि की काव्य-चेतना का सूत्र पकडने के लिये उसके सम्पूर्ण कृतित्व पर विहगम दृष्टिपात की अपेक्षा रहती है और ऐसा करने पर काव्य-चेतना की समस्त विविधताओ मे अगागि-सबध स्थापित होकर चेतना-प्रवाह की एकता के, सत्य के दर्शन होने लगते हैं। पतजी के कृतित्व को इस समग्र दृष्टि से देखने का प्रयास कम से कम दो[1] आलोचको द्वारा अवश्य हुआ है।

---

1. (अ) पत जी की रचना उनके जीवन-विकास की प्रतिच्छाया है और उनका जीवन-विकास, जैसा कि प्राय सभी विकासवान व्यक्तियो का होता है, इतना क्रमवद्ध है कि यह कहना कठिन है कि इस स्थान से अमुक प्रवृत्ति समाप्त होती है, और अमुक प्रारभ होती है। वच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ सस्करण, पृ० 19–20।

(आ) छायावाद के युग मे भी वे पत थे और प्रगतिवाद के युग मे भी वे पत है। पत जी का अपना छायावाद भी था, अपना प्रगतिवाद भी है और इसका कारण यह है कि उनका अपना व्यक्तित्व है, जो किसी वाद अथवा युग के साँचे मे विठलाया नही जा सकता। पत जी की कविताओ को ठीक-ठीक समझने के लिये यह सवसे जरूरी वात है कि उन्हे किसी वाद के अन्तर्गत रख कर न देखा जाये। वही, पृ० 12।

वाद की नही, व्यक्ति की प्रधानता

पत सदा पत ही रहे है और रहेगे, इसके अतिरिक्त वे कुछ हो नही सकते। ऐसा कहकर उन पर पडने वाले वाह्य प्रभावो को नकारना इष्ट नही हैं। प्रभावो से वच पाना, शायद ही किसी कवि के लिये सभव हो, पत जी जैसे सहृदय अध्ययनशील एव मननशील व्यक्ति के लिये तो और भी असभव हैं। न केवल उन्होंने 'अनेक महान् ग्रथो तथा महापुरुषो से प्रेरणा' ली है, अपितु इसके लिये उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता भी ज्ञापित की हैं।[1] पर यहाँ कहना यह अभीष्ट हैं कि पत जी ने वाह्य प्रभावो को ज्यो का त्यो न अपना कर, अपने अन्तर के प्रकाश मे ही ग्रहण किया है।[2] चुम्वक जिस प्रकार ककड-मिट्टी आदि को छोड कर केवल लौह-तत्त्व को ही ग्रहण करता है, उसी प्रकार पत जी के व्यक्तित्व ने केवल अनुकूल प्रभावो को ही आत्मसात् किया हैं। और ये गृहीत प्रभाव भी ज्यो के त्यो उनके काव्य मे प्रतिफलित नही हो गये है, अपितु उनके व्यक्तित्व की छाप लेकर निकले हैं, जिसके फलस्वरूप वे नवीन तत्त्वो से युक्त हो गये हैं;[3] जिस प्रकार क्रकचायत (प्रिज्मेटिक) शीशे मे से निकलने वाली प्रकाश-किरण, अभिनव इन्द्रधनुषी रगो मे शोभित हो उठती हैं।

तात्पर्य यह कि पत जी के काव्य मे 'वादो' की अपेक्षा 'व्यक्तित्व' ही प्रधान हैं और जो व्यक्तित्व, द्वितीय उत्थान-काल के काव्य मे परिस्फुट हुआ हैं,

---

(इ) एकागी अध्ययन अनेक प्रस्तुत हुए हैं लेकिन समग्र रूप से उनकी (पत जी) वास्तविक देन को आलोचक नही समझ पाये है।

शिवदान सिह चौहान, आलोचना के मान, पृ० 116।

1. मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने समस्त प्रेरको, शिक्षको तथा अभिभावको के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके सम्पर्क मे आकर मैं कुछ सीख सका हूँ।

चिदम्वरा, चरण-चिन्ह, द्वितीय सस्करण, पृ० 30।

2. मैने अपने अन्तर के प्रकाश मे ही वाह्य प्रभावो को ग्रहण तथा आत्मसात् किया हैं।

वही, पृष्ठ 30।

3. मैंने वाहर के प्रभावो को सदैव अपने ही अन्तर के प्रकाश मे ग्रहण किया हैं और वे प्रभाव मेरे भीतर प्रवेश कर नवीन दृष्टिकोणो तथा उपकरणो से मडित होकर निखरे हैं।

वही, पृष्ठ 19।

वही पूर्ववर्ती काव्य[1] मे भी झलमला रहा है। दूसरे शब्दो मे, कवि के उत्तरवर्ती काव्य की प्रवृत्तियो के दर्शन उसके पूर्ववर्ती काव्य मे भी होते है, चाहे उनका रूप कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो।[2] यहाँ प्रयत्न किया जायेगा कि कवि के व्यक्तित्व-निर्माता तत्त्वो एव प्रभावो का सक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करते हुए देखा जाय कि पत जी के पूर्ववर्ती काव्य मे नवचेतना के बीज कहाँ और किस रूप मे उपलब्ध है। "गगा की कथा कहनी है तो गगोत्री से ही प्रारम करनी होगी।"[3]

जन्म-भूमि के प्राकृतिक सौंदर्य का प्रभाव

पत जी के व्यक्तित्व के निर्माण मे सर्वाधिक योग उनकी जन्मभूमि कौसानी का है जो कूर्माचल की एक विशिष्ट सौन्दर्य-स्थली मानी जाती है और जिसे गाँधी जी ने भारत का स्विट्जरलैड कहा है। उस रमण्याटवी के निसर्ग सौदर्य की झाँकी कवि इस प्रकार देता है

"आड़ू की डाले हल्की ललछौही कलियो से लद जाती है और आँखे एकटक उनके फालसई आकाश मे खो जाती है। चहारदीवारी के बाहर हरे-भरे प्रसार और नीली-रुपहली ऊँचाइयाँ है, जिनमे मेरा मन बहुत रमता है। बाई ओर, लम्बे-चौडे गहरे हरे रग के मखमली कालीन-सी फैली, कत्यूर की जादू की घाटी है। सामने गेरुवी मिट्टी की पहाडी मे कई टेढी-मेढी पगडडियाँ साँप की केचुली-सी पडी कल्पना को भटकाती है। इस (देवदारु) के पके फलो से जब पीली-पीली बुकनी झर कर हवा के आँचल को रँग देती है, तब तो मन त्योहार मनाने लगता है, एक अजब-सी खुशी नस-नस मे दौडने लगती है। किन्तु इन सबके ऊपर, बहुत ऊपर, और बहुत ऊँचा 'स्थित पृथिव्या इव मानदड' स्वय नगाधिराज देवात्मा हिमालय, अपने दूर दिगतव्यापी पख फैलाए, महत् शुभ्र राज-मराल की तरह, नि सीम मे निर्वाक् उडता हुआ-सा, दृष्टि को आश्चर्य-चकित तथा मन को आत्म-विस्मृत कर देता है।"[4]

1 1936 तक का प्रथम उत्थान का काव्य जिसके अन्तर्गत वीणा, ग्रथि, पल्लव, गुजन, ज्योत्स्ना और युगात आते है और जिसकी प्रतिनिधि कविताओ का सकलन 'पल्लविनी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

2 उनकी अतिम रचनाओ मे भी कोई ऐसी बात नही है जो बीज रूप से उनकी पहली रचना मे मौजूद न हो और उनकी पहली रचना मे जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी, उनके चिन्ह उनकी अतिम रचनाओ मे भी—चाहे कितने ही सूक्ष्म रूप मे क्यो न हो—पाये जा सकते है।

बच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृ० 20।

3 बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय सस्करण, पृ० 120।

4 साठ वर्ष . एक रेखाकन, पृष्ठ 11।

आगे चलकर "आत्मिका" नामक रचना में, अपनी रम्यरूपा जन्मभूमि की सौन्दर्यानुभूति को कवि ने इस प्रकार समेटा

हिमगिरि प्रांतर था दिग् हर्षित, प्रकृति क्रोड ऋतु शोभा कल्पित,
गंध गुँथी रेशमी वायु थी, मुक्त नील गिरि पंखो पर स्थित ।
आरोही हिमगिरि चरणों पर रहा ग्राम वह मरकत मणि कण,
श्रद्धानत, आरोहण के प्रति मुग्ध प्रकृति का आत्म-समर्पण ।

जन्म के कुछ ही घंटों बाद, जो बालक मातृ-स्नेह से वंचित हो गया था, प्रकृति-माता की इस हरी-भरी गोद में पहुँच कर, विभोर रहने लगा। इसी के परिणामस्वरूप बालक के मन में प्रकृति के प्रति अगाध मोह घर करने लगा। "मेरे प्रबुद्ध होने से पहले ही, प्राकृतिक सौंदर्य की मौन, रहस्यभरी अनेकानेक मोहक तहें, अनजाने ही, एक के ऊपर एक, अपने अनन्त वैचित्र्य में, मेरे मन के भीतर जैसे जमा होती गईं।[1] प्रकृति-नटी की इस रम्य क्रीडास्थली ने जहाँ कवि को प्रवृत्तिमय राग-भावना से अनुप्राणित किया, वहाँ उसे एकान्त-प्रिय तथा आत्म-केन्द्रित भी बना दिया।[2] और यह उस सीमा तक हुआ कि उसका आत्म-प्रेम, 'नारसीसिज्म' तथा एकान्त-प्रेम, लोकभीरुता की कोटि तक पहुँच गया।[3] कवि के इस कथन में, अवश्य कुछ अतिशयोक्ति जान पड़ती है कि "हिमालय की सन्निधि ने मेरे प्राणों में एक अजेय आत्म-विश्वास, अदम्य आशा तथा महान् उत्साह भर दिया था जो आगे चल कर भी मेरे जीवन का सम्बल रहा।"[4]

---

1 पंत, साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृष्ठ 12।

2 चाहे मैं उत्तर में रहूँ या दक्षिण में, चाहे गाँवों में रहूँ या शहरों में, रहता मैं अपने ही भीतर हूँ। सच यह है कि मैं सदैव अपने ही मन में, अपने ही कल्पना-लोक के भीतर रहा हूँ और मेरे कल्पना-जगत में सदैव इतना जीवन-स्पन्दन रहा है कि मुझे रिक्तता का अनुभव कभी नहीं निगल सका है।

वही, पृष्ठ 67–68।

3. स्कूल में भी मेरी मित्रता अपने से ही थी। मैं अपने सुन्दर वस्त्रों तथा अंगों को प्यार करता था। कोई उन्हें न छुए, इसका मुझे ध्यान रहता था। . मेरे स्वभाव के विनम्र, हँसमुख मौन से मन ही मन कुढ़कर लड़कों ने मेरा नाम 'शुगरकेन' रख दिया था।. राह में जहाँ तहाँ सफेद खड़िया से 'शुगरकेन' लिखा रहता था जिससे मुझे अकेले जाने में बड़ी झिझक मालूम देती थी।

वही, पृष्ठ 22।

4. वही, पृष्ठ 21–22।

घर के सात्त्विक-धार्मिक वातावरण का प्रभाव

कवि पर दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव, घर के सात्विक-धार्मिक वातावरण का तथा प्राय नित्य-प्रति आनेवाले साधु-सतो का पडा जिनके लिये, कवि के पिताश्री प० गगादत्त पत, जिनका 'उन्नत शरीर शख के मदिर के समान गौर तथा पवित्र था,' के गृह-द्वार सदा खुले रहते थे।[1] मातृविहीन वालक का अभिभावन भी एक गोस्वामी द्वारा हुआ और इसीलिये वह स्वय भी अल्मोडा जाने से पूर्व तक 'गुसाई' नाम से पुकारा जाता रहा। उसके गले मे एक रुद्राक्ष भी वँधा रहता था। अल्मोडा में भी साधु-सतो के विरागमय जीवन के प्रति वालक के हृदय मे वरावर आकर्पण वना रहा और एक वार तो वह "एक लम्बे, गोरे, घुँघराले केशो वाले साधु के सुन्दर रूप, मधुर स्वभाव तथा विद्वत्तापूर्ण भाषणो से आकर्पित होकर, स्कूल की पढाई छोडकर, उसके साथ जाने को तैयार हो गया था।"[2] इस प्रकार कवि-मन, विरति-वैराग्य के सस्कारो में भी पूरा-पूरा डूवा।

परिणाम : राग-विराग का द्वन्द्व

प्रकृति-छटा की मोहकता ने कवि-जीवन को जगत से वॉधने की चेप्टा की, तो साधु-सतो की सगति ने उसके सस्कारी मन के निर्वेद को और गहरा कर दिया। फलत प्रवृत्ति-निवृत्ति अथवा राग-विराग की द्वन्द्वात्मकता (डायलेक्टिक्स) मे विभक्त कवि का व्यक्तित्व, निरन्तर दोनो मे सतुलन स्थापित करने को सचेष्ट रहा।[3] आगे चल कर 'स्वर्ण किरण' की 'द्वा सुपर्णा' कविता में यह चेष्टा स्पष्टत लक्षित हुई

---

1 पिताजी के पास अनेक उच्च कोटि के साधु-सत आते रहते थे, जिनके लिये अज्ञात रूप से मेरे मन में कहीं गभीर स्थान रहा है।

वही, पृष्ठ 12।

2 पत, साठ वर्प एक रेखाकन, पृप्ठ 18।

3 (अ) उनके हृदय में राग और विराग के दो पक्षी सदा से वैठे रहे हैं। इन्हीं दोनो के गुणो मे सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न, उनके जीवन और उनके काव्य का इतिहास है। इसी राग-विराग की प्रतिक्रिया उनका जीवन है, और जो उनका जीवन है, वही उनकी कविता है।

वच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृप्ठ 34-35।

कही नही क्या पक्षी ? जो चखता जीवन-फल,
विश्व-वृक्ष पर नीड, देखता भी हैं निश्चल !
परम ब्रह्म औ द्रष्टा भोक्ता जिसमे सँग-सँग,
पखो मे वहिरतर के सव रजत स्वर्ण-रँग !
ऐसा पक्षी, जिसमे हो सम्पूर्ण सतुलन,
मानव वन सकता हैं, निर्मित कर तरु-जीवन ।

राग और विराग का यह द्वन्द्व ही पत जी के व्यक्तित्व मे, कवि और सत का द्वन्द्व है । व्यक्तित्व के ये दोनो पक्ष, अवसर-अवसर पर, न केवल एक दूसरे का मार्गदर्शन करते है, अपितु कभी-कभी, एक दूसरे पर हावी भी हो जाते हैं । पर अविकत राग पर विराग का, तथा कवि पर सत ही का नियत्रण रहता हैं जिसके तीन परिणाम[1] सहज ही देखे जा सकते है

(1) पत जी के 'सुन्दर' को आवश्यक रूप से 'शिव' भी होना पडता हैं ।
(2) वे 'सौदर्य' के प्रति पूर्णतया समर्पित नही हो पाते ।
(3) वे जीवनानुभवो की गहराई मे नही पैठ पाते ।

तत्कालीन प्रसिद्ध कवियों का प्रभाव

उस प्रारम्भिक काल के वाल-कवि की काव्य-चेतना को, शब्द तथा छद योजना की दृष्टि से, मैथिलीशरण गुप्त, श्री अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'

(आ) पत जी का जीवन राग और विराग का सघर्प है। पत जी की कविता मे यही राग और विराग चिर स्नेहालिगन देकर वँधे हुए हैं ।.. मुझे इसी राग-विराग की लय, इसी के सयोग, इसी के सघर्प और इसी के सतुलन मे पत जी के जीवन और काव्य की कुजी मिली है ।

वही, पृ० 28 ।

1. राग ने जहाँ उन्हे रूप-रग-रस के ससार की ओर खीच कर कवि वनाया हैं, वही विराग ने इससे दूर खीच कर सत भी वनाया हैं । उनके सत ने सौदर्य को तव तक स्वीकार नही किया, जव तक वह पावन भी न हो। प्रेयसी के लिये उनका प्रेम 'पावन गगा-स्नान' हैं । सुन्दरता पर वे पूरी तरह निछावर नही हो सके, वलिहार नही गये, लहालोट नही हुए । ..राग और विराग के इसी सघर्प ने जीवन के अनुभवो से भी उन्हे दूर-दूर रखा है वे अनुभवो की गहराई मे नही पैठ सके, उससे भीग नही सके ।
वच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृ० 28 से 30 ।

तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू के काव्य ने प्रभावित किया।[1]साथ ही रवीन्द्र की कल्पना, सौन्दर्य-बोध तथा उनकी रचनाओ मे निहित असीम के स्पर्श ने कवि-मन को प्रभूत रूप से अभिभूत किया। "इन कवियो से कल्पना तथा सौदर्य के पख लेकर मेरा मन भीतर ही भीतर किसी नवीन अनुभूति के भावना-लोक मे उड जाने के अविराम प्रयत्न मे जैसे व्यग्र रहता था।"[2]

उसी किशोर वय मे अन्तर्मन मे आत्म-परिष्कार एव सामाजिक उन्नयन के भाव भी उदय हो चुके थे,[3] जो कदाचित् कवि के जन्मजात सस्कारो पर वाह्य प्रभावो की सामूहिक प्रतिक्रिया के परिणाम मात्र थे।

प्रथम कृति 'वीणा' में नवचेतना के बीज

इन्ही सस्कारो एव प्रभावो की सम्पदा लेकर, किशोर-कवि पत ने अपनी प्रथम काव्य-कृति 'वीणा' (1918–19) का प्रणयन किया जिसमे प्रकृति माँ की पुत्री 'कृष्णा' अपनी सहज जिज्ञासाओ का समाधान माँ से चाहती है। प्रकृति के रम्य वैभवपूर्ण दृश्यो के सम्मुख बालिका विभोर, विस्मय-विमुग्ध,[4] पूजार्ह एव पूर्णतया समर्पित है। इस कृति मे अस्फुट रूप मे ही सही, नवचेतना के तीन बीज स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं

(1) **प्रकृति के प्रति अगाध मोह**

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको! पृ० 6

(2) **आत्म-परिष्कार की इच्छा**

अविरल स्नेह-अश्रु-जल से माँ!
मुझको मति मल धोने दो

---

1 पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृ० 19।

2 वही, पृष्ठ 27।

3. काव्य-चेतना के सस्कार के साथ ही मेरे भीतर आत्म-परिष्कार तथा सामाजिक अभ्युदय की प्रवृत्तियाँ अल्मोडे मे किशोरावस्था से ही जाग्रत हो चुकी थी। काव्य-सृजन के साथ आत्मोन्नयन तथा सामाजिक उत्थान की समस्याओ पर मेरा मन समानातर रूप से अपने मानसिक-बौद्धिक विकास के अनुरूप बराबर सोच-विचार करता रहा है।

वही, पृ० 35।

4 यहाँ कवि ने प्रकृति को विस्मयकारी आँखो से देखा है। वह उसके सौदर्य पर मुग्ध है, उसकी पावनता से अभिभूत।

बच्चन, प्रल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृ० 21।

दग्ध हृदय की विरह-व्यथा को
हरने दो, माँ, हरने दो ।   पृ० 17

× × ×

तव तू देखेगी, मेरा मन–
कितना निर्मल निश्छल है ।
जब दृग-जल बन बह जायेगा
काला जो यह बादल है ।   पृ० 10

(3) **प्रेम तथा सेवा के माध्यम से लोकोदय की भावना**

विश्व-प्रेम का रुचिकर राग
पर-सेवा करने की आग
इसको सध्या की लाली-सी
माँ, न मद पड जाने दे ।   पृ० 23

× × ×

तेरी आभा को पाकर माँ,
जग का तिमिर त्रास हर दूँ ।   पृ० 4

× × ×

मुझे व्यजन-सा हिल कर अविरल
शीतलता सरसाने दो
अपने मुख से जग चिन्ता के
श्रमकण सदय सुखाने दो ।   पृ० 35

राग तथा विराग तत्त्व के सघर्ष एव सतुलन की दृष्टि से देखें तो प्रथम एव तृतीय प्रवृत्ति, कवि-व्यक्तित्व के राग-पक्ष की सूचक हैं तथा द्वितीय प्रवृत्ति अर्थात् 'आत्म-परिष्कार की इच्छा' विराग-पक्ष की द्योतक है। ये तीन प्रवृत्तिया, वे बीज हैं जिनसे पत जी के नवचेतना-काव्य की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियो को अकुरित होते देखा जा सकता है। मोटे रूप मे कहे, तो 'प्रकृति के प्रति अगाव मोह,' क्रमश समस्त जग-जीवन को सुन्दर देखने की आकाक्षा के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। 'आत्म-परिष्कार की इच्छा', अन्तर्वर्त्ती विकास का एक नया आयाम पाकर, अरविन्द-दर्शन के अन्तर्गत, चेतना के ऊर्ध्वारोहण मे फलवती हुई। लोकोन्नति के लिये प्रेम एव सेवा का माध्यम-रूप मे प्रयोग, गाँधीवाद के सास्कृतिक चरण के निकट पहुँच गया तो स्वय 'लोकोदय' की भावना मार्क्सवाद, समाजवाद, मानवतावाद एवम् सामाजिक आदर्शवाद की सीमा का स्पर्श करने लगी।

'ग्रन्थि' काव्य और नवचेतना

पत जी के प्रथम उत्थान-काल (1918—36 ई०) की द्वितीय काव्य-

कृति 'ग्रथि' (1920) एक काल्पनिक (?) प्रणय-काव्य है जिसका नवचेतना के विकास की दृष्टि से इतना ही महत्त्व है कि इसमे कवि-व्यक्तित्व के राग-पक्ष की अभिव्यक्ति उसकी सपूर्ण तीव्रता मे हुई है।

'पल्लव' में नवचेतना के बीज

1926 ई० के प्रारभ मे, कवि की तृतीय काव्य-कृति 'पल्लव' प्रकाशित हुई जो तत्कालीन काव्य के इतिहास मे युगान्तरकारी घटना मानी गई। इस कृति मे कवि की 1918 से 1925 ई० तक की कविताएँ सकलित थी। इस सकलन की, 1918–19 मे रचित कविताओ के मूल स्वर वही थे जो 'वीणा' की कविताओ के थे—वही प्रकृति के प्रति उत्कट व्यामोह, वही आत्म-परिष्कार की भावना, यथा

छोड़ द्रुमो की मृदु छाया
तोड प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल-जाल मे
कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को ! (1918) पृ० 89

× × ×

बना मधुर मेरा जीवन
वशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन
जैसा जैसा मुझको छेडे
बोलूँ अधिक मधुर मोहन ! (1919) पृ० 145

ये कविताएँ प्रवृत्ति-साम्य के आधार पर 'वीणा' मे ही सकलित की जा सकती थी, यदि 1919 ई० के बाद कवि ने इसी भाव-धारा की और भी कविताएँ न लिखी होती। पर कवि तो 1922 और 1923 ई० मे भी यही गा रहा था

पर मैं ही चातकिनी बनकर
तुझे पुकारूँ बारम्बार
हरने जग का ताप अपार ! (1922) पृ० 138

× × ×

अरी सलिल की लोल हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चचल दृग-कोर !
यह जग को अविदित उल्लास !
आ मेरे मृदु अग झकोर,

नयनो को निज छवि मे बोर,
मेरे उर मे भर यह रोर ! (1923 ई०) पृ० 76

'पल्लव' की कुछ कविताएँ यह सकेत देती हैं कि कवि की राग-भावना अब प्रकृति-जगत् तक सीमित नही रह गई हैं अपितु कुछ व्यापक-उदार होकर नारी-जगत् को भी अन्तर्भुक्त करने लगी हैं। नारी के प्रति भी मोह की उतनी ही तीव्रता हैं, जितनी प्रकृति के प्रति, पर 'पावनता' का भाव वहाँ वरावर वना हुआ हैं।[1] पत जी की कल्पना मे नारी का जो गुणात्मक सौंदर्य वसा है, वही आगे चल कर 'राग वृत्ति के परिष्कार' की उनकी धारणा का मूलाधार वनता हैं। देखिये, राग-विराग का सतुलन, जैसे पत जी के व्यक्तित्व को ही व्यक्त कर रहा हैं :

तुम्हारे रोम रोम से नारि
मुझे हैं स्नेह अपार !

× × ×

तुम्हारे गुण, हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्वलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति, पूजन, सम्मान !

पत जी की इस काल की रचनाओ मे, प्रकृति-सत्ता की पृष्ठभूमि मे निहित असीम के सूक्ष्म स्पर्श की जो झाँकी मिलने लगी हैं, वही आगे चल कर पूर्ण आध्यात्मिक दृष्टि मे विकसित हुई हैं। इस प्रवृत्ति के लिये आगे चल कर हिन्दी-साहित्य मे 'छायावाद' शब्द का आविष्कार हुआ,[2] पर पत जी के साथ 'छायावाद', मात्र काव्य-शैली नही हैं, इसमे गहनतम अनुभूति का तत्त्व

---

1. पंत जी शायद ही कभी सुन्दरता के ऐसे रूप की कल्पना करते हो जिसके चारो ओर सात्विकता और पावनता की आभा-रेखा न खिची हो। 'पल्लव' को पढ़ना, इसी सुन्दरता और पवित्रता के स्वस्थ वातावरण मे साँस लेना है।

वच्चन, कवियो मे सौम्य सत, पृष्ठ 71।

2. 'छायावाद' नाम हमारी पीढ़ी की कविता पर, संभवत. पीछे आरोपित किया गया। जिन दिनो की मैं चर्चा कर रहा हूँ, मैं इस शब्द से परिचित नही था। 'पल्लव' की भूमिका मे भी, जो सन् 26 के प्रारभ मे लिखी गई थी, 'छायावाद' शब्द नही आया है।

पत, साठ वर्ष : एक रेखाकन, पृष्ठ 33।

(कटैन्ट) भी है जो टैगोर, परमहस देव, विवेकानद, रामतीर्थ आदि वेदान्तियो के प्रभावो[1] के साथ-साथ स्वय कवि के अपने जन्मजात सस्कारो का परिणाम है

न जाने कौन अये द्युतिमान !
जान मुझ को अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान ।
फूंक देते छिद्रो मे गान
  अहे सुख-दुख के सहचर मौन
  नही कह सकती तुम हो कौन ! पृ० 92

अंग्रेजी-कवियों का प्रभाव

1919 की जुलाई मे प्रयाग चले जाने के बाद, कवि पर अनेक पूर्वी-पश्चिमी कवियो के व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप, पल्लवकालीन काव्य के अभिव्यजना-पक्ष का सस्कार हुआ। इन कवियो मे प्रमुख थे कालिदास, कीट्स, शेले, वर्ड्सवर्थ, कालरिज और टेनीसन ।[2]

---

1. पल्लव-काल मे मैं परमहस देव के वचनामृत तथा स्वामी विवेकानद और रामतीर्थ के विचारो के सपर्क मे आ गया था।

   पत, चिदम्बरा, चरण-चिह्न, द्वितीय स०, पृष्ठ 14।

2. कालिदास की उपमाओ मे तो एक विशिष्टता तथा पूर्णता मिली ही, उसकी सौदर्य-दृष्टि ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। कालिदास के सौदर्य-बोध की चिर नवीनता को मैं अपनी कल्पना का अग बनाने के लिये लालायित हो उठा। *** उन्नीसवी शती के कवियो मे कीट्स, शेले, वर्ड्सवर्थ तथा टेनीसन ने मुझे गभीर रूप से आकृष्ट किया। कीट्स के शिल्प-वैचित्र्य, शेले की सशक्त कल्पना, वर्ड्सवर्थ के प्राजल प्रकृति-प्रेम, कालरिज की अपसाधारणता तथा टेनीसन के ध्वनि-बोध ने मेरे कविता-सबधी रूप-विधान के ज्ञान को अधिक पुष्ट, व्यापक तथा सूक्ष्म बनाया। काव्य-सगीत मे व्यजनो की सहायता से सूक्ष्मता तथा मार्मिकता आती है, इसका ज्ञान मुझे अग्रेजी कवियो के रूप-शिल्प के बोध से ही प्राप्त हुआ। *** मेरी सन् 26 तक की रचनाओ मे जिनमे 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'अनग', 'मौन निमत्रण,' 'वीचि-विलास', तथा 'परिवर्तन' आदि मुख्य हैं—उपर्युक्त कवियो का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

   पत, साठ वर्ष : एक रेखांकन, पृष्ठ 32-33।

गंभीर व्यापक स्वाध्याय और अन्तर्मन्थन का युग

1921 मे गाँधी जी के आह्वान पर कालेज छोड देने के बाद, कवि गहन स्वाध्याय मे डूब गया था और निरंतर पाँच वर्ष तक उपनिषद्, गीता, रामायण, रामकृष्ण-वचनामृत, विवेकानद, रामतीर्थ, पातजलि, योग-वासिष्ठ, रस्किन, टाल्स्टाय, कार्लाइल, थोरो, इमर्सन आदि के अध्ययन से उसकी विचारधारा व्यापक तो हुई, पर नीरस ही रह गई थी।[1] इस रस-हीनता को दूर किया बाइबिल की मधुरिम, प्रेमपूर्ण सूक्तियो ने।[2] 1926 मे 'पल्लव' के प्रकाशित होने के बाद भी 1931 तक कवि के अन्तर्मन मे विचारो का मन्थन चलता रहा, मन्थन इसलिये कि पत जी जैसे विचारक के लिये बाह्य प्रभावो को यथावत् रूप मे ग्रहण करना सभव न था। बाहर से प्राप्त विचारो की, पत जी के निसर्ग सस्कारो से जब तक सगति नही बैठ जाती, उन्हे ग्रहण करना उनके स्वभाव के विपरीत है।[3]

इस प्रकार सन् 21 से 31 तक कवि के आत्म-शिक्षण का युग रहा। जितना व्यापक उन्होने अध्ययन किया उससे कही अधिक वे चिन्तन एव मनन करते रहे, मानसिक-वैचारिक उपलब्धियो का भीतर ही भीतर मुरब्बा बनाते रहे। यह मानस-मथन, उन्हे आत्म-विस्मृति की दशा तक तल्लीन बनाये रहता था।[4] अध्ययन-मनन की इस दीर्घ प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही कवि को अपनी निज

---

1. पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृष्ठ 39।
2 मुझे स्मरण है जब दर्शन-ग्रथो, टाल्सटाय की पाप-पुण्य की धारणाओ तथा शकर-भाष्य, भर्तृहरि आदि के जीवन-निषेध भरे निर्मम प्रभावो से मेरा हृदय, हिम शिलाखड की तरह जम कर कठोर, विषण्ण तथा रस-शून्य हो गया था और मुझे उन्निद्र रोग रहने लगा था, तब बाइबिल के सहज प्रेमसिक्त, जीवन-मधुर अन्तर्दृष्टि-भरी सूक्तियो से मुझे बडी सात्वना तथा शाति मिली थी।

वही, पृष्ठ 39।

3 बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृष्ठ 53।
4 "पल्लव" के प्रकाशन के बाद मेरे मन के पृष्ठ पर पृष्ठ आँखो के सामने खुलने लगे और मुझे चैतन्य के भीतरी स्तरो का थोडा-बहुत आभास मिलने लगा। यहाँ सक्षेप मे इतना ही कहूँगा कि मै तब बडी ही जल्दी आत्म-विस्मृत हो उठता था और यदि शृगार-मेज का शीशा पोछ रहा होऊँ तो अपने को भूल कर बडी देर तक उसी को पोछता रहता था।

पंत, साठ वर्ष : एक रेखाकन, पृ० 43।

की एक दृष्टि[1] प्राप्त हुई जिसके प्रकाश में वह विश्व की घटनाओ एव विचारधाराओ के मूल्याकन मे अपने को समर्थ पाने लगा। इतने घुल-घुल कर दृष्टि-सम्पन्न वनने वाले कवि, हिन्दी मे अकेले पत जी है।

'गुजन' मे नवचेतना के बीज

इसी सम्पन्नता के धरातल से 'गुजन' (1932) की कविताओ का सृजन हुआ। 'वीणा' एव 'पल्लव' की आत्म-परिष्कार वाली वृत्ति यहाँ तक आते-आते, व्यापक, विशेषत वाइविल की प्रेम-सेवा-भावना से प्रेरित होकर और भी स्पष्ट हो उठी है

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना मे तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला मे गल
वन अकलुप, उज्ज्वल औ' कोमल ![2] पृ० 11

'वीणा'-काल की प्रकृति के प्रति अगाध मोह की भावना, जो 'पल्लव' मे कुछ व्यापक होकर नारी-सौन्दर्य को भी अन्तर्भुक्त करने लगी थी 'गुजन' मे आकर इतनी व्यापक हो गई है कि समस्त जग-जीवन मे कवि को सौन्दर्य के दर्शन होने लगे है।[3] इस सौदर्य-चेतना को बाइविल के उदात्त प्रेम-तत्त्व तथा मार्क्सवाद की सामाजिक दृष्टि ने गहनता एव व्यापकता प्रदान की।[4] इस

---

1 अव मुझे अपनी ही दृष्टि मिल गई थी जिसके प्रकाश मे मै अपने को, अन्य विचारको को तथा चतुर्दिक् के सामाजिक जीवन को समझने का अश्रात प्रयत्न करने लगा।

पत, साठ वर्ष . एक रेखाकन, पृ० 40।

2 अकलुप, उज्ज्वल और कोमल—ये तीन गुण तव मेरे मन मे वाइविल की पवित्रता, उपनिषदो के प्रकाश तथा कविता-सवधी कला-प्रेम के प्रतीक रहे हैं।

वही, पृ० 46।

3. सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे,
सुन्दर सुन्दर जग जीवन ! एकादश स०, पृ० 29।

4 मेरा मन उन दिनो ईसा की उदात्त प्रेम-चेतना मे निमग्न रहता था, जिसे मैंने ईश्वर-प्रेम तथा विश्व-प्रेम के रूप मे ग्रहण किया था। मेरा विश्व-प्रेम का

(शेष अगले पृष्ठ पर)

समन्वित दृष्टि से देखने पर कवि को मानव-जीवन अपूर्ण जान पड़ा[1] और वह आत्म-दान के मूल्य पर भी, अभावहीन जीवन की पूर्णतम मूर्त्ति गढ़ने का स्वप्न देखने लगा।[2] कवि, अन्त जीवन तथा बाह्य जीवन—दोनो को सपन्न देखना चाहता था और दोनो प्रकार की सपन्नता तक पहुँचाने वाले मार्ग भी उसे दिखाई पडने लगे थे।[3] पर 'गुजन' मे समतल अर्थात् बाह्य भौतिक जीवन की अपेक्षा ऊर्ध्व अर्थात् सास्कृतिक-आध्यात्मिक जीवन के उन्नयन पर ही कवि की दृष्टि अधिक रही है.

मैं प्रेमी उच्चादर्शो का
सस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शो का
जीवन के हर्ष-विमर्षो का पृ० 26

× × ×

छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण-तरु में चेतन
मृन्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणो का आलिगन!
बरसो सुख बन सुषमा बन
बरसो जग-जीवन के घन
दिशि दिशि मे औ' पल पल मे
बरसो ससृति के सावन! पृ० 79

(पिछले पृष्ठ का शेष)

क्षितिज जोशी (पी०सी०) के ऐतिहासिक ज्ञान तथा सामाजिक भविष्य की सभावनाओ मे तब विस्तृत तथा वस्तुमूलक बनने की चेष्टा कर रहा था।
पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृ० 44।

1. लगता अपूर्ण मानव-जीवन
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन! एकादश स०, पृ० 26।

2 अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्त्ति पूर्णतम
स्थापित कर जग मे अपनापन
ढल रे ढल आतुर मन। वही, पृ० 11।

3 इस प्रकार 25 से 30 वर्ष तक के इस अध्ययन-मनन के युग मे, जहाँ एक ओर मेरे मन मे भीतर की ओर जाने अथवा प्रवेश करने के लिये एक सोपान अथवा सेतु बन गया था, वहा बाहर की ओर भटकने अथवा विचरने को एक पथ या पगडडी भी बन गई थी।
पत, साठ वर्ष · एक रेखाकन, पृष्ठ 44–45।

मृत रज-कणो को चित् तृण-तरुओ रे: विकसित देखने की भावना, आगे चल कर, अरविन्द के विकासवादी सिद्धात के आरोहण क्रम के प्रथम चरण के रूप मे अभिव्यक्त हुई है तथा परमसत्ता का सुख-सुषमा बन कर बरसना, उसके दिव्यावतरण के रूप मे।

· 'गुजन' मे आकर पहली बार कवि को यह अनुभूति हुई है कि सुख-दु ख, सयोग-वियोग, हर्ष-विपाद आदि युग्मो मे किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नही है और ये द्वन्द्व वस्तुत जीवन एव जीवनानुभवो की विशदता के सूचक मात्र है, वैसे ही जैसे नदी के विलोम तट, धारा की चौडाई के। इसलिये कवि ने इस कृति मे जहाँ-तहाँ इन द्वन्द्वो मे सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा दिखाई है।[1]

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण पृ० 3

× × ×

है बँधे विछोह-मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिगन! पृ० 18

× × ×

चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार! पृ० 104

'पल्लव' की सर्वाधिक सशक्त कविता 'परिवर्तन' मे ससार की असारता देख कर कवि-मानस मे जो विराग उमडा था, उस पर जो विपाद छा गया था, वह जीवन-सत्य के एक ही पक्ष—मृत्यु-पक्ष—को देखने के कारण था। 'गुजन' की सर्वश्रेष्ठ कविता 'नौका-विहार' मे आकर वह जीवन-सत्य को, 'जन्म-मृत्यु-जन्म', के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप मे, समग्र रूप मे देख पाने मे सफल हुआ और जीवन के प्रति पुन आस्थावान हो कर, प्राचीन मनीषी द्रष्टाओ के स्वर मे गा उठा

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति, शाश्वत सगम!

× × ×

1. 'गुजन' मे 'सम दु खे सुखे कृत्वा' के द्योतक मेरी आत्म-साधना के अनेक छोटे छोटे प्रगीत है, जिनमे मैने मानसिक द्वन्द्वो मे सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

पत, साठ वर्ष : एक रेखाकन, पृ० 46–47।

मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान ।

'ज्योत्स्ना' में नवचेतना की स्पष्ट रूपरेखा

प्रयाग मे एक पूरे दशक (1921–31 ई०) के गहन अध्ययन, चिंतन, मनन एव आत्म-मथन से प्राप्त नवनीत को, पत जी ने अपनी नवीन कृति 'ज्योत्स्ना' नाटक मे उपस्थित किया ।[1] जिन विचारधाराओ एव जीवन-दर्शनो से अभी तक उनका सम्पर्क हुआ था, वे उन्हे अपर्याप्त एव अपूर्ण लगे थे ।[2] अत वे एक समग्र जीवन-दर्शन के निर्माण की चिन्ता मे व्यग्र रहे तथा गहन आत्मालोडन के पश्चात् मानस-जल जब शुचि-सुस्थिर हो गया, 'ज्योत्स्ना' के रूप मे विश्व-जीवन के अपने स्वप्न[3] को उन्होने रूपायित कर दिया । 'ज्योत्स्ना' पत जी के नवचेतना-काव्य का सिंहद्वार हैं जिससे होकर ही हम उसके भौतिक-आध्यात्मिक (अतश्चेतनात्मक) सचरण-कक्षो तक पहुँच सकते हैं ।[4]

---

1. पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृष्ठ 47 ।
2 मुझे सब प्रकार की विचारधाराएँ तथा जीवन-दर्शन, जिनके सम्पर्क मे मैं आ सका, अपर्याप्त तथा अपूर्ण प्रतीत हुए और हृदय, भीतर ही भीतर, एक अधिक सर्वागीण दर्शन अथवा चैतन्य की उपलब्धि की आशा से आनदित, जागरूक तथा अन्त सक्रिय रहने लगा ।

वही, पृ० 41 ।

3. 'ज्योत्स्ना' मे मैंने अपने विश्व-जीवन के स्वप्न को अवतरित करने की चेष्टा की हैं । उस समय मेरे मन मे जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा लोक-जीवन सबधी धारणाएँ थी, तथा जो मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदर्श मुझे आकृष्ट करते थे, उन्हे मैंने इस नाट्य-रूपक के स्वरूप मे उपस्थित करने का प्रयत्न किया हैं ।

पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृष्ठ 47 ।

4 मेरे काव्य-दर्शन की कुजी निश्चय ही 'ज्योत्स्ना' मे हैं । उसी के भौतिक सचरण का विकास मेरे मन मे मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन-सबधी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ-सगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका । 'ज्योत्स्ना' का चेतनात्मक सचरण मेरी उत्तर रचनाओ मे पूर्व-पश्चिम के दर्शनो तथा विचारधाराओ के अध्ययन, मनन तथा गाँधीजी और श्री अरविन्द के महत् सम्पर्क मे आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ हैं ।

पत, चिदम्बरा, चरण-चिह्न, द्वितीय स०, पृ० 31 ।

पर इसका यह आशय नही कि कवि की ज्योत्स्ना-पूर्व कृतियो का महत्त्व भुला दिया जाय । आशय इतना ही है कि इस कृति मे आकर कवि का नवमानवता का स्वप्न, पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गया है और उस पर छाई हुई धुध वहुत कुछ दूर हो गई है । वस्तुत. नवचेतना के वीज इस कृति मे प्रचुर परिमाण मे विखरे हुए है और ये वीज, आगे चल कर स्वतत्र कृतियो के रूप मे अकुरित-पल्लवित हुए है ।[1]

वर्तमान से असतोष पशु प्रवृत्तियों का प्रावल्य

भावी के अपने नवमानवतावादी स्वप्न को अकित करने से पूर्व नाटककार पत ने, न केवल वर्त्तमान की विपम अमानवीय स्थितियो का दिग्दर्शन कराया है, अपितु उन स्थितियो तक पहुँचाने वाले कारणो का भी विश्लेषण किया है । पृथ्वी से मानवीय भावनाओ के क्रमिक तिरोभाव तथा पाशविक वृत्तियो के आविर्भाव ने समस्त जग-जीवन को विपाक्त वना दिया है ।[2] डार्विन के विकास-वादी सिद्धात ने मनुष्य के पशु-वल को प्रोत्साहित कर, मानवी जगत् मे 'जिसकी लाठी, उसकी भैस' वाले वन्य-नियम की अवतारणा कर दी है । झीगुर का 'गीत' डार्विन के विकास-सिद्धात का निचोड है ।[3]

1 'ज्योत्स्ना' सचमुच ही पत जी की प्रौढ रचना है जो उसके वाद के उनके सारे साहित्य को प्रभावित करती है । 'युगान्त,' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे केवल 'ज्योत्स्ना' की ही कल्पना का विस्तार है, कभी भावना के स्तर पर, कभी वुद्धि के स्तर पर । यही कल्पना उस अरविन्द-दर्शन के लिये उर्वर भूमि सिद्ध हुई जो आगे चल कर 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' और 'उत्तरा' मे शस्य-प्ररोहित हुआ ।

वच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृ० 122–23 ।

2. (क) मर्त्यलोक से मानवीय भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है । प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग और समत्व जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन है, एकदम दुर्लभ हो गये है । पशु-वल, घृणा, द्वेप और अहकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये है ।

ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृष्ठ 25 ।

(ख) इस आनदपूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होने जीवन-सग्राम समझ लिया है । रात दिन द्वन्द्व-सघर्प, वाद-विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इन्हे कुछ सूझता ही नही । वही, पृ० 42 ।

3 जो है समर्थ, जो शक्तिमान
जीने का है अधिकार उसे

(शेष अगले पृष्ठ पर)

विभक्त मानवता तथा भूतवादी दृष्टि का प्राबल्य

विश्व-मानवता का समन्वित, सहज रूप आज जाति, वर्ण, धर्म, भापा, राष्ट्र, सस्कृति आदि अनेक वर्गो मे विभक्त हो कर खड-खंड हो गया है।[1] मनुष्य और मनुष्य के बीच आन्तरिक एकता का, प्रेम का सूत्र छिन्न हो चुका है क्योकि उन्नत आत्मवादी आदर्शो से विमुख होकर वह जडवाद के गहरे पक में धँस गया है[2] और ऐन्द्रिय सुखो के मृग-जल-मरु मे भटक गया है।[3] एक ओर

(पिछले पृष्ठ का शेष)

उसकी लाठी का वैल विश्व
पूजता सभ्य ससार उसे।
दुर्वल का घातक दैव स्वय
समझो वस भू का भार उसे
"जैसे को तैसा", नियम यही,
होना ही है सहार उसे। ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृ० 43।

1 अधविश्वासो की घोर अध निशा मे चारो ओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भापा-भेद, देशाभिमान, वशाभिमान दानवो की तरह किमाकार रूप धर कर मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव नृत्य कर रहे है। विश्व का विशाल आँगन राष्ट्रवादो की व्योम-चुवी भित्तियो से अनेक सकीर्ण काराओ मे विभक्त हो गया है। ***शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितो के बीच वढने हुए भेद-भावो की दुरत खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के लिये मुँह वाये हुए है।

वही, पृ० 25–26।

2. स्वर्ग के देवता ससार के भविष्य के लिये शकित एव उद्विग्न हो उठे है। मनुष्य जाति के भाग्य का रथ-चक्र जडवाद के गहरे पक में धँस गया है··· मनुष्य के आत्म-ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादो के मरु मे लुप्त हो गया है और सभ्य जातियाँ इद्रिय-परायणता की मृगतृष्णा मे भटक कर सदेहवादिनी हो गई है।

वही, पृ० 25–26।

3. हाय, इद्रियो की मदिरा पीकर यह मनुष्य जाति उन्मत्त हो गई है। इसने अपनी आत्मा के अमर आनन्द को क्षणभगुर इद्रियो के हाथ बेच दिया है। इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने मे लगी है, जो इसे विनाश के मरु मे भटका कर सदैव और भी दूर भागता जाता है।
वही, पृष्ठ 42।

वुद्धि के अहकार ने उसे निपट स्वार्थ-प्रिय वना दिया है,[1] दूसरी ओर अर्थ तथा शक्ति के लोभ ने उसे शोषक और शोषित के वर्गो मे विभाजित कर दिया है ।[2] साथ ही मानवता के विनाश के लिये इतनी अधिक सामग्री एकत्र कर दी गई है जितनी किसी भी पूर्व युग मे नही थी ।[3]

भावी युग का स्वप्न मानवी गुणो की अभिवृद्धि

विश्व की इस वर्तमान असतोषकर स्थिति के प्रति 'ज्योत्स्ना' के कृतिकार के मन मे गहरा विक्षोभ रहा है और भावी युग का जो स्वप्नपट उसने वुना है, वह न केवल वर्तमान जीवन की विभीषिकाओ से मुक्त है, अपितु आदर्श मानवता के तत्त्वो से युक्त भी है । कवि इस विषाद-क्लात धरती पर जिस स्वर्ग के अवतरण का आकाक्षी है, वह और कुछ नही, राशि-राशि मानवी गुणो का सभार है । पशु-वृत्तियो से मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित वनाना, मानव-मन पर पडे, सकीर्णता के अनेकानेक अवगुठन दूर कर, उदारतावादी भावनाओ की अभिव्यक्ति ही कवि की अभीप्सा है । नव-युग निर्माण के लिये, मन स्वर्ग से उतरने वाली मानसी प्रतिमाओ का गीत[4] इसका साक्षी है ।

---

1. वुद्धि का अहकार प्रखर त्रिशूल की तरह वढ कर, मनुष्य के देवत्व-प्रिय स्वभाव एव आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है ।
   ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृ० 40 ।
2. वैभव और शक्ति का मोह, मनुष्य की छाती को लौह-शृखला की तरह जकडे हुए है··· मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वालोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शो, विचारो, सस्कारो, नैतिक नियमो एव आचार-व्यवहारो के प्रति विश्वास उठ गया है । मनुष्य, मनुष्य न रह कर एक निरकुश धनपति, दूसरी ओर आर्त श्रमजीवी वन गया है ।
   वही, पृष्ठ 40–41 ।
3. अर्थ और शक्ति के लोभ मे पड कर ससार की सभ्यता ने, मनुष्य-जाति के उन्मूलन के लिये, सहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी । वही, पृष्ठ 25 ।
4. हम मन स्वर्ग के अधिवासी
   जग-जीवन के शुभ अभिलाषी
   नित विकसित, नित वर्धित, अर्चित
   युग-युग के सुरगण अविनाशी !
   हम करुणा, ममता, स्नेह, प्रीति
   हम विद्या, प्रतिमा, काति कीर्ति

(शेष अगले पृष्ठ पर)

विश्व मानवता

नाना वर्गों-वादो में विभक्त मानवता को, कवि एक ही विराट् विश्व-मानवता एवं विश्व-संस्कृति में बँधा देखना चाहता है। आकाश-लोक के सम्राट् इन्द्र ने अपनी सम्राज्ञी ज्योत्स्ना को ऐसी ही प्रेरणा[1] देकर भूलोक मे भेजा है। ज्योत्स्ना, अपने प्रयत्नो से मनुष्य के हृदय मे एक नवीन कल्पना, उसकी पलको मे एक नवीन सौंदर्य, नवीन स्वप्न की सृष्टि करने मे सफल होती है और अन्तत. जिस युग का निर्माण होता है, उसमे मनुष्य, सब प्रकार के कृत्रिम भेद-भावो से मुक्त, मात्र मनुष्य रह जाता है।[2] मनुष्य और मनुष्य के बीच एकत्व की यह स्थापना, वह बाह्य भौतिक धरातल पर ही नही, मानसिक धरातल पर भी देखना चाहती है।[3]

(पिछले पृष्ठ का शेष)

हम महिमा सुषमा, ज्ञान, ध्यान
हम चित्र, नृत्य, हम काव्य, गान
लज्जा-सज्जा, आशाभिलाष
क्रीडा, विनोद, हम मनोल्लास।
हम है प्रकाश के अमर पुत्र
उर-उर-वासी, मगल आशी।

ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृ० 55।

1 तुम ससार मे अवतरित होकर मानव जाति को सत्य और समत्व का सदेश दो। विश्व के लिये प्रेम के प्रकाश का नवीन केन्द्र बनो, जिसके चारो ओर, सौर मडल की तरह, वर्तमान अनेक सस्कृतियाँ वाद-विवाद, ज्ञान-विज्ञान, राष्ट्र-जातियाँ, अर्थ और शक्तियाँ यथास्थान एकत्रित होकर, एक विराट् विश्व-सस्कृति की परिधि के भीतर भविष्य के आकाश मे नृत्य करने लगे।

वही, पृष्ठ 26।

2 मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश मे राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत-प्रेत सदैव के लिये तिरोहित हो गये है। इस समय देश-जाति के बधनो से मुक्त मनुष्य, केवल मनुष्य है।

वही, पृ० 263।

3 असख्य कोटि के जीवो एव मनुष्यो से युक्त यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओ के रहते हुए भी एक है। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् सस्कृति की आवश्यकता है।

वही, पृ० 37–38।

नूतन सामाजिक आदर्श

'ज्योत्स्ना' के कृतिकार का विश्वास है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रगति, अपने आप में, मनुष्य की उन्नायक या विकासक नहीं है, उच्च आदर्श ही उसे ऊँचा उठा सकते हैं, पशु से देवता बना सकते हैं। सतत रूप से विकासशील होने के कारण, आदर्श सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं।[1] जीवन-सत्य से उन्हें निरपेक्ष मान लेने के दुष्परिणाम मानव-जाति बराबर भोगती आई है।[2] जीवन से कट कर सत्य की सत्ता हो नहीं सकती। इसीलिये काल-प्रवाह में निरन्तर गतिशील बने रहने वाले जीवन-सत्य को, प्राचीन सभ्यताओं के स्थिर, जड एवं निरपेक्ष आदर्श, आकृष्ट करने के स्थान पर भयभीत करते रहे हैं।[3] परिवर्तित जीवन-परिस्थितियों के अनुकूल, अपने आदर्शों को सतत रूप से ढालने की आवश्यकता मनुष्य के सम्मुख बनी ही रहती है।

जीवन सत्य की समग्रता का आदर्श

पर जीवन-सत्य स्वयं एक समग्र सत्य है जो अपनी परिधि में शारीरिक,

---

1 इसी नाटक में एक स्थान पर आदर्शों को निरपेक्ष कहा गया है जो कृतिकार की विचार-सरणि में अन्तर्विरोध का सूचक है, 'आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता। उन्हें निरपेक्षत मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है'।

ज्योत्स्ना, तृतीय वही, पृ० 41।

2 त्याग, विराग, अहिंसा, क्षमा, दया आदि अनेक आदर्शों को धार्मिक प्रवृत्ति के लोग पहले से निरपेक्ष सत्य समझते आये हैं। इसलिये उनका धर्म, मनुष्यों का धर्म न बनकर आदर्शों का धर्म बन गया। • जीवन की सम्पूर्णता में मानव जीवन को विच्छिन्न कर, हम ऊँचे से ऊँचे आदर्श की ओर भी अग्रसर हों तो वह अंत में अर्थशून्य एवम् सारहीन हो जाता है। मानव-जीवन का सत्य सापेक्ष है। त्याग और भोग एक दूसरे को सार्थक करते हैं। इसी समत्व पर सत्य अवलम्बित है।

वही, पृ० 69।

3. प्राचीन निर्मूल सभ्यताओं की इतिहास-भूमि से उखडे हुए, निरर्थक जीर्ण-शीर्ण आदर्शों, विचारों एवं रूढ़ियों के शुष्क, ठूँठ अपने ही अपरिचय के अंधकार में, किमाकार भूत-प्रेतों एवम् नराकृति कंकालों की तरह सिर उठाकर, अपने अस्पष्ट, अर्थहीन, मूक इंगितों से मानव-समाज को भयभीत और कर्त्तव्य-विमूढ बनाते रहे।

वही, पृ० 68।

मानसिक एव आत्मिक सत्य के समग्र रूप को समेट लेता है ।[1] जहाँ तक मानसिक सत्य का सबध है, विगत युगो का मनोविज्ञान उसके स्वरूप-विश्लेपण मे सर्वथा असफल रहा ।[2] वह 'मन' को स्थिर, अगतिशील समझने के कारण अपूर्ण और अधूरा रहा । पर आज का मनोविज्ञान इस तथ्य पर पहुँच गया है कि एक आध्यात्मिक नियम के वशवर्ती होने के कारण, मनस्तत्त्व स्वय भी विकासशील है और कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति एव क्रिया-पद्धति भी बदल सकती है ।[3] आधुनिक मनोवैज्ञानिक गवेपणाओ ने मनस्तत्व को आधिभौतिक सीमाओ से मुक्त कर उसे उच्चतर आधिदैविक भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है और यही मानव की सर्वोपरि विजय है ।

मानवी सभ्यता, विकास की जिस मजिल तक पहुँच गई है, वहाँ प्राचीन, एकागी आदर्श निरर्थक हो गये है । उसे अब एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है जो उसके जीवन-सत्य के त्रिविध पक्षो—शारीरिक, मानसिक, आत्मिक—का समाहार कर सके । अपने 'ज्योत्स्ना नाटक मे इसीलिये पत जी ने भूतवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय करने की चेष्टा की है ।[4] और जैसा कि

---

1 हमारे सत्य की उपासना ने अब अपना स्वरूप बदल लिया है । हम यह जान गये है कि जो सत्य मानव-जीवन एव मानव-जाति के लिये कल्याणकारी नही, जो उसकी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एव लौकिक उन्नति का समग्र रूप से पोपक नही, वह सत्य मानवी सत्य नही हो सकता ।

ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृष्ठ 69 ।

2 विगत युगो का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना मे अधिक सफल नही हुआ, इसीलिये मनोजगत् को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से, अपने को भुलावे मे डाल, उसने जीवन को अज्ञान-जनित, दुःख-जनित समझ लिया ।

वही, पृष्ठ 50-51 ।

3 वही, पृ० 70 ।

4 पाश्चात्य जडवाद की मासल प्रतिमा मे, पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एव अध्यात्मवाद के अस्थिपजर मे भूत तथा जड विज्ञान के रूप-रग भर कर हमने नवीन युग की सापेक्षत परिपूर्ण मूर्त्ति का निर्माण किया है । उसी पूर्ण मूर्त्ति के विविध अग-स्वरूप पिछले युगो के अनेक वाद-विवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके है । * * * इसीलिये इस युग का मनुष्य, न पूर्व का रह गया है न पश्चिम का, पूर्व और पश्चिम दोनो ही मनुष्य के बन गये है । वही, पृष्ठ 67-68 ।

पिछले अध्याय मे दिखाया जा चुका है, भूत-अध्यात्म, जन्म-मरण, सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो मे किसी प्रकार का वास्तविक अन्तर्विरोध नही है. पत जी ने इन वुद्धि-जन्य युग्मो को सहजज्ञान की व्यापकतर दृष्टि से अपनाने का सुझाव दिया है।[1]

राग-भावना का परिष्कार

राग-भावना के परिष्कार की ओर भी पत जी इस कृति मे कुछ आगे वढे है और जो आदर्श वे खडा कर पाये है वह है जाति, धर्म एव देश की सीमाओ से राग-भावना को मुक्त करना । इसीलिये ग्वालिनो और गोपियो के सस्कारो से मुखर यमुना, अपने पूर्व-पति सलीम की मृत्यु के वाद, कुमारी मरियम के दूध से पले एक विदेशी युवक जार्ज के गले का हार वनती है[2] और अतुल की वाईस वर्षीया विधवा 'रोज' मृत पडोसियो के पुत्र 'मुहम्मद' को गोद लेती है और जो पुर्नविवाह इसीलिये नही करना चाहती कि उसका अधिकाश समय अस्पताल मे, वीमारो की शुश्रूषा-सेवा मे निकल जाता है।[3] यहाँ स्त्री-पुरुष का प्रेम एक-दूसरे के पाँव की वेडी या जीवन का वधन नही है। निरतर साहचर्य, परस्पर सद्भाव एव सह-शिक्षा के कारण अव उनका प्रेम देह की दुर्वलता न रहकर, हृदय का वल एव मन का सयम वन गया है। पत जी प्रेम की भाषा को अधिक सस्कृत, प्रेमाभिव्यक्ति करने वाले हाव-भावो को अधिक मार्जित तथा मनुष्य की रुचि को परिष्कृत देखना चाहते है। सम्प्रति वह पशु-पक्षियो के जगत् से प्रेरणा लेती दिखाई पडती है जो सभ्य, सुसस्कृत मानव के लिये किसी भी प्रकार शोभनीय नही है।[4]

---

1 जन्म-मरण, सुख-दु ख, जीवन के वाह्य विरोधो एव प्रतीप आविर्भावो के वीच मनुष्य को अपनी सहजवुद्धि से काम लेकर एक वार सामजस्य स्थापित करना ही पडता है। मनुष्य के आधे से अधिक असतोप का कारण वुद्धि-जन्य है। समस्त विरोधो के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोज कर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है। तव मनुष्य, जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है जिसके छोरो मे वँधे सुख-दु ख, जन्म-मरण आदि द्वन्द्व, तुला के पलडो की तरह उठते-गिरते रहते है।

ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृ० 78-79।

2 वही, पृष्ठ 62।

3 वही, पृष्ठ 64।

4 मनुष्य को पशु-पक्षी की आँखो से देख कर उसका मूल्य नही आँका जा सकता। उसे पशु-पक्षियो से अपना आदर्श सीखना नही। अपनी ही आत्मा

(शेष अगले पृष्ठ पर)

विभिन्न नीतियो मे परिवर्तन

अपने युग की राजनीति, समाज-नीति एव शिक्षा-नीति के प्रति भी 'ज्योत्स्ना' के रचनाकार के मन मे गहरा क्षोभ है और वह उनमे आमूलचूल परिवर्तनो का आकाक्षी है। जहाँ तक राजनीति का प्रश्न है, प्रजातत्र, राज्यतत्र, लोकतत्र आदि जितने भी तत्र है, सब के सब केन्द्र-भ्रष्ट एव लक्ष्य-हीन है, जब तक कि वे मानव-सत्य के नियमो के अनुसार परिचालित नही होते। और सच तो यह है कि मनुष्य को शासन-पद्धति तथा उसके नियमो का आविष्कार करना ही नहीं है, उस शासन-प्रणाली को पहचान-भर लेना है जो सम्पूर्ण ब्रह्माड का परिचालन करती है।[1] यह समस्त सृष्टि सत्य एव सदाचार के नियमो से शासित है और मानवी सृष्टि भी उसका अपवाद होकर नही रह सकती। छल-कपट एवम् मिथ्यात्व का सहारा लेकर खडे होने वाले तत्र मनुष्य के लिये कष्टो और दु खो ही की सृष्टि कर सकते है।

समाज प्रधान है या व्यक्ति, यह एक असगत एव व्यर्थ का प्रश्न है क्योंकि दोनो ही की सार्वकालिक स्थिति रही है और रहेगी। पर इनमे से एक, दूसरे का मापक नहीं हो सकता। न तो व्यक्ति, समाज का मान हो सकता है और न समाज, व्यक्ति का। समाजवाद की बुराई यह है कि वह व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये सुविधा एव स्थान नही छोडता, व्यक्तिवाद की दुर्बलता इसमे है कि वह समाज का उपयोग निजी स्वार्थो की पूर्ति के लिये करता है। दोनो अपने आप मे अपूर्ण है, अत उनमे सामजस्य की स्थापना होनी ही चाहिये।[2]

वर्तमान शिक्षा-पद्धति से पत जी को जो असतोष है वह यह कि इसमे केवल बुद्धि का ही शिक्षण होता है, हृदय को कोई शिक्षा नही होती। पर वास्तविक शिक्षा तो हृदय ही की शिक्षा है जो मनुष्य की सकीर्ण भावनाओ को उदार बनाती है, उसके हृदय मे मानव मात्र ही नहीं, पशु-पक्षियो एव कीट-पतगो के प्रति भी प्रेम व करुणा का भाव जगाती है।[3] हृदय की शिक्षा न होने

के प्रकाश मे अपना महत्त्व समझ कर उसे अपनी वृत्तियो का विकास करना है। उन्मत्तो की तरह ओठ से ओठ टकराने की इस कुरूप प्रथा का मैं किसी तरह समर्थन न कर सकूँगी। वही, पृ० 30।

1 ज्योत्स्ना, तृतीय सस्करण, पृष्ठ 73–74

2 वही, पृष्ठ 74।

3 हृदय की शिक्षा मे ही हमारी विश्व-सस्कृति के, मानव प्रेम के एवम् समस्त जीव-कल्याण के मूल अन्तर्हित है। जो शिक्षा हमारे हृदय के कपाट खोल कर मनुष्य के भीतर विश्व-प्रेम की उन्मुक्त वायु नहीं भर सकती, वह शिक्षा हमारे सत्य की कुजी नही हो सकती। वही, पृष्ठ 75–76।

ही के कारण व्यक्ति ऐसे अपराध कर बैठते हैं जिन के कारण उन्हे कारागार का वदी होना पडता है। कारागारो को भी चाहे तो शिक्षागार वनाया जा सकता है जहाँ दण्ड के वदले चारित्रिक शिक्षा दी जा सके।[1]

यद्यपि 'ज्योत्स्ना' के प्रकाशन-काल (1934 ई०) तक आते-आते पत जी को अनेक नवीन विश्वासो, आदर्शो तथा विचारो की उपलब्धियाँ हो चुकी थीं[2] तथापि ये उपलब्धियाँ ज्योत्स्ना-पूर्व की कृतियो मे झलकने वाली प्रवृत्तियो का ही विकसित रूप थी और किसी भी रूप मे, पन्तेतर नही थी। पृथ्वी पर मानवी मूर्तियो का अवतरण, नानाविध सकुचित काराओ से मुक्त विशुद्ध मानवता का निर्माण, भूत एव अध्यात्म के जीवन-सापेक्ष आदर्श की स्थापना, व्यक्ति की राग-भावना का परिष्कार, सत्य एव सदाचार पर आधारित राजनीतिक तत्र तथा हृदय की शिक्षा आदि तत्त्व मव के सव वीणा-पल्लव-कालीन 'लोकोदय की भावना' एव 'आत्म-परिष्कार की इच्छा,' तथा गुजन-कालीन 'जीवन की परिपूर्ण मूर्त्ति गढने की आकाक्षा' के नैसर्गिक विकास है जो उत्तर-ज्योत्स्ना काल मे जाकर नवचेतनावाद के अमूल्य उपादान वने हैं। सुख-दुख, जन्म-मरण, समाज-व्यक्ति जैसे द्वन्द्वो मे सन्तुलन स्थापित करने की चेतना भी गुजन-कालीन है और व्यापक अध्ययन से प्राप्त, विशद दृष्टिकोण का परिणाम है। नूतन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो का उद्घाटन प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान के अध्ययन तथा कवि के प्रमुखत आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव है।

गाँधी, मार्क्स तथा फ्रायड का प्रभाव

यो तो गाँधी जी के आह्वान पर कवि ने 1921 ई० मे ही अपने छात्र-जीवन से विदा ले ली थी, पर उनकी विचार-धारा का प्रत्यक्ष प्रभाव,[3] उस पर 1934 से ही पडना प्रारम्भ हुआ जव गाँधी जी से उसकी प्रथम भेट हुई। गाँधी जी के महत् व्यक्तित्व के अन्त स्पर्श से कवि-मन मे एक ओजस्वी सात्त्विक चैतन्य का उदय हुआ जो नव-युग-मगल का एक शुभ्र सोपान वन

---

1 ज्योत्स्ना, तृतीय स०, पृ० 75।

2 पत, चिदवरा, द्वितीय स०, चरण चिन्ह, पृष्ठ 11।

3 अप्रत्यक्ष प्रभाव तो शायद पहले से ही पडने लगा था "गाँधी जी का तप पूत, कर्मठ व्यक्तित्व, जो धीरे-धीरे, गाँधीवाद का रूप ग्रहण करने लगा था, मन को अधिकाधिक आकर्षित करता था। 'गुजन' के आत्म-सम्कार के स्वर मे, अप्रत्यक्ष रूप से गाँधी जी का भी प्रभाव हो सकता है।" वही, पृष्ठ 15।

सका ।[1] कृतज्ञता-ज्ञापन की दृष्टि से, कवि ने गांधी पर 1936 ई० में अपनी एक कविता 'युगान्त' (1936) में प्रस्तुत की। भारतीय स्वतत्रता के लिये, राष्ट्रीय नेताओ द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन में, प्रकट रूप से कवि ने यद्यपि कभी भाग न लिया, तथापि राष्ट्रीय जागरण के भीतरी पक्ष से वह बराबर जूझता रहा और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसका ऋण भी चुकाता रहा।[2]

1931 से 1933 ई० तक कालाकांकर के डेढ़-दो वर्ष के प्रवास मे निकटस्थ ग्रामवासियो के अभावग्रस्त जीवन को देखकर कवि का हृदय द्रवीभूत हो चुका था। 1933 ई० मे अल्मोड़ा जाने पर, मार्क्स की ऐतिहासिक तथा फ्रायड की प्राणिशास्त्रीय विचार-धाराओ के अध्ययन का सुयोग कवि को मिला। वैसे, मार्क्सवाद के सामान्य सिद्धान्तो का परिचय तो उसे उसके मित्र पी०सी० जोशी द्वारा मिल ही चुका था, अब उसने अपने बडे भाई से मार्क्सवाद के जटिल आर्थिक पक्ष का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त रूसी क्रांति की सफलता के फलस्वरूप समस्त विश्व के वातावरण पर तैर आई सामाजिक यथार्थ की धारणा तथा वैज्ञानिक प्रगति द्वारा उत्पन्न भावात्मक (पाजिटिविस्ट) दर्शन आदि की सम्मिलित प्रतिक्रिया-स्वरूप विश्व-जीवन तथा मानव-जीवन के प्रति कवि की आस्था बढती गई।[3]

'युगान्त' में नवीन सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना

कवि-मानस की इसी भूमि से प्रथम उत्थान-काल की अतिम कृति 'युगान्त' (1936 ई०) का प्रणयन हुआ। कवि की पूर्व कृतियो ही की भांति, इस कृति में भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति गहरा मोह है, पर अब वह मानवी सौन्दर्य की ओर और अधिक आकृष्ट हो गया है।[4] पर प्राकृतिक सत्य जहां

---

1 पत, साठ वर्ष एक रेखाकन, पृ० 51–52।

2 वही, पृ० 37।

3 वही, पृष्ठ 49।

4 सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम!
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम!
न्योछावर जिस पर निखिल प्रकृति
छाया-प्रकाश के रूप-रग!

युगान्त, द्वितीय स०, पृ० 55।

पूर्ण हैं, वहाँ मानवी सत्य अपूर्ण, खण्ड-खण्ड एवम् विकृत है[1] और कवि की सहज सहानुभूति का पात्र भी। प्राचीन सास्कृतिक मूल्य जो नितान्त अनुपयोगी होकर, वर्तमान जीवन के लिये भार-स्वरूप सिद्ध हो रहे हैं, कवि उन्हे यथाशीघ्र विदा कर देना चाहता है[2] और जैसे कवि की आज्ञा को शिरोधार्य करता हुआ शिशिर का पीत पात जीवन की टहनी से विदा लेता है।[3] पर यह विदा, नूतन सास्कृतिक मूल्यो के किसलयो के लिये स्थान बनाने की दृष्टि से ही है ताकि अस्थि-ककाल से खडे रह जाने वाले जीवन-तरु पर, एक बार फिर अरुणिम, ललछौही कोपलो का मर्मर मुखरित हो सके।[4]

1\. है पूर्ण प्राकृतिक सत्य, किन्तु मानव-जग !
क्यो म्लान तुम्हारे कुज, कुसुम, आतप, खग !
जो एक असीम, अखड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन सार्थकता।
लगती विश्री औ विकृत आज मानव कृति
एकत्व शून्य है विश्व मानवी सस्कृति

युगान्त, द्वितीय स०, पृ० 24।

2 द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण
हिम-ताप-पीत, मधु-वात भीत
तुम वीतराग, जड, पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग, मृत विहग
जग नीड, शब्द औ श्वास-हीन
च्युत अस्त-व्यस्त पखो से तुम
झर झर अनत मे हो विलीन ! ·· पृ० 15

3 मैं झरता जीवन-डाली से
साह्लाद शिशिर का शीर्ण पात
फिर से जगती के आँगन मे
आ जाए नव मधु का प्रभात ! · पृ० 19

4 ककाल-जाल जग मे फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली
प्राणो की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली ! ···पृ० 15

संकीर्ण घेरों से मानवता की मुक्ति

कवि मानवता को जाति, वर्ण, धर्म, राष्ट्र, सस्कृति आदि की कृत्रिम काराओ से मुक्त कर[1] उसे विशुद्ध मानवता के रूप मे देखने का आकाक्षी है। मनुष्य के भीतर का चैतन्य, चूँकि परम चेतना ही का एक स्फुलिग है, अत ससीम होकर भी वह असीम है। देश और काल के बधन इसीलिये उसे बाँधने मे असमर्थ हैं।[2] पर अभी तक मनुष्य की उस दिव्य चेतना पर पशुत्व हावी है और वह वादो, तर्कों, रूढियो, बाह्याचारो, सस्कृतियो और सस्थाओ के मिथ्या अनेकत्व की पृष्ठभूमि मे छिपी मानवी एकता को पहचान पाने मे अपने को असमर्थ पा रहा है।[3] इसीलिये कवि वीणा-कालीन शैली में प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह इन अज्ञान-जन्य भेदो से मानव को मुक्त करे और उसे उसके शाश्वत चैतन्य का बोध कराये।[4]

कवि नवीन मानवी गुणो के अवतरण द्वारा सृष्टि में एक नवीन युग का सूत्रपात करना चाहता है[5] और ये नवीन गुण लगभग वे ही है जिनका नामो-

---

1 झरे जाति, कुल, वर्ण पर्णघन
अध नीड से रूढि-रीति छन
व्यक्ति राष्ट्र गत राग-द्वेष रण
झरे, मरे विस्मृति मे तत्क्षण ! ·· पृ० 16

2 मानव दिव्य स्फुलिग चिरतन
वह न देह का नश्वर रज कण !
देश-काल है उसे न बधन
मानव का परिचय मानवपन ! ·· पृ० 17

3. शत मिथ्या, वाद, विवाद, तर्क
शत रूढि नीति, शत धर्म द्वार,
शिक्षा, सस्कृति, सस्था, समाज
यह पशु-मानव का अहकार ! ·· पृ० 35

4. यह दिशि पल का तम इन्द्र जाल,
बहु भेद-जन्य, भव-क्लेश भार,
प्रभु बाँध एकता मे अपनी
भर दे इसमे अमरत्व सार ! ···पृ० 35

5. मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित भीतर

(शेष अगले पृष्ठ पर)

ल्लेख अपनी विगत कृति 'ज्योत्स्ना' मे कवि कर आया है।[1] नवीन युग-निर्माण के लिये एक नवीन, व्यापक एवम् सतुलित दृष्टि की आवश्यकता है— ऐसी दृष्टि, जो द्वन्द्वो ने, तथाकथित अन्तर्विरोधो मे, सतुलन स्थापित कर सके।[2] 'ज्योत्स्ना' ही की भाँति, प्रस्तुत कृति मे भी कवि ने द्वन्द्वो के समाधान का तर्काश्रित प्रयत्न किया है।[3] पत जी के इस व्यापक सतुलित -दृष्टिकोण ने ही आगे चलकर उन्हे अरविन्द-दर्शन की ओर आकृष्ट किया।

गाँधी के सत्य-अहिंसा तत्त्व

युग की वैज्ञानिक यान्त्रिकता तथा भौतिकता को जब तक जीवन की सहजता व आध्यात्मिकता से सतुलित नही किया जायगा तब तक जीवन सर्वांग सुन्दर नही हो सकता। गाँधीवाद मे कवि को ऐसे तत्त्व दिखाई पडे जो इन अभावो की पूर्ति करते थे।[4] साथ ही, उसके 'सत्य' तथा 'अहिंसा' तत्त्व तो कवि को नवयुग

सौंदर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सके नही जग मे बाहर । ·· पृ० 39

1. आशाभिलाष, उच्चाकाक्षा
उद्यम अजस्र विघ्नो पर जय
विश्वास, असत्-सत्, का विवेक
दृढ श्रद्धा, सत्य, प्रेम, अक्षय । ···पृ० 56

2. ए मिट्टी के ढेले अजान ,
जड अथवा चेतना-प्राण !
कितने तृण-पौधे, मुकुल, सुमन
सस्कृति के रूप-रग मोहन
ढीले कर तेरे जड-बधन
आए औ गए (यही क्या मन ?)
खुल गया शून्यमय अवगुठन
अज्ञेय सत्य तू जड-चेतन ! ···पृ० 11

3 गुँथ गये अजान तिमिर-प्रकाश
दे दे जग-जीवन को विकास
वह रूप-रग रेखाओ मे
भर विरह-मिलन का अश्रु-हास । ··पृ० 37

4 जड़वाद जर्जरित जग मे तुम
अवतरित हुए आत्मा महान

(शेष अगले पृष्ठ पर)

की मानवतावादी संस्कृति के दो आवश्यक उपादान प्रतीत हुए जिनका कवि ने त्वरित आकलन कर लिया।[1]

मार्क्सवादी दृष्टि की प्रथम झलक

मार्क्सवादी चिन्ता-धारा से प्रभावित प्रगतिवाद की एक झलक,[2] पहली बार प्रस्तुत कृति 'ताज' शीर्षक कविता मे देखने को मिलती है जो कवि के नवचेतना-वाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति भी है। ताजमहल मे कवि सौंदर्य के दर्शन नही कर पाता क्योंकि वह विगत युग के मृत आदर्शो का प्रतीक है।[3] कवि की यह प्रगतिशील दृष्टि आगे चल कर द्वितीय उत्थान-काल के दो प्रारम्भिक काव्यो—'युगवाणी' एव 'ग्राम्या' मे विशेष रूप से विकसित हुई है।

प्रथम उत्थान काल की कृतियो से विकसित नवचेतना की रूपरेखा

गत अध्याय मे 'नवचेतना' का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए जिन नवचेतना-वादी प्रवृत्तियो का परिगणन किया गया था, उनमे से एकाध को छोडकर, प्राय सब की सब इस काल की कृतियो मे विद्यमान है, कुछ बीज रूप मे निहित है और कुछ अकुरित-पल्लवित भी है। परिणामत, कवि-मानस ने भावी का जो स्वप्न देखा है, उसकी रूप-रेखा धुँधली न रहकर, पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गई है। सक्षेप में, वह इस प्रकार है

यत्राभिभूत युग मे करने
मानव-जीवन का परित्राण !

1. इस भस्मकाम तन की रज से
जग पूर्ण काम, नव जग-जीवन
बीनेगा सत्य अहिसा के
ताने बाने से मानवपन !

× × ×

आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की सस्कृति समासीन ! ···पृ० 61

2. हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्ण निर्जीव पडा हो जग का जीवन
स्फटिक सौध मे हो शृगार मरण का शोभन
नग्न क्षुधातुर वास-विहीन रहे जीवित जन ! ···पृ० 54

3. युग-युग के मृत आदर्शो के ताज मनोहर ! वही पृष्ठ

(1) **वर्तमान स्थिति से असंतोष**

(अ) शोपण पर आधारित अर्थनीति
(आ) अधिकारो पर आधारित राजनीति
(इ) स्वार्थ पर आधारित समाजनीति
(ई) मध्यकालीन रूढियो पर आधारित सस्कृति
(उ) सकीर्णताओ मे विभक्त मानवता
(ऊ) पशु-वृत्तियो का प्रावल्य
(ए) जीवन-सत्य के प्रति एकागी दृष्टि

(2) **प्राचीन मूल्यो एव आदर्शों का ध्वस**

(अ) भूतवादी अतिवाद
(आ) अध्यात्मवादी अतिवाद
(इ) जीवन के प्रति ऋृणात्मक दृष्टि

(3) **नवीन मानवता का स्वप्न**

(अ) मानवी सत्य की समग्रता की प्रतिष्ठा , शरीर, मन एव आत्मा तीनो की सतुष्टि

(1) शरीर लोक-जीवन की भौतिक सम्पन्नता (मार्क्सवाद)।
(2) मन पाशविक वृत्तियो के स्थान पर मानवी गुणो की प्रतिष्ठा एवम् रागवृत्ति का परिष्कार (गाँधीवाद)।
(3) आत्मा असीम के स्पर्श द्वारा मानवी प्रवृत्तियो का उन्नयन

(आ) भूतवाद एव अध्यात्मवाद का समन्वय।
(इ) द्वन्द्वो मे सतुलन की स्थापना।
(ई) विश्व-मानवता की प्रतिष्ठा मानवता को जाति, वर्ण, धर्म, राष्ट्र, सस्कृति की सकीर्ण काराओ से मुक्त करना।
(उ) समाज और व्यक्ति के सतुलन पर आधारित समाजनीति।
(ऊ) सत्य एव सदाचार पर आधारित राजनीति।
(ए) त्याग एव सेवा पर आधारित अर्थनीति।
(ऐ) हृदय को शिक्षित करने वाली शिक्षानीति।

निष्कर्ष

जैसा कि आगे चल कर देखा जायगा, द्वितीय उत्थान-काल की कृतियो मे भी ये ही प्रवृत्तियाँ सर्वत्र छाई हुई दिखाई देती हैं। और यदि यही सत्य है तो कवि के सम्पूर्ण रचना-काल को प्रथम तथा द्वितीय उत्थान-काल मे विभक्त

अध्याय 3

अरविन्द-दर्शन

दर्शन के तीन अंग

द्रष्टा की उपलब्धि दर्शन है। दर्शन से, सामान्यतया, मात्र तत्त्व-मीमासा (ऑन्टोलॉजी) का अर्थ लिया जाता है, जो प्रधान होते हुए भी, दर्शन का केवल एक अग है। तत्त्वमीमासा के अतिरिक्त दर्शन के दो अग और है ज्ञानमीमासा (एपिस्टेमोलॉजी) तथा मूल्य-मीमासा (एक्जिआॅलॉजी)। ये तीनो अग मिलकर दर्शन को समग्र बनाते हैं।

ज्ञानमीमासा से तात्पर्य ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नो के विवेचन से है। वे प्रश्न है. क्या सत्य ज्ञान (प्रमा) की उपलब्धि सभव है? यदि नही, तो क्यो और यदि हाँ, तो किस सीमा तक एवम् किस साधन (प्रमाण) से? इस प्रकार प्रमा अर्थात् सत्य ज्ञान तक पहुँचाने वाले प्रमाणो या ज्ञान-स्रोतो की प्रामाणिकता का विवेचन ही ज्ञानमीमासा का मूल प्रश्न है। दर्शन मे ज्ञानमीमासा का महत्त्व स्वय इसी बात से स्पष्ट है कि तत्त्वमीमासा एव मूल्यमीमासा के ढाँचे इसी को आधार बना कर खडे होते हैं।

मूल्यमीमासा से आशय है तत्त्वमीमासा के निष्कर्षों के प्रकाश में जीवन-मूल्यों की स्थापना से। जीवन के चरम पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा तथा उसकी प्राप्ति के लिये अनुकूल आचार (इथिक्स) का निर्धारण ही मूल्य-मीमासा का लक्ष्य है। इसे तत्त्वमीमांसा के सैद्धांतिक पक्ष का व्यावहारिक रूप माना जा सकता है।

दर्शन के इन तीन अगो का वैज्ञानिक क्रम है ज्ञानमीमासा, तत्त्वमीमासा और मूल्यमीमासा। अब इसी क्रम से अरविन्द की दार्शनिक पद्धति को समझने का प्रयत्न किया जाएगा।

ज्ञानमीमांसा तथा मनोविज्ञान

भारतीय दर्शन में स्वीकृत चार प्रमाण

भारतीय दर्शन मे ज्ञान के सामान्यतया स्वीकृत स्रोत चार हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है; अनुमान,

लहर के रूप में दिखाई पड़ती हैं। हम विचारक न रहकर, विचार-मात्र रह जाते हैं। पर साधारणतया ऐसी स्थिति मे एक और भी मानसिक क्रिया चलती रहती हैं। हमारे 'स्व' का एक भाग विचार बना रहता हैं, दूसरा भाग ज्ञाता बनकर चेतना-प्रवाह के साथ हो लेता हैं या अत्यन्त निकटता से उसका अनुगमन करता हैं। इस प्रकार, अत्यन्त निकटता से तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क से वह हमारी चेतना-प्रक्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता हैं। ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद हो जाने के कारण यह ज्ञान तादात्म्य या निर्विशेष ज्ञान से कुछ नीचे रह जाता हैं।[1]

तटस्थ-प्रत्यक्ष सम्पर्क का स्वरूप

तीसरे प्रकार का ज्ञान तटस्थ-प्रत्यक्ष सम्पर्क से उत्पन्न होता हैं। यहाँ यद्यपि सम्पर्क प्रत्यक्ष होता हैं, तथापि ज्ञाता की ज्ञेय से तटस्थता होने के कारण तादात्म्य-ज्ञान असम्भव होता हैं। इस तटस्थता के कारण हम इस स्थिति मे बने रहते हैं कि अपनी मनन-क्रिया का विवरण अपने शेष अस्तित्व के सम्मुख उपस्थित कर सकें। चिन्तन के क्षणो मे, यद्यपि विचार और विचारक मे अपने अस्तित्व को विभाजित कर सन्तुलन बनाये रखना कठिन अवश्य हैं, तथापि इस प्रकार का दुहरा तथा सन्तुलित ज्ञान असम्भव नही हैं।[2], सन्तुलन के विस्थापित हो जाने की स्थिति में प्रेक्षण एवम् पुनर्मूल्याकन का यह कार्य समसामयिक न होकर स्मृति की सहायता से सिहावलोकन के रूप में होता हैं अथवा चिन्तन-प्रक्रिया पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने हेतु, उसे क्षण-भर के लिये स्थगित करके किया जाता हैं। विचारक मे धीरे-धीरे यह क्षमता उत्पन्न हो सकती हैं कि अन्तश्चेतना के धरातल पर थोडा पीछे हटकर वह तटस्थ भाव से मन शक्ति के प्रवाह का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

नितान्त-अप्रत्यक्ष सम्पर्क का स्वरूप

वहिर्जगत् के पदार्थो तथा प्राणियो का ज्ञान, नितान्त-अप्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा होता हैं। चूंकि, वाह्य जगत् के पदार्थो की अनुभूति 'स्व' के रूप मे नही होती, इसलिये उनके साथ न तो तादात्म्य ही सम्भव है और न चेतना का प्रत्यक्ष सम्पर्क ही। तब अप्रत्यक्ष सम्पर्क का माध्यम बनती हैं, इन्द्रियाँ, जो वस्तुओ तथा प्राणियों का आन्तरिक स्वरूप उपस्थित न कर केवल सतही विम्व उपस्थित करती हैं।

---

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ० 624–25।
2 वही, पृ० 626।

अंतःसत्य के उद्घाटन में इद्रियों की असामर्थ्य

वस्तु का यह सतही बिम्ब-ज्ञान, पदार्थ को उसके समग्र रूप मे उपस्थित न कर पाने के कारण भ्रामक होता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान कहने को ही प्रत्यक्ष होता है, वस्तुत होता वह अप्रत्यक्ष ही है। बाह्य पदार्थ का मन पट पर बिम्ब बनने तक की प्रक्रिया मे न जाने कितने मानसिक सवेदनो की दीर्घ शृखला को माध्यम बनना पडता है। ज्ञान-तन्तुओ द्वारा क्रम-क्रम से बटोर कर लाये गये सवेदनाशो का ढेर अस्त-व्यस्त ही पडा रहता है, जब तक कि छठी इद्रिय मनस्, आकर उस पर कार्य प्रारम्भ नही कर देती। इन्द्रियो की अकिचनता और दरिद्रता की पूर्ति के लिये ही शायद मनुष्य को इस छठी इन्द्रिय का विकास करना पडा।[1] पर, यह सब कुछ होने के बाद भी जिस ज्ञान की प्राप्ति हमे होती है, वह अत्यन्त सतही और भ्रामक होता है।[2]

अनुमान की असामर्थ्य

अनुमित ज्ञान की स्थिति भी इससे अच्छी नही है, क्योकि वह हमारे इन्द्रिय-ज्ञान ही पर आधृत है। दूसरे, तर्क की आधार-स्वरूपा बुद्धि, केवल खडित सत्य या अर्द्ध-सत्य का ही उद्घाटन करती है, पूर्ण सत्य का नही। तीसरे, बुद्धिजन्य, देश-काल-सापेक्ष ज्ञान होता है और वह समग्र (इटीग्रल) सत्य के स्वरूप-दर्शन मे अक्षम होता है। पर, सापेक्ष दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा तर्कज्ञान अधिक विश्वसनीय है, क्योकि इन्द्रिय, जहाँ वस्तु के सवेदन बटोर कर सन्तुष्ट हो लेती है, तर्क वहाँ, आगे बढ कर, अनेक समानधर्मा वस्तुओ या तथ्यो की तह मे कार्य-व्यस्त सामान्य और व्यापक नियमो की खोज करता है। इसी-लिए, अरविन्द ने स्थूल भौतिक पदार्थों के क्षेत्र मे इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। वे न तो तर्क के निन्दक है और न ही उसे व्यर्थ और त्याज्य मानते है। आपत्ति उन्हे तर्क को सर्वोच्च प्रकाश मानने मे है।

सामान्य अन्तरावलोकन की असामर्थ्य

वस्तुओ तथा प्राणियो के अन्त स्वरुप के सबध मे, बुद्धि तथा इद्रियाँ किसी प्रकार का प्रकाश नही देती, क्योकि उनके अन्तस्तल मे प्रवेश पाने मे, वे नितान्त असमर्थ है। अन्य प्राणी तथा जड पदार्थ तो दूर, हम अपने ही जैसे शरीर-मन वाले मनुष्यो तक को भीतर से नही जान पाते। अधिक से अधिक

---

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ० 629।
2 श्री अरविन्द, इवॉल्यूशन, पृ० 14-15।

हम यह कर सकते हैं कि मानव-शरीर एव मानव-मस्तिष्क-सबधी कुछ अति सामान्य नियमों को, अपने व्यक्तिगत अनुभव के प्रकाश मे, उन पर घटित कर दें और कुछ उल्टे-सीधे निष्कर्ष निकाल ले। परिणाम यह होता है कि वर्षो साथ रहने के बाद भी हम एक दूसरे के लिये अपरिचित रह जाते हैं। हमारा सामान्य अन्तरावलोकन, जिसका सबध हमारे बाह्य चेतन से ही है, हमे दूर नही ले जाता। बाह्य जगत् का ज्ञान हमारे सम्मुख एक विचित्र सम्मिश्रण के रूप मे उपस्थित होता है, जिसमे एक ओर ऐन्द्रियिक बिम्बो की जड राशि होती है, तो दूसरी ओर, उन बिम्बो का अर्थबोध कराने के प्रयत्न मे व्यस्त प्रतिबोधक (पर्सेप्टिव) 'मन' होता है। तीसरी ओर, प्राप्त ज्ञान के रिक्त स्थानो की पूर्त्ति करता तथा विच्छिन्न सूत्रो को जोडता हुआ, 'तर्क' होता है, तो चौथी ओर व्याप्तियाँ, उपस्थापनाएँ (हाइपॉथेसेज) और सिद्धात बिखरे होते हैं। इतने पर भी जिस ज्ञान की प्राप्ति हमे होती है, वह अनेक अनिश्चितताओ, शकाओ तथा विवादो से आक्रात रहता है।[1]

दूसरी ओर हमारा 'स्व' का ज्ञान, अधिक प्रत्यक्ष होते हुए भी, हमारे स्वात्म का केवल सतही ज्ञान होता है, क्योंकि सामान्य अन्तरावलोकन केवल बाह्य चेतन या जाग्रदवस्था की क्रियाओ का ही ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकता है, स्वप्नावस्था (सब्‌काशिएट) तथा सुषुप्त्यवस्था (अन्‌काशिएट) का नही। चेतना के इन तीनो धरातलो को समाहित एव सचालित करनेवाला जो हमारा अन्तरतम स्वरूप है, हमारा व्यापक व्यक्तित्व है, उसके क्रिया-कलापो की व्याख्या इस सामान्य अन्तरावलोकन द्वारा सन्दिग्ध है। हमारे स्वात्म की गहराइयाँ, हमारी प्रकृति के निगूढ रहस्य उस दीवार की ओट मे है, जो हमारी बहिर्मुख चेतना तथा अह-पीडित मस्तिष्क ने खडी कर ली है।

ज्ञान की अपूर्णता का कारण

इस प्रकार, आत्म-अज्ञान तथा जग-अज्ञान की दुहरी भित्तियो मे आबद्ध रहने के कारण हमारा ज्ञान अपूर्ण और सीमित है।[2] ज्ञान की पूर्णता, आत्मा तथा विश्वात्मा—दोनो के आतरिक सत्य-ज्ञान की प्राप्ति मे है। यह तभी सम्भव है, जब इस दुहरी भित्ति का विनाश हो। जिस प्रकार मुर्गी का बच्चा अण्डे के कठोर छिलके को तोडकर बाहर के अनन्त मुक्त वातावरण मे पहुँच जाता है, उसी प्रकार हमारे स्वात्म को भी व्यक्तिगत शरीर-मन की रुद्ध कोठरी से निकालकर विश्व-शरीर तथा विश्व-मन से एकात्म करना होगा।

---

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, जिल्द 2, पृ० 629।
2. वही, पृ० 632।

अरविन्द की मान्यता है कि आत्मज्ञान और विश्वात्मज्ञान में से प्रथम को ही प्राथमिकता देनी चाहिये, क्योकि उसके सत्य का ज्ञान होने पर दूसरे का, अर्थात् बाह्य विश्व का सत्य स्वत प्रकट हो जायगा।[1] वस्तुत बाहर हम जो कुछ है, वह हमारे 'भीतरी कुछ' का ही रूपान्तर है। हमारे समस्त कार्य, समस्त उपक्रम, प्रेरणाएँ सहजावबोध, जीवन-हेतु, इच्छाशक्ति के निर्णय—सब वही से उद्भूत होते है। यह "कुछ" कोई रहस्यमय अस्तित्व नही, हमारी महत्तर चेतना (सब्लिमिनल सैल्फ) ही है। चेतना के उच्चतर धरातल तक पहुँचने पर या इससे एकात्म हो जाने पर, अपने विचारो और भावनाओ के उद्गम तथा अपनी चेष्टाओ के आदि स्रोत हम सहज ही देख सकते हैं।[2]

अन्तःज्ञान के उद्घाटन में सहजज्ञान की सक्षमता

पर, इस महत्तर चेतना तक पहुँचने के लिये सामान्य प्रतिबोधन या अन्तरावलोकन अपर्याप्त है। हमारी ज्ञान-क्षमता ज्ञातव्य के उपयुक्त होनी चाहिये। हमारी महत्तर चेतना को, जो असीम है, जानने के लिये ऐसे ज्ञान-स्रोतो की आवश्यकता है, जो सीमित पदार्थों का ज्ञान कराने वाले साधनो मे भिन्न हो। उस अन्तरतम अतिभौतिक चेतना का ज्ञान किसी श्रेष्ठतर तर्क या श्रेष्ठतर मनोवैज्ञानिक सिद्धात द्वारा ही सम्भव है। सहजज्ञान (इट्यूशन), जो सामान्य अन्तरावलोकन का ही उच्चतर विकसित रूप है, ऐसा ही एक सिद्धात है। अत, अन्तिम सत्य को जानने के लिये, ऐसे श्रेष्ठतर सिद्धान्त को दार्शनिक खोज के आवश्यक उपादान के रूप मे स्वीकृत किया जाना चाहिये। भारतीय मनोविज्ञान 'ज्ञाता' के विकास तथा उसकी पात्रता पर जो इतना बल देता है, वह अवैज्ञानिक नही है। विज्ञान मे भी, वैज्ञानिक की विशिष्ट निरीक्षण-क्षमता अपेक्षित होती है।

महच्चेतन की अद्भुत क्षमता

हमारे भीतर की महत्तर चेतना, जो जाग्रदवस्था की चेतना से उच्चतर है, जागतिक पदार्थों एव प्राणियो से प्रत्यक्ष तथा सीधा सम्पर्क स्थापित करने की शक्ति रखती है। यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की सूक्ष्म शक्ति से सम्पन्न है। ऐसी कोई वस्तु नही जिसे वह बिम्ब-रूप मे न देख सके अथवा जिसे ऐन्द्रियिक सवेदन मे न बदल सके। दूर-दृष्टि, सम्मोहन, वशीकरण, विचार-सक्रमण (टेलीपैथी) आदि अतिप्राकृत शक्तियाँ वस्तुत इस अन्तर्मन या

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ० 632।
2 वही, पृ० 634।

अन्तश्चेतन की शक्तियाँ हैं, बाह्य चेतन की नहीं। बाह्य चेतन में जो वे कभी-कभी दिखाई पड़ जाती हैं, वह उन छिद्रों या दरारों के कारण, जो इन दोनों के बीच अहम् द्वारा खड़ी की गई दीवार में हैं।[1] इस सम्पर्क की साधना में उसे किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती, उसकी आत्म-अन्तर्दृष्टि उन्हें सीधे स्वयमेव जान लेती है। इसके द्वारा हम अपने चारों ओर के प्राणियों के विचारों, उनकी भावनाओं और व्यक्तियों पर परस्पर पड़नेवाले उन विचारादि के प्रभावों तथा उनके आगमन का सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उन सब लोगों के मध्य, जो साथ रहते हैं, या मिलते-भिड़ते हैं, एक सूक्ष्म शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक आदान-प्रदान चलता रहता है।[2]

इतना ही नहीं, यह महत्तर चेतना हमें इस योग्य भी बनाती है कि हम, विश्व में व्याप्त व्यक्तित्वहीन (इपर्सनल्) शक्तियों के प्रति आकृष्ट होकर उनका सीधा ज्ञान प्राप्त कर सकें। हम निरन्तर ऐसी अदृश्य प्राण-शक्तियों एवम् मन शक्तियों के बीच रहते हैं, जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते, जिनके अस्तित्व का भी हमें पता नहीं है। उनकी इस समस्त अदृश्य हलचल के प्रति हमारी यह अन्तश्चेतना हमें जाग्रत बना देती है, क्योंकि उसे इसका ज्ञान अन्तर्दृष्टि तथा अपरोक्ष सम्पर्क से प्राप्त होता है। वह अन्तर्व्यक्तित्व इन ब्रह्माण्ड शक्तियों के न केवल वर्त्तमान कार्य-कलापों को देखता एवम् उनके फल की अनुभूति करता है अपितु किसी सीमा तक उनके भावी व्यापारों का भी अनुमान कर लेता है। समय की सीमा पर वह सहज ही विजय प्राप्त कर लेता है। फलत वह आनेवाली घटनाओं को सूँघ सकता है और झाँककर भविष्य में भी देख सकता है।[3] यह सब कुछ सम्भव है, क्योंकि ज्ञाता तथा ज्ञेय में एक ही चेतना व्याप्त है। ज्ञान की यह गुप्त-निगूढ पद्धति हमारी आज की मन स्थिति को धूमिल तथा अस्पष्ट प्रतीत होती है। पर, जब हमारी महत्तर चेतना, अपने अह की सीमाओं का त्याग कर, ब्रह्माण्ड-चेतना से तादात्म्य कर लेती है, तब वह स्वत उज्ज्वल और स्पष्ट हो उठती है।

तादात्म्य के दो रूप : अधिचेतन तथा अतिचेतन

महत्तर चेतना से, चाहे वह ब्रह्माण्ड-चेतना से तादात्म्य की स्थिति में ही क्यों न हो, उच्चतर ज्ञान की ही प्राप्ति होती है, पूर्ण और मौलिक ज्ञान की नहीं।[4] यह देखने के लिये कि अपने विशुद्धतम रूप में तादात्म्य-ज्ञान कैसा है,

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, जिल्द 2, पृ० 637।
2. वही, पृ० 640।
3. वही, पृ० 647।
4. वही, पृ० 647।

वह किस प्रकार उद्भूत होता है तथा किस प्रकार अन्य ज्ञानस्रोतो का उपयोग करता है, हमे अन्तश्चेतन, अर्थात् महत्तर चेतना के दो अन्य छोरो अधिचेतन (सब्का-शिएट) तथा अतिचेतन (सुपरकाशिएट) तक जाना पडता है। अधिचेतन, अपने रहस्य हमारे सम्मुख नही खोलता, क्योकि तादात्म्य-रूप होते हुए भी, उसका ज्ञान, प्रकाश-रूप न होकर, अन्धकार-रूप है। पर, उच्चतम अतिचेतन की श्रेणियां, मुक्त और ज्योतिर्मय आध्यात्मिक चेतना पर आधृत हैं। यही पहुँच कर हम ज्ञान की मूल शक्ति के दर्शन कर सकते है, तथा ज्ञान की दो पृथक् श्रेणियो—तादात्म्य ज्ञान और सभेद ज्ञान के अन्तर को देख सकते हैं। वहाँ हम पाते हैं कि सत्ता (बीइग) और चेतना एक ही हैं।[1] सर्वोच्च कालातीत सत्ता (ब्रह्म) मे चेतना कोई पृथक् सत्ता नही है, सत्ता मे निहित विशुद्ध स्व-प्रतीति है, क्रिया नही, दशा है। यहाँ ज्ञान की कोई आवश्यकता नही है, सत्ता अपने निकट आत्मज्ञात है। यह जानने के लिये कि 'मैं हूँ', उसे अपने पर दृष्टि नही डालनी पडती। उसके लिये वह सब कुछ स्व-प्रकट है, क्योकि सब कुछ उसी मे है। यही काल-सापेक्ष सत्ता (आत्मा) के सबध मे भी सत्य है। इसे यदि ब्रह्माण्ड-सत्ता पर घटित किया जाय, तो हम देखेंगे कि आत्मचेतना के भीतर ही ब्रह्माण्ड चेतना की प्रतीति हो रही है। यही पूर्ण (इटीग्रल) ज्ञान की स्थिति है, पूर्ण ज्ञान, जो केवल तादात्म्य (आइडेण्टिटी) द्वारा ही प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

1. प्रमा, अर्थात् सत्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। सशयवादियो की भाँति ज्ञान की प्राप्ति मे किसी प्रकार का सन्देह अरविन्द को नही है। उनकी तो मान्यता है कि पूर्णता की सीमा तक ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। पूर्ण ज्ञान, केवल तादात्म्य द्वारा ही सम्भव है।

2 केवल तादात्म्य ही प्रमाण है। अन्य साधनो से भी ज्ञान की प्राप्ति होती है, पर वह आशिक ज्ञान होता है, समग्र ज्ञान नही। अन्य साधनो से प्राप्त होने वाले ज्ञान की सापेक्षिक प्रामाणिकता, चेतना के धरातल की उच्चता के अनुपात मे होती है।

3 चेतना के अनेक धरातल है, जिनमे तीन प्रमुख हैं। निम्नतम धरातल 'बाह्य चेतन' है। यह हमारी चेतना का सामान्य धरातल है। इद्रियाँ, मनस्, बुद्धि तथा सामान्य अन्तरावलोकन की क्रियाएँ इसी धरातल से निष्पन्न होती है। मानव का समस्त ज्ञान बहिर्मुख ही रहता, यदि उसके बाह्य चेतन मे, अन्त-

1. श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, जिल्द 2, पृ० 653।

रावलोकन की शक्ति नही होती। यह अन्तरावलोकन ही उच्चतर एवम् समग्र ज्ञान की कुजी है।

4 वाह्य चेतना से ऊपर महत्तर चेतना का धरातल है। यहाँ से सहज ज्ञान (इंट्यूशन) की क्रिया सम्पन्न होती है। सहज ज्ञान, अन्तरावलोकन की ही समुचित विकास-प्राप्त दशा है। सक्रिय हो जाने पर यह चेतना वस्तुओ, प्राणियो एव घटनाओ का वास्तविक सत्य ज्ञान, बिना किसी मध्यस्थता के सीधे, स्वयमेव प्राप्त कर लेती है। यह अनेकानेक अलौकिक शक्तियो से सम्पन्न है।

5. महच्चेतना से ऊपर 'अतिचेतन' का धरातल है। यहाँ 'ज्ञाता' की 'ज्ञेय' के साथ तादात्म्य-अवस्था से पूर्ण एव समग्र ज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ सत्ता और चेतना का ऐकात्म्य दिखाई पडता है।

6 ज्ञान दो प्रकार का है अभेद और सभेद। अभेद ज्ञान 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' के पूर्ण ऐकात्म्य या तादात्म्य से उत्पन्न होता है। सभेद ज्ञान मे 'ज्ञाता' और 'ज्ञेय' की पृथक् स्थिति बनी रहती है। ज्ञाता का ज्ञेय के साथ सम्पर्क कैसा है, इस दृष्टि से, सभेद ज्ञान के दो वर्ग है प्रत्यक्ष-सम्पर्क-जन्य तथा अप्रत्यक्ष-सम्पर्क जन्य। इनमे से प्रथम, अर्थात् प्रत्यक्ष-सम्पर्क-जन्य ज्ञान भी, सम्पर्क की घनिष्ठता की दृष्टि मे दो भागो मे विभक्त है गहन-प्रत्यक्ष-सम्पर्क-जन्य तथा तटस्थ-प्रत्यक्ष-सम्पर्क-जन्य। ज्ञान-स्रोत की दृष्टि से, द्वितीय भी दो श्रेणियो मे विभक्त है तर्क-जन्य तथा इन्द्रिय-जन्य। चित्र द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार रखा जा सकता है
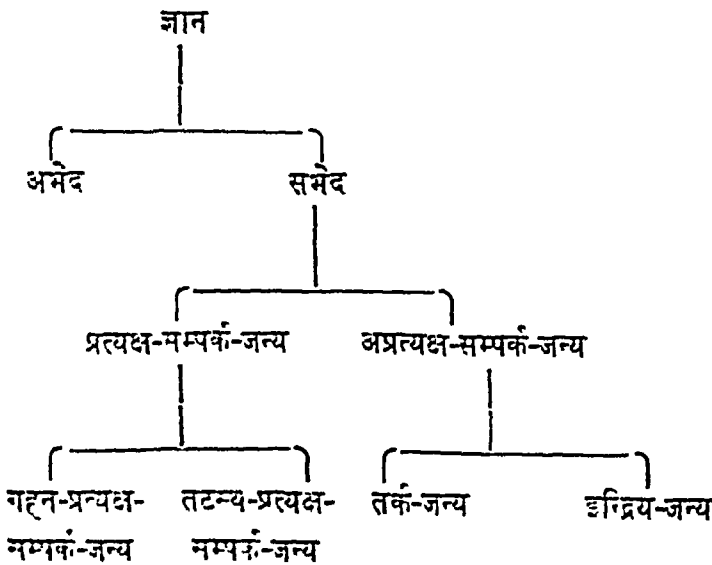
7 भारतीय दर्शन मे साधारणतया स्वीकृत प्रमाणो—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को यदि इस वर्गीकरण मे स्थान दिया जाय, तो प्रथम

तीन प्रमाण, 'अप्रत्यक्ष सम्पर्क-जन्य' ज्ञान के उत्पादन के कारण हीन-महत्त्व के अधिकारी होंगे। 'शब्द' को अवश्य, 'अभेद' ज्ञान का जनक होने के कारण शीर्ष स्थान प्राप्त होगा।

समीक्षा

पाश्चात्य तथा भारतीय मनोविज्ञान का अन्तर

अरविन्द-दर्शन पर किये जाने वाले आक्षेप एक निश्चित सीमा तक कम हो जाते हैं, यदि पाश्चात्य तथा भारतीय मनोविज्ञान का अन्तर समझ लिया जाय। पाश्चात्य मनोविज्ञान एक प्रकृत (नेचुरल) विज्ञान है। मानव-चेतना का अध्ययन वह उसके वर्तमान रूप में ही करता है। चेतना के केवल 'है' से उसका संबंध है। दूसरी ओर, भारतीय मनोविज्ञान, न तो प्रकृत विज्ञान है और न वैधिक विज्ञान ही। उसमें न तो चेतना का 'है' प्रधानता पाता है और न उसका 'चाहिये'। वह तो इन दोनों का समाहार करनेवाला, चेतना के विकास का विज्ञान है। वह मानव-चेतना के न केवल वर्तमान रूप पर विचार करता है, अपितु, इससे आगे बढ़कर, भविष्य में हो सकनेवाले इसके सम्भाव्य विकास तथा उस विकास की प्राप्ति में योग देने वाले उपायों का भी अध्ययन करता है।

भारतीय मनोविज्ञान की वैज्ञानिकता

भारतीय मनोविज्ञान, मानव-चेतना को केवल जाग्रदवस्था की प्रयोग-सिद्ध क्रियाओं तक सीमित नहीं मानता, उसे उसकी समग्रता में ही स्वीकार करता है। यहाँ के प्राचीन मनोविज्ञान ने चेतना के तीन धरातल स्वीकार किये थे: जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन्हीं को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय और विज्ञानमय पुरुष कहा गया था। हमारी सतही जाग्रदवस्था हमारे व्यक्तित्व का एक बहुत छोटा भाग है। इसीलिये, वह हमारे स्वरूप के मूल स्रोतों का पता देने में असमर्थ है। ये मूल स्रोत हमारे भीतर गहरे छिपे हैं। मन की स्वप्नावस्था (सब्-कांशिएण्ट) तथा सुषुप्ति-अवस्था (इन्कांशिएंट) के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर उन मूल स्रोतों का पता लगाना, तथा यथासम्भव, मानव की समृद्धि में उनका समुचित उपयोग करना ही वैज्ञानिक मनोविज्ञान है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में, प्रकृति की गुप्त अन्तर्निहित शक्तियों का उद्घाटन, इस सम्भावना के भी द्वार खोल देता है कि मनुष्य अपने उत्थान तथा विकास के लिये उन शक्तियों का उपयोग कर सके। ठीक इसी प्रकार, चेतना की अन्तःशक्तियों का उद्घाटन भी मनुष्य के आध्यात्मिक विकास को अग्रसर करने के लिये उपयोगी बनाया जाना चाहिए।

अन्तश्चेतन की सचेतनता

अब तो फ्रायड, जुग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने भी स्वीकार कर लिया है कि जाग्रत चेतना, हमारी समग्र चेतना का एक स्वल्प भाग है, जिस प्रकार पानी मे तैरते हुए हिम-खड का एक बहुत ही छोटा भाग सतह के ऊपर रहता है। प्रश्न उठता है कि हमारा अन्तर्व्यक्तित्व अर्द्धचेतन है या अचेतन ? अरविन्द का कहना है कि यदि वह अचेतन है, तब तो उसका ज्ञान प्राप्त करना, उसका प्रकाशित होना असम्भव है, क्योकि प्रकाश वहाँ कोई नही है ; यदि वह अर्द्धचेतन या आवरित चेतना से युक्त है, ऐसी चेतना से जो हमारी जाग्रत चेतना मे अधिक महान्, अधिक शक्ति-सम्पन्न है, तो आत्मविकास की सम्भावनाओं का एक सीमाहीन विस्तार हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है और मानव-जाति अनन्त सम्भावनाओ की दिशा मे गतिशील हो सकती है। मनोविज्ञान, जो हमारे अन्तर्व्यक्तित्व को अचेतन मानकर अग्रसर होता है, वस्तुत मनोविज्ञान न होकर, शरीर-क्रिया-विज्ञान (फीजिऑलॉजी) का ही विस्तार है। ऐसा मनोविज्ञान चेतना को, अचेतन पर अचेतन के कार्य का परिणाम मानता है। मनस् उसके लिये ज्ञान-तन्तुओ की प्रतिक्रियाओ का लेखा-मात्र है। पर, मनोवैज्ञानिक शोध की एक और भी दिशा है, जिसने हमे आत्मिक अनुसंधान की नई भूमि पर पहुँचाया है। विचार-सक्रमण (टेलीपेथी), वशीकरण आदि विचित्र मन स्थितियाँ एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत करती है कि हमारा अन्तश्चेतन सचेतन है, अचेतन नही। भारत का प्राचीन मनोविज्ञान इसी सत्य पर पहुँचा था।

मेअर्स का 'अचेतन साइकी' का सिद्धांत

पश्चिम मे, पहले-पहल सन् 1886 ई० मे जब फ्रेडरिक डब्ल्यू० एच० मेअर्स ने अचेतन मन (द अन्काशिअस साइकी) का पता लगाया, तब वहाँ के मनोवैज्ञानिक जगत् मे बडी हलचल मची। विलियम जेम्स ने इस खोज का बडे प्रशसात्मक शब्दो मे उल्लेख किया है।[1] मेअर्स की खोज का निष्कर्ष यह था कि अपने केन्द्र के चतुर्दिक् हमारी सामान्य चेतना का तो एक वृत्त है ही, उसके अतिरिक्त तथा उससे बिल्कुल ही बाहर—स्मृतियो, विचारो तथा अनुभूतियो से भरा एक और भी वृत्त है, जो सामान्य चेतना-क्षेत्र से बाहर होने पर भी, एक प्रकार की चेतना से युक्त है। सी० जी० जुग ने लिखा है कि यह खोज युगान्तरकारी है और विश्व के प्रति हमारे दृष्टिकोण मे व्यापक परिवर्तन करने वाली है। यदि

1 वेरायटीज ऑव रिलीजियस एक्सपीरिएंस, पृ० 233।

लोग एकाएक विश्वास भी नही करेंगे कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक कार्ल गुस्ताव जुग ऐसी बाते लिख सकता है। पर, यह सब कुछ उसी की लेखनी से निकला है। वस्तुत, अपने जीवन-काल के अन्तिम वर्षों मे, चिन्तन की जो उपलब्धि जुग को हुई, उसकी परिणति उसके 'आत्मा' सिद्धात मे होकर रही। जुग की इस अलौकिक शक्ति-सम्पन्न 'साइकी' तथा अरविन्द की 'महच्चेतना' को पास-पास रखकर देखे, तो पहचान करने मे कदाचित् भूल हो जाय। स्थूल, भौतिक तथा बहिर्मुख दृष्टि का जितना रहस्यवाद अरविन्द की महच्चेतना (सब्लिमिनल) मे दिखाई पडता है, उससे कम जुग की 'साइकी' मे नही मिलेगा। वस्तुत यह रहस्यवाद नहीं है, शेखचिल्ली की कल्पना नही है, यह विशुद्ध स्वानुभूति है। यह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति हो सकती है, जो उसे प्राप्त करने के लिए इच्छित प्रयत्न करे। अन्यथा, तर्क और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने मात्र से, किसी सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकृत कर देना, केवल पूर्वाग्रह या दुराग्रह ही हो सकता है और इस दृष्टि से तो विज्ञान के भी अनेकानेक शोध 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत आ जायेगे।

'संघटन सम्प्रदाय' का 'समग्र चेतन'

न केवल जुग, अपितु 'सघटन सम्प्रदाय' (आर्गेनिज्मिक स्कूल) के ढेर सारे वर्त्तमान मनोवैज्ञानिको (गोल्डस्टीन, अग्याल, मैस्लो, लैकी, आलपोर्ट, मरे, मर्फी) आदि की विचारधारा अरविन्द के समग्र (इटीग्रल) योग की धारणा से मेल खाती है। अरविन्द के अनुसार, हमारी चेतना के सभी धरातलो—जिसमे तथाकथित जड पदार्थ की चेतना का धरातल भी सम्मिलित है—का समन्वित रूप ही हमारा वास्तविक व्यक्तित्व है। 'सघटन-सम्प्रदाय' के मनोवैज्ञानिक भी व्यक्तित्व की समग्रता के हामी है। व्यक्तित्व को वे एक और अखण्ड मानते है। सत्रहवी शती मे देकार्ते ने, प्राणी को दो परस्पर प्रभावित करनेवाले पृथक् खडो—शरीर तथा मनस् मे विभक्त कर दिया था। आगे चलकर 19वीं शती मे वुण्ट ने उसे सवेदनो, बिम्बो और अनुभूतियो के छोटे-छोटे टुकडो मे बिखेर दिया। तब से अब तक लगातार इस बात के प्रयत्न हो रहे है कि व्यक्तित्व की एकता की पुन प्रतिष्ठा कैसे हो! ऐसा ही एक प्रयत्न इन सघटनवादियो का है।

सघटनवाद का मूलभूत सिद्धात यह है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एक मनो-भौतिक (साइको-फीज़िकल) इकाई है जिसके अशी तथा अग परस्पर अवि-भाज्य है। इस घट-मनस् इकाई का अध्ययन शरीरशास्त्री एक दृष्टि से, मनोवैज्ञानिक दूसरी दृष्टि से, समाजशास्त्री या कि नृतत्त्वशास्त्री तीसरी दृष्टि से कर सकता है। पर, इस प्रकार ऐकान्तिक दृष्टि से इनमे से कोई भी

उसका ठीक-ठीक अध्ययन नही कर सकता। इसीलिये, सघटन का सिद्धात व्यक्तित्व की समग्रता पर बल देता है। इस समग्रवादी दृष्टिकोण के ही कारण उसकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति के अनेकानेक कार्यों के मूल मे एक ही शक्ति कार्यशील रहती है।[1] मैक्डूगल ने चौदह पशु-वृत्तियाँ (इस्टिक्ट्स) मानी थी, पर 'आत्मरक्षण' (सेल्फ-प्रिजर्वेशन) के अन्तर्गत उन सबका समाहार हो गया था। बर्गसा ने उस मूल प्रेरणा को 'इलान वाइटल' का नाम दिया। इसी प्रकार सघटन स्कूल भी एक ही मूलभूत प्रेरणा मे आस्था रखता है।

गोल्डस्टीन का 'आत्म-प्राप्ति' का सिद्धांत

स्कूल के प्रतिष्ठापको मे एक डा० कुर्ट गोल्डस्टीन ने उस मूल प्रेरणा को 'आत्मप्राप्ति' (सेल्फ–रियलाइजेशन) नाम दिया है। आत्मप्राप्ति की अवधारणा यह मानकर चलती है कि मनुष्य के भीतर एक ऐसी जन्मजात वृत्ति कार्यशील रहती है, जो व्यक्ति को अपनी आत्मगत क्षमताओ की दिशा मे सहज ही अग्रसर करती है। परिणाम यह होता है कि वातावरण मे से प्राणी उन्ही स्थितियो का चयन करता है, जो उसे आत्मप्राप्ति की दिशा मे अग्रसर कर सके। यान्त्रिक विकासवाद के विरुद्ध गोल्डस्टीन, विकास का मूल कारण प्राणी के भीतर ढूँढता है, बाहर के वातावरण मे नही। उसका आत्मप्राप्ति का यह सिद्धात, अरविन्द के 'लीला-सिद्धात' के समानान्तर प्रवाहित होता है।

तत्त्वमीमांसा

तत्त्वमीमांसा का आशय

सृष्टि के सत्य को समझने का प्रयत्न तत्त्वमीमासा कहलाता है। तत्त्व से तात्पर्य ऐसे पदार्थ से है जिसकी स्वतत्र सत्ता हो अर्थात् अपने अस्तित्व के लिये जो किसी अन्य सत्ता पर अवलवित न हो। इस प्रकार ईश्वर, जगत्, प्रकृति, जीव, माया, बन्धन, मोक्ष, जन्म, मृत्यु, आदि प्रश्नो का विवेचन तत्त्वमीमासा का प्रधान अग है।

अरविन्द दर्शन—एक विकासवादी दर्शन

अरविन्द-दर्शन एक विकासवादी दर्शन है, अत उसकी तत्त्वमीमासा विकासवाद ही की दृष्टि से की जानी चाहिये। विभिन्न तत्त्वो की पृथक्-पृथक्, बिखरी-बिखरी सी व्याख्या कर, ऊपर से विकासवाद को परिशिष्ट की भाँति चिपकाने का

---

1. काल्विन एस० हाल एण्ड गार्डनर लिडज़े . थ्योरीज ऑव परसोनेलिटी, पृष्ठ 196 ।

अर्थ, दर्शन की एकता एवं समग्रता को, टुकड़ो मे विखेर देना है। यहाँ प्रयत्न किया जायगा कि अरविन्द-दर्शन के विखरे हुए मनको को, फिर से विकासवाद के सूत्र में पिरोकर लुप्त एकता की पुनर्प्रतिष्ठा की जाय। वस्तुत. अरविन्द का समस्त दर्शन विकासवाद की चूल पर विवर्तित होता है।[1]

अरविन्द द्वारा पूर्व-पश्चिम के विकास-सिद्धांतो का समन्वय

अरविन्द ने चूँकि पूर्व एवं पश्चिम के विकास-सिद्धातो का समन्वय किया है[2] अत अरविन्द के विकासवाद का विवेचन करने से पूर्व, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विकासवाद के सक्षिप्त इतिहास का परिचय प्राप्त कर लिया जाय। पश्चिम का विकासवाद अस्तित्ववादी, बुद्धिवादी एवम् सार्वभौम (कॉस्मिक) रहा है तथा अध्यात्म के अभाव से पीड़ित रहा है। दूसरी ओर पूर्व के विकासवाद का स्वर आध्यात्मिक एवम् व्यक्तिनिष्ठ रहा है तथा सार्वभौमता की उपेक्षा करता रहा है[3]। श्री अरविन्द ने दोनो अतिवादी दृष्टियो का समन्वय करते हुए अपने पूर्ण (इटीग्रल) विकासवाद की प्रतिष्ठा की है।

विकासवाद का इतिहास

विकास-सिद्धांत के प्राचीन रूप

विकासवाद का दर्शन अति प्राचीन है। भारत मे कपिल मुनि (छठी शताब्दी ई० पू०) के सांख्य दर्शन तथा ग्रीस देश में विकसित हुए अनाक्सीमेडर (611-546 ई० पू०) तथा अनाक्सागोरस (500–428 ई० पू०) की दर्शन-पद्धतियो मे विकासवाद का प्रारमिक स्वरूप दिखाई पड़ता है। पर यहाँ विकास का कोई वैज्ञानिक आधार न होने के कारण, वह मात्र कवि-कल्पना (स्पेकुलेशन) रह गया है, दर्शन के स्तर तक नही उठ सका है। विकासवादी दर्शन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाला पहला व्यक्ति अरस्तू (384–323 ई० पू०) था जो स्वय एक प्राणिशास्त्री था।

वैज्ञानिक विकासवाद का प्रारम्भ

पर जिसे वैज्ञानिक विकासवाद कहा जाता है उसका प्रारभ ईसा की 18वीं, 19वी शती से होता है जब प्राणिविज्ञान के क्षेत्र मे व्यापक अनुसंधान के

---

1. द इंटीग्रल फिलासफी ऑव श्री अरविन्दो, संपादक हरिदास चौधुरी, 1960, पृष्ठ 133।

2-3. वही, पृ० 133।

परिणाम-स्वरूप अनेक नवीन तथ्य प्रकाश मे आये। फ्रेंच प्राणिशास्त्री ला मार्क (1744–1829 ई०) आधुनिक वैज्ञानिक विकासवाद का जनक कहा जाता है।

विकास की प्रक्रिया सर्वथा प्रयोजनहीन है अथवा सप्रयोजन, इस प्रश्न के उत्तर मे विकासवाद का सिद्धात दो स्थूल वर्गो मे विभक्त हो जाता है यत्रवाद और हेतुवाद। यह पूछे जाने पर कि विकास धीरे-धीरे सतत रूप मे होता है अथवा आकस्मिक क्राति के रूप मे, वह दो अन्य भेदो मे वर्गीकृत हो जाता है. सातत्यवाद और नव्योत्क्रातिवाद।

यन्त्रवादी सिद्धान्त

यंत्रवादी विकास

समान कारण समान कार्य उत्पन्न करता है, इस सिद्धात को यत्रवाद कहते हैं। जिस प्रकार निर्जीव यत्र अपनी नियत पद्धति पर कार्य करता चला जाता है, उसी प्रकार प्रकृति भी अपने अध भौतिक नियमो द्वारा विकसित होती चली जाती है। विकास का न तो कोई निश्चित लक्ष्य है और न उसका कोई सचेतन मार्गदर्शक ही। वह एक अन्ध प्रक्रिया है जो कारण-कार्य पद्धति पर अग्रसर होती रहती है।

यात्रिक विकासवाद के दो चरण है ब्रह्माड विकास तथा जैविक विकास।

हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर (1820–1903 ई०) ने अपनी पुस्तक 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स' (1862 ई०) मे ब्रह्माड-विकास के अपने दर्शन की स्थापना की। उसके अनुसार अज्ञात परमतत्त्व के तीन गुण हैं—पुद्गल, गति तथा शक्ति।[1] आदि एकरूप पुद्गल मेघरेणु (नेबुला) अर्थात् वाष्पकणो के रूप मे था। वह बहुत बिखरा हुआ तथा निरन्तर हलचल की स्थिति मे था। भौतिक शक्तियो की क्रिया के कारण यह धीरे-धीरे गोलाकारो मे एकत्र होकर घनीभूत होने लगा। गुरुत्वाकर्षण के कारण वह अधिकतम घनत्व के केन्द्र की ओर बढने लगा और ऐसा करते हुए, केन्द्र के चतुर्दिक् घूमने लगा। इस प्रकार अधिकतम घनत्व का केन्द्र 'सूर्य' विकसित हुआ तथा उसके चतुर्दिक् घूमते हुए वाष्पाणुओ के व्यूह जम कर 'ग्रह' बन गये।[2]

इस प्रकार स्पेन्सर के मतानुसार समन्वयीकरण तथा विभेदीकरण की

---

1. डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनु०—प्रो० गोपीनाथ अग्निहोत्री), द्वि० स०, पृ० 46।
2. डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनु०—प्रो० गोपीनाथ अग्निहोत्री), द्वि० स०, पृष्ठ 48।

दुहरी प्रक्रिया सृष्टि के विकास का मूलभूत कारण है।[1] जैविक तथा सामाजिक विकास में भी यह दुहरी प्रक्रिया कार्य करती है।[2] जहाँ तक जीव का प्रश्न है, पहले जीवाणु (प्रोटोप्लाज्म) मिलकर एक गोलाकार समन्वित रूप प्राप्त करते है, फिर भिन्न-भिन्न शारीरिक क्रियाएँ निष्पन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न अग विकसित हो जाते है। इसी प्रकार समस्त व्यक्ति समन्वित होकर पहले समाज बनाते हैं, फिर श्रम-विभाजन के आधार पर विविध वर्गो मे बँट जाते हैं।

चार्ल्स डार्विन

चार्ल्स डार्विन (1809-1882 ई०) ने 'ओरिजिन ऑव स्पिशीज' (1859 ई०) तथा 'डिस्सेट ऑव मैन' (1871 ई०) नामक दो ग्रन्थ लिख कर अपना जैविक विकास का सिद्धात प्रतिपादित किया। उसके अनुसार जैविक विकास का मूल कारण, शरीर-कोष्ठो (बॉडी-सैल्स) मे होने वाले आकस्मिक एव स्वत सभवी परिवर्तन[3] हैं जिनके निर्माण मे वाह्य परिस्थितियो का कोई हाथ नही रहता। इन परिवर्त्तनो मे से कुछ तो प्राणी के अनुकूल होते हैं और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल परिवर्तनो की सख्या अधिक होने पर, प्राणी, जीवन-सघर्ष मे विजयी होकर अतिजीविता प्राप्त करता है।[4] प्रतिकूल परिवर्तन अधिक हो जाने की दशा मे वह नष्ट हो जाता है। अनुकूल परिवर्तन वश-परम्परा द्वारा अगली पीढी मे परिवहित हो जाते हैं और पूरी जाति के लिये भी उपयोगी सिद्ध होते हैं।[5] विकास-क्रम मे, उनसे नई प्रजातियाँ उत्पन्न होती हैं। पृथ्वी के प्राणियो में भोजन के लिये होने वाला सघर्ष ही जीवन-सघर्ष है। इस सघर्ष में प्रकृति योग्यतम प्राणी का ही चुनाव करती है जिसे डार्विन ने 'नेचुरल सिलेक्शन' कहा है।

वीसमान

वीसमान (1834-1914 ई०) का निष्कर्ष था कि अर्जित प्रवृत्तियो का शरीर-कोष्ठो पर भले ही प्रभाव पड़े पर जान्तव कोष्ठो को वे किसी भी

---

1 राधाकृष्णन्, हिस्ट्री ऑव फिलासफी ईस्टर्न एंड वैस्टर्न, द्वि० स०, पृष्ठ 355।

2 डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनु०—प्रो० गोपीनाथ अग्निहोत्री), द्वि० स०, पृष्ठ 49।

3. 4 वही, पृष्ठ 51।

5. वही, पृष्ठ 52।

प्रकार नही वदल सकते[1] और इस प्रकार, अर्जित प्रवृत्तियो का वश-परम्परा मे संक्रमण असभव है । स्वय जन्तव द्रव (जर्मप्लाज्म) मे ही होने वाले परिवर्तन सतति मे परिवहित होते है और वे ही विकास के मूल कारण[2] है । वीसमान का सिद्धात जीव-द्रव की प्रवहमानता का सिद्धात है। उसका कहना है कि पितृ-अड कोष मे सचित जीव-द्रव के कुछ अश का, वच्चे के शरीर की वनावट मे उपयोग नही होता और वह अगली पीढी के जान्तव कोष्ठ के निर्माणार्थ सुरक्षित रहता है ।

ह्यूगो डी व्राइज

ह्यूगो डी व्राइज जो 'एनोथेरा लेमार्किआना' पौधे की कुछ नवीन प्रजातियाँ विकसित करने मे सफल हुआ, ने 1900 ई० मे 'महत् परिवर्तनो' (म्यूटेशन्स्) का अपना सिद्धात प्रतिपादित किया । उसने कहा कि सामान्यतया सदृश, सदृश को ही उत्पन्न करता है पर कभी-कभी, वह नितान्त असदृश भी उत्पन्न कर देता है । इसी असदृश को डी व्राइज 'महत् परिवर्तन' कहता है और यही विकास का मूल कारण है ।[3] इन विपर्ययो के उदय का कारण क्या है, यह वताने म वीसमान का सिद्धात स्वय को असमर्थ पाता है ।

अभी तक विकास के जिन सिद्धातो से हमने परिचय प्राप्त किया है वे परिवृत्तियो (वेरिएशन्स) को सायोगिक, स्वत सभवी एव वाह्य परिस्थिति से निरपेक्ष मानते है । अव उन सिद्धातो का अवलोकन कर लिया जाय जो परिवर्तन को, आन्तरिक पर वाह्य के प्रभाव का परिणाम मानते है ।

ला मार्क

ला मार्क (1744-1829 ई०) ने चूहो पर किये गये अपने प्रयोगो के आधार पर प्रतिपादित किया कि प्राणी अपने अगो के प्रयोग अथवा अप्रयोग द्वारा अपने रूप (फार्म) मे परिवर्तन ला सकता है और कि जीवन-काल मे प्राणी द्वारा अर्जित नवीन लक्षण सन्तति मे परिवहित हो जाते है । परिवर्तन का कारण वाह्य परिस्थितियो की शरीर पर क्रिया तथा शरीर की वाह्य वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया है ।[4] वृक्षो की चोटियो की कोमल पत्तियो तक पहुँचने के प्रयत्न-स्वरूप 'जिराफ' के पूर्वजो की गर्दन लम्बी होने लगी । इस

1. डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनु०) द्वि० स०, पृ० 60 ।
2. वही, पृ० 60 ।
3. वही, पृ० 61 ।
4. डा० व्रजगोपाल तिवारी, पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग, प्रथम स० पृ० 76 ।

'प्रयत्न' में ला मार्क ने प्राणी की इच्छा का योगदान भी स्वीकार किया है ।[1]

डार्फमीस्टर तथा ईमर

डार्फमीस्टर तथा ईमर भी परिवर्तनों को सायोगिक न मान कर, वाह्य पर आतरिक के लगातार प्रभाव का परिणाम मानते हैं और समझते हैं कि मौलिक रासायनिक कारणो में ही विकास की कुजी छिपी है । 'तितली' पर विभिन्न प्रयोग कर डार्फमीस्टर ने प्रदर्शित किया कि उसी कोशशायी (क्रीसालिस) को, क्रमश शीत तथा ताप से प्रभावित कर, तितली की दो नितान्त ही भिन्न जातियो के रूप में विकसित किया जा सकता है और कि शीतोष्ण उपचार से एक मध्यवर्ती तीसरी जाति विकसित हो जाती है । इसी के साथ लवणाम्बुकीट (आर्टीमिआ मेलायना) को रख सकते हैं जिनके लवणाम्बु मे लवण की मात्रा के बढाने या घटाने पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखे जा सकते हैं । ईमर भी 'गिर-गिट' के त्वचा-वर्ण-परिवर्त्तन सबधी प्रयोगो के बाद उसी परिणाम पर पहुँचा, जिस पर डार्फमीस्टर पहुँचा था ।

नव्योत्क्रांतिवादी सिद्धान्त

नव्योत्क्रांतिवादी विकास

नव्योत्क्रातिवाद की मान्यता है कि विकास मे क्रातिकारी नवीनताओं की उद्भावना बराबर होती रहती है—ऐसी नवीनताएँ, जो अपने आविर्भाव से पूर्व विद्यमान न थी, यथा पुद्गल मे जीवन, तथा जीवन से मन की उत्क्राति ।

हेनरी बर्गसाँ

नव्योत्क्रातिवादी विकासवादियो मे बर्गसाँ (1859-1941 ई०) का स्थान अन्यतम है जिसने 'क्रिएटिव इवाल्यूशन' (1907 ई०) ग्रन्थ लिख कर विकासवाद के क्षेत्र में क्राति उपस्थित कर दी ।[2] बर्गसाँ 'गतिशील काल' को ही एक मात्र सत्ता मानता है । उसके अनुसार विगत के सम्पूर्ण क्षणो की शृखला के वेग मे प्रत्येक आगामी क्षण का सृजन होता है और इस प्रकार प्रत्येक क्षण अपने आप मे एक सृजन, एक सृष्टि होती है । इसीलिये बर्गसाँ ने अपने विकास-सिद्धात को 'सृजनात्मक' कहा है ।

---

1. डा० जे० एन० सिन्हा, दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद), द्वि० स० पृष्ठ 58 ।
2. राधाकृष्णन्, हिस्ट्री आव फिलॉसफी ईस्टर्न एड वैस्टर्न, द्वि० सं०, पृष्ठ, 356 ।

वर्गसाँ के मत मे, अन्तस्थ जीवन्त प्रेरणा ही, जिसे उसने 'इलान वाइटल' की सज्ञा दी हैं, विकास का मूल कारण हैं। यह जीवत प्रेरणा, यह जिजीविषा जीवन का स्वाभाविक धर्म है जिसका उद्दाम वेग प्राणी को अपने विकास-पथ पर ठेलता चलता है और उन समस्त प्रवृत्तियो को, जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप ने 'प्राण' मे निहित हैं, विकसित करता चलता है। किन्तु, विकसित या अभिवृद्ध होने की यह क्रिया, शीघ्र ही अपनी सीमा प्राप्त कर लेती हैं और तव वृद्धि के स्थान में, विभाजन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विभाजन की यह 'एटीथीसिस' भी स्वय प्राण मे निहित होती है क्योकि 'प्राण' एक प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति का विकास शस्य की बाल के रूप मे होता हैं। इस प्रकार विकास एक सरल रेखा की भाँति एक ही दिशा मे न होकर, अनेक दिशाओ में होता है।

जीवन या प्राण के बहुमुखी विकास को स्पष्ट करने के लिये वर्गसाँ एक विस्फोटक गोले[1] का उदाहरण देता है। गोला सहसा फट जाता है और उसके खण्ड अनेक दिशाओ ने उछल पडते हैं। इन खडो मे से प्रत्येक मे, फिर विस्फोट होता है और उत्क्षेपित खडाश फिर स्फोट के लिये प्रस्तुत रहते है और यह क्रम अनत काल तक चलता रहता हैं।[2] इसी प्रकार 'प्राण' की प्रवृत्तियाँ भी जातियो एव उपजातियो मे विभाजित होती चलती है। यह विभाजन और उपविभाजन चाहे जितनी बार हो, होता हैं उसी मूल प्रेरक शक्ति का। अत विभिन्न जातियो मे विकास-प्राप्त प्रवृत्तियाँ विरोधी होने पर भी, एक दूसरी की पूरक होती हैं।

पादप तथा पशु, एक ही जाति (जीनस) से विकसित प्रजातियाँ (स्पिशीज) हैं। अपना खाद्य जुटाने की विधि दोनो मे पृथक् है। पादप अपना भोजन, विशेषत कार्वन और नाइट्रोजन, सीधे पृथ्वी तथा वायु से खनिज रूप ने प्राप्त करता है। पर अपवाद-स्वरूप कुकुरमुत्तो (फगी) के कुछ प्रकार अपना खाद्य पशु-विधि से प्राप्त करते हैं तथा 'ड्रासेरा', 'डिआनका' एव समस्त कीट-भक्षी पादपो मे दोनो विधियाँ एक साथ देखने को मिलती हैं। वे पृथ्वी से तो खाद्य खीचते ही है, उडते हुए कीट-पतगो को भी पकड कर चूस लेते हैं।

पशु-जाति का स्फोट फिर दो श्रेणियो मे हुआ है एन्थ्रोपॉड तथा 'वर्टीब्रेट' (पृष्ठवशी)। प्रथम का चरम विकास कीट, विशेषत कलापक्षा (हायमेनोप्टेरा) मे हुआ तथा दूसरी का मनुष्य मे।[3] कलापक्षा मे सहजातवृत्ति (इंस्टिक्ट)

---

1 राधाकृष्णन्, हिस्ट्री आव फिलासफी ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न, पृ० 357।

2. हेनरी वर्गसाँ, क्रिएटिव इवॉल्यूशन, (अंग्रेजी अनु० आर्थर मिचेल), पृष्ठ 10

3 हेनरी वर्गसाँ, क्रिएटिव इवॉल्यूशन, (अंग्रेजी अनुवाद आर्थर मिचेल) पृ० 148–49।

ही विकास का मूल कारण है क्योकि इसी के द्वारा पुद्गल से जीवन तथा जीवन से मन की उत्क्राति सभव होती है।[1]

मार्गन के, उपरिलिखित विकास के दो सिद्धात क्रमश. डार्विन-स्पेन्सर के यत्रवाद तथा वर्गसॉ के सृजनवाद का प्रभाव सूचित करते है। उसने जैसे दोनो के बीच समझौता कराने का प्रयत्न किया है, जैसे वह यत्रवाद और सृजनवाद के बीच मे बना मकान (हाफ-वे-हाउस) है।[2]

मार्गन ने बर्गसॉ के 'इलान व्हाइटल' के सक्रिय सिद्धात को मान्यता नही दी। पर आगे चलकर, उसे नव्योत्क्राति की व्याख्या करते हुए, विकास की पृष्ठभूमि मे एक सचेतन सत्ता (ईश्वर) की कल्पना करनी पडी। इस प्रकार वर्गसॉ का 'इलान व्हाइटल' सिद्धात जिसे उसने सामने के द्वार से फेक दिया था, पीछे के द्वार से पुन प्रविष्ट हो गया।[3]

सेमुअल अलेक्जेंडर

सेमुअल अलेक्जेडर (1859–1938 ई०) ने ब्रह्माड का विकास दिक्-काल से माना है। वर्गसॉ ने मात्र 'काल' की सत्ता स्वीकार की थी जो दिक्-शून्य था। अलेक्जेडर ने कहा कि दिक् के अभाव मे 'काल' क्षणिक अस्तित्वो की शृखला बन कर रह जाता है। काल मे दिक् के प्रवेश से, वास्तविक नैरन्तर्य तथा दिक् मे काल के प्रवेश से, विविधता उत्पन्न होती है।[4] यह दिक्-काल सत्ता विशुद्ध गति (मोशन) है।

अलेक्जेडर पुद्गल से जीवन तथा जीवन से मन की निर्गति मे सातत्य-भाव पाता है और विकास-क्रम मे न तो किसी प्रकार की विच्छिन्नता देखता है, न उत्क्राति। दिक्-काल की विशुद्ध गति से सर्व प्रथम विशिष्ट गतियाँ उत्पन्न होती है जिनसे पुद्गल का विकास होता है। पुद्गल से पुद्गलीय गुण तथा उन गुणो से प्राण का विकास होता है। जीवन से मन तथा अन्त मे, मन से दैवी शक्ति (डीटी) का विकास होता है।[5] इस विकास-सरणि मे 'मूल्यो' को विकसित न किया जा सका और अलेक्जेडर को उनकी विवेचना पृथक् रूप से करनी पडी। मूल्यो का विकास उसने व्यक्ति-चेतना के समाजीकरण से माना है।[6]

अलेक्जेडर ने सातत्य एव उत्क्राति मे समन्वय करने की असफल चेष्टा

1,2 राधाकृष्णन्, हिस्ट्री ऑव फिलासफी ईस्टर्न एड वैस्टर्न, पृ० 360।

3 वही, पृ० 361।

4 वही, पृ० 362।

5,6 वही, पृ० 363।

की है। दिव्य सत्ता (डीटी) को विकास की अन्तिम परिणति मान कर उसने उसे 'अपूर्ण' बना दिया है। दिक्-काल का विस्तृत विवेचन करते हुए उसने 'काल' को ही अधिक महत्त्व दिया है और इस प्रकार, अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, बर्गसाँ के प्रभाव को स्वीकार किया है।[1]

ह्वाइटहैड

ह्वाइटहैड (1861–1947 ई०) उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिक क्षेत्र में आविष्कृत, उन चार क्रांतिकारी सिद्धांतों को लेकर चला जिन्होंने न्यूटन के ब्रह्माण्डवाद को अपदस्थ कर, संघटनवाद (आर्गेनिज्म) के नवीन दर्शन की प्रतिष्ठा की और जिनमें से प्रथम तीन को लेकर मार्क्स ने मार्क्सवाद की पृष्ठ-भूमि निर्मित की। वे सिद्धान्त[2] थे

(1) शक्ति के संरक्षण एवं रूपान्तर का सिद्धान्त।
(2) परमाणुधर्मिता तथा उसका जीव-विज्ञान में प्रयोग।
(3) डार्विन का विकास-सिद्धांत।
(4) अन्तरिक्ष भर में शक्ति एवं शक्ति-क्षेत्रों की अवस्थिति।

इनमें से प्रथम सिद्धांत का भौतिकी के क्षेत्र में यह प्रभाव हुआ कि पुद्गल की व्याख्या अब पिंड के रूप में न होकर, शक्ति के रूप में होने लगी। द्वितीय सिद्धांत के अनुसार यह माना जाने लगा कि जीव-कोष ही नहीं, निर्जीव परमाणु भी निरन्तर गति एवम् शक्ति के सुसंगठित केन्द्र हैं। तीसरे सिद्धांत से यह दृष्टि प्राप्त हुई कि पाषाण से लेकर मनुष्य तक एक ही विकास-प्रक्रिया का नैरन्तर्य है और चौथे सिद्धांत से, जिसका मार्क्सवाद लाभ न उठा सका, यह निष्कर्ष निकला कि विश्व, परस्पर अन्तःसम्बद्ध घटनाओं के पुंज का नाम है। यह अन्तिम सिद्धांत ही ह्वाइटहैड के विकास-दर्शन का मेरुदंड बना।

न्यूटन की मान्यता थी कि पुद्गल के प्रत्येक टुकड़े का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है जो दिक् तथा काल दोनों से निरपेक्ष होता है अर्थात् शेष ब्रह्मांड में होने वाली घटनाओं तथा स्वयं उस पुद्गल-खंड के भूत-भविष्य का लेखा लिये बिना ही, उसके गुणों की व्याख्या संभव है। पर ऋजु अवस्थान (सिम्पल लोकेशन) के इस सिद्धांत को आधुनिक भौतिकी ने ठुकरा दिया है।[3] ब्रह्मांड में सूर्य, ग्रह, उपग्रह, अणु, परमाणु आदि जितने भी पदार्थ हैं, सब के सब अपना प्रभाव विकीर्ण करते हैं, जो परिमित गति से ही सही, दिक् और काल की सीमा-

---

1 राधाकृष्णन, हिस्ट्री ऑव फिलासफी ईस्टर्न एंड वैस्टर्न, पृ० 364।
2 वही, पृ० 367।
3 वही, पृ० 368।

हीन दूरियो तक पहुँचता एवम् अन्य पदार्थों को प्रति क्षण परिवर्तित करता चलता है ।[1] इसी प्रकार, वह स्वय भी अन्य पदार्थों से विकसित होने वाले प्रभावो से परिवर्त्तित होता रहता है ।

घटनाओ के बीच अन्त सबध दो प्रकार का है पहला विस्तार (एक्स-टेशन) का तथा दूसरा ग्रहणशीलता[2] (प्रिहेन्शन) का । पहले सवध द्वारा वे दूसरो को प्रभावित करती तथा दूसरे द्वारा स्वय प्रभावित होती हैं । शक्ति एवम् गति के समस्त क्षेत्र, इस प्रकार न केवल अन्य क्षेत्रो को प्रभावित करते, अपितु स्वय भी प्रभावित होते हैं ।

ह्वाइटहैड प्रत्येक सत्ता को द्वि-ध्रुवीय मानता है । अन्य सत्ताओ का प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता इसका भौतिक या शारीरिक ध्रुव है तथा नूतन सभावनाओ को पकड पाने की योग्यता इसका मानसिक ध्रुव है ।[3] यद्यपि अधिकाश सत्ताओ मे मानसिक ध्रुव सुप्तावस्था मे होता है, तथापि प्राणहीन सत्ताएँ भी प्रभावित होने की स्थिति मे निष्क्रिय नही रहती । उन तक पहुँचने वाले प्रभावो का वे सक्रिय होकर उत्तर देती हैं और उनमे से कुछ ऐसे प्रभावो का चयन करती है जिनका उत्तर देना उनके 'व्यक्तिगत लक्ष्य' की दृष्टि से, सभावनाओ की एक निश्चित दिशा के अनुकूल होता है ।[4] चुम्बक का विद्युत्क्षेत्र के प्रति तथा फोटोग्राफी की फिल्म का प्रकाश-किरणो के प्रति सक्रिय होना इसके उदाहरण है ।

ह्वाइटहैड की उन दार्शनिको से असहमति है जो 'प्रकृति' को दो भागो मे विभाजित करके देखने के आदी हैं ।[5] वे लोग प्रकृति का एक रूप तो अणु-परमाणु, प्रकाश-मात्रा आदि को मानते है जिसका अध्ययन भूतविज्ञान-वेत्ताओ द्वारा किया जाता है तथा दूसरा रूप इन्द्रधनुप, कोयल के स्वर, सुरभित समीर के स्पर्श, वर्णगन्धमय पुष्प आदि के सौदर्य को मानते हैं जो कवियो तथा चित्रकारो के सरोकार की वस्तु है । प्रकृति का यह दूसरा रूप, वैज्ञानिको द्वारा

---

1 राधाकृष्णन्, हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी ईस्टर्न एड वैस्टर्न, द्वितीय मस्करण, पृष्ठ 368 ।

2 'ग्रहणशीलता से तात्पर्य एक सत्ता द्वारा, अन्य सत्ताओ के सक्रिय अधिग्रहण से है, ऐसा अधिग्रहण जो स्वय की सत्ता को प्रभावित करने के साथ-साथ अधिग्राह्य की सत्ता को भी प्रभावित करता है ।

वही, पृ० 369 ।

3. वही, पृ० 369 ।

4 वही, पृ० 369 ।

5 वही, पृष्ठ 372 ।

सापेक्ष सत्य ही माना जाता है क्योंकि वह अनुभवकर्त्ता के शरीर तथा मन पर निर्भर करता है। व्हाइटहेड का कहना है कि उसे वस्तुनिष्ठ सत्य के क्षेत्र मे वहिष्कृत कर देना वैज्ञानिको एव विज्ञानवादी दार्शनिको की दुरभिसधि है।[1] कोयल का सगीत तथा उसका मानव-मन पर पडने वाला प्रभाव भी उतना ही सत्य है जितना परमाणु या कि विद्युल्लहर ।

कोयल की काकली को सुनकर हमारी स्नायु-शिराओ आदि मे जो परिवर्तन होता है, वह घटना का शारीरिक या भौतिक ध्रुव है और जिसे हम सगीतानद की अनुभूति कहते है, वह उसी का मानसिक ध्रुव है। विज्ञान के सामान्यीकृत सिद्धात हमारे शारीरिक ध्रुव से ही सबध रखते आये है और मानसिक ध्रुव की उपेक्षा होती रही है। फलत, हमारे बौद्धिक तथा भावनात्मक जीवन मे गहरा विच्छेद हो गया है। वैज्ञानिक सामान्यीकरणो ने हमारे चतुर्दिक् एक ऐसा वातावरण वना दिया है जिसमे मूल्यो के लिये हमारे मन मे कोई स्थान नही रह गया है। न केवल सभी युगो के रहस्यवादियो की गहनतम अन्तर्दृष्टि को यह अस्वीकारता है, अपितु सौंदर्य और कला के प्रति हमारी अभिरुचि के लिये भी कोई स्थान नही छोडता ।[2]

इस प्रकार विज्ञान जिस सत्य से हमारा परिचय कराता है, वह समग्र सत्य न होकर, खण्ड-सत्य ही है। मनुष्य के समग्र सत्य की सतुष्टि के लिये वैज्ञानिक के सत्य तथा कलाकार के सत्य को समन्वित होना होगा। यहाँ तक कि अव तो स्वय विज्ञान के हित की दृष्टि से भी यह समन्वय अनिवार्य हो उठा है।[3]

अरविन्द का विकासवाद

अरविन्द के विकासवाद का स्वरूप

विकासवाद के प्रमुख सिद्धातो से अवगत हो लेने के वाद अव हम अरविन्द के विकास-दर्शन का तनिक गहराई से अध्ययन कर सकते है। सक्षेप मे, अरविन्द का विकासवाद सरल रेखाकृति मे नही, चक्राकृति मे, जडवाद मे नही, चेतनावाद मे, यत्रवाद मे नही, हेतुवाद मे तथा सातत्यवाद मे नही, उत्क्राति-वाद मे विश्वास करता है।

---

1 राधाकृष्णन्, हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी ईस्टर्न एड वैस्टर्न, द्वितीय स०, पृष्ठ 372 ।

2. वही, पृष्ठ 365 ।

3 वही, पृष्ठ 375 ।

चक्रसोपानमूलक विकास

विकास-क्रम को अरविन्द एक सरल रेखा के रूप मे न मान कर पौराणिक कल्पो एव मन्वतरो के अनुकरण पर वृत्ताकार[1] मानते हैं। ऐसा करके वे 'प्रारंभ-वाद'[2] की कठिनाइयो से वच गये है। अरविन्द प्रथम विकासवादी हैं जिन्होने विकास को चक्रमूलक माना है। इस मान्यता के साथ-साथ उन्होने विकास को सोपानमूलक भी[3] माना है जिससे उसका स्वरूप एक ससोपान-चक्र (एस्केलेटर) जैसा वन गया है। अरविन्द की मान्यता है कि सृष्टि का सत्य सर्वत्र गोलाकारो[4] मे ही व्यक्त हुआ है।

विकास के भूतवादी सिद्धांत का खण्डन

अरविन्द की दृष्टि मे विकास के भूतवादी सिद्धात, विकास-क्रम की व्याख्या करने मे असमर्थ हैं। सभी भूतवादी सिद्धातो का प्रस्थान-विन्दु साख्य दर्शन का जड, अनियत (इडिटर्मिनेट) 'पुद्गल' हैं जो भौतिक शक्तियो द्वारा विकास को प्राप्त होता हैं, जिसके विकास के लिये साख्य के निष्क्रिय-चेतन कारण, 'पुरुप' की कल्पना अनावश्यक मानी गई है।[5] अरविन्द का कहना है कि जड पुद्गल से 'प्राण' तथा 'मन' जैसी सचेतन वस्तुओ का विकास असभव है। भौतिकवादियो का कहना हैं कि पुद्गल-परमाणुओ के एक विशिष्ट सयोजन से, गुणात्मक परिवर्तन के रूप मे 'प्राण' विकसित हो जाता हैं, जिस प्रकार दो रगहीन द्रवो के मिश्रण से लाल रग उत्पन्न हो जाता हैं। अरविन्द का उत्तर हैं कि गुणात्मक परिवर्तन के भी रूप मे, पुद्गल से प्राण-सत्ता उत्पन्न नही हो सकती, भले ही उससे अन्य भौतिक शक्ति उत्पन्न हो जाए जैसे परमाणु के विभजन से होती है। पर जड पुद्गल से प्राण तथा प्राण से मन के विकास का कोई औचित्य नही दिखाई

---

1 इवाल्यूशन, पचम सस्करण, पृ० 10।

2 यह मानना कि सृष्टि का प्रारभ किसी विशेष क्षण मे हुआ और कि उस क्षण से पूर्व सृष्टि नही थी, 'प्रारभवाद' कहलाता है।

3 विकास की सोपानमूलक कल्पना अरविन्द की कोई मौलिक कल्पना नही है। वर्गसॉं, मॉर्गन, अलेक्जेडर आदि ने भी उनसे पूर्व इस प्रकार की कल्पना की हैं।

4 वस्तुत ब्रह्माड, सूर्य, ग्रह, उपग्रह ही नही, उनकी कक्षाएँ तक वृत्ताकार हैं। यही नही, छोटे-से-छोटे परमाणु की सरचना भी उसी पद्धति पर हुई है जिसमे एक विन्दु को केन्द्र मान कर, ऋण-विद्युत् के असख्य कण निरन्तर उसके चतुर्दिक् चक्कर लगाते रहते है।

5 इवाल्यूशन, पचम सस्करण, पृ० 6।

पड़ता जब तक कि हम वेदांत-दर्शन द्वारा दिया गया सत्कार्यवादी हल स्वीकार नहीं कर लेते कि पुद्गल में प्राण तथा प्राण में मन पहले से ही अवस्थित हैं ।[1] पुद्गल से प्राण इसीलिये विकसित हो सकता है कि वह उसमें पूर्वावस्थित है ।[2]

विकास का चित् सिद्धान्त

पुद्गल में अवस्थित यह 'प्राण' या 'चित्' सत्ता ही विकास-क्रम का नियमन करती है, कोई अन्य भौतिक शक्ति नहीं । अब तो यह सिद्धांत कि पुद्गल में प्राण का विकास किसी भौतिक सिद्धांत द्वारा न होकर सचेतन सिद्धांत द्वारा होता है, यूरोप के प्रगतिशील चिन्तन का भी नेतृत्व करने लगा है ।[3] भूतवादी सिद्धांतों के अन्ध एवं निरुद्देश्य नियतिवाद की अपेक्षा यह 'चित्' सिद्धांत वर्तमान में प्राप्य विकास के सभी तथ्यों की व्याख्या करने में अधिक समर्थ है ।[4]

वेदान्त के चित् सिद्धांत से अन्तर

अरविन्द का 'चित्' सिद्धांत वेदान्तियों के निष्क्रिय चेतना-सिद्धांत से थोड़ी भिन्नता रखता है । वेदांत का विशुद्ध स्थितप्रज्ञ चैतन्य भला विश्व का सृजन करने कैसे जाता ? हुआ यह कि वेदांती मायावाद में जा उलझे । इस कठिनाई का निराकरण अरविन्द ने 'चित्' को 'शक्ति' का भी रूप मान कर किया ।[5] यह शक्ति, 'चित्' से कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु चित्-सत्ता का स्वाभाविक धर्म है जिस प्रकार दाहकता, अग्नि का धर्म है । यह 'चिच्छक्ति', आवश्यकतानुसार, सक्रिय या निष्क्रिय हो सकती है, पर निष्क्रिय होने की अवस्था में भी सत्ता तो उसकी रहती ही है, वह न लुप्त होती है, न परिवर्तित । इस प्रकार अरविन्द ने सृष्टि-रचना या विकास के "कैसे ?" का समाधान कर दिया है ।

काश्मीरी शैव दर्शन के 'चित्' सिद्धांत से अन्तर

वेदांत तथा सांख्य दर्शन की भांति काश्मीरी शैव दर्शन में भी परम सत्ता

---

1 द लाइफ डिवाइन, भाग 1, पृ० 5 ।

2 हरिदास चौधुरी, द इंटीग्रल फिलासफी ऑव श्री अरविन्दो, 1960, पृ० 135 ।

3 इवाल्यूशन, पंचम संस्करण, पृ० 7-8 ।

4. वही, पृ० 22–23 ।

5. एस० के० मैत्र, मीटिंग ऑव द ईस्ट एंड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉसफी, प्र० सं०, पृ० 62 ।

जिसे वहाँ 'परम शिव' नाम दिया गया है, निष्क्रिय है। परम शिव चिर समाधि-मग्न रहते हैं और सृष्टि रूप मे व्यक्त होने की कोई इच्छा नही रखते। वहाँ 'आद्या शक्ति' ही सृष्टि एवम् लय का कारण है।[1] पर अरविन्द के 'पुरुषोत्तम' अभिव्यक्ति की एक सार्वभौम इच्छा के स्वामी हैं जो आद्या शक्ति, जिसे वे 'डिवाइन मदर' नाम देते हैं, के समस्त कार्यों के प्रेरक हैं।

विकास की प्रयोजनीयता

अरविन्द विकास-क्रम को यत्रवादियो एव प्राणवादियो की भाँति दिशा-हीन एवम् लक्ष्यहीन नही मानते। वे सृष्टि-विकास के पीछे एक निश्चित हेतु या प्रयोजन देखते है। वह प्रयोजन है आत्म-रूप की प्राप्ति। ससार की समस्त घटनाएँ, सृष्टि का सम्पूर्ण विकास इसी दिशा की ओर गतिशील हैं। अरविन्द कहते हैं कि विकास के यत्रवादी एवम् प्राणवादी सिद्धात विकास की व्याख्या करने मे असमर्थ हैं क्योकि वहाँ विकास एक उद्देश्यहीन दिशाहीन भटकाव है और अन्ध क्रियाएँ अन्ध गलियो मे पहुँचाती हैं।[2]

सातत्यवाद का खंडन

अरविन्द का सातत्यवाद मे भी विश्वास नही हैं। उनका कहना है कि 'सातत्य' का विचार हमारे मानसिक तर्क की उपज है। भला 'तर्क', जो स्वय इस विकास-प्रक्रिया की एक उपज हैं, क्योकर विकास-क्रम की व्याख्या कर सकता हैं या उसका स्वरूप निर्धारित कर सकता है। नदी के प्रवाह द्वारा तट पर छोड दिया गया ककड, नदी की धारा का, विशेषकर आगे का, इतिहास कैसे वता सकता है? विकास-क्रम निरन्तर नवीनताओ को जन्म देता रहेगा, ऐसी नवीनताएँ, जिनकी कल्पना भी हमारे तर्क द्वारा नही की जा सकती। तर्क को सर्वोच्च मानना, विकास के मूल पर कुठाराघात करना है। "सातत्यवादी विकास अपने आप मे एक अन्तर्विरोध हैं। अत विकास सदा नव्योत्क्रात (इमर्जेंट) विकास ही होता है।"[3]

---

1 एस० के० मैत्र, मीटिंग ऑव द ईस्ट एड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिला-सफी, पृ० 64।

2 हरिदास चौधुरी, इटीग्रल फिलॉसफी ऑव श्री अरविन्दोज, 1960, पृ० 64।

3 एस० के० मैत्र, मीटिंग ऑव द ईस्ट एड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉस-फी, पृ० 325।

नव्योत्क्रांति का आध्यात्मिक स्वरूप

अरविन्द के विकासवाद में नव्योत्क्रांति का स्वरूप आध्यात्मिक है। यों तो डार्विन के प्राकृतवादी विकास में भी एक प्राणी को, दूसरे प्राणी की अपेक्षा अधिक विकसित माना गया है पर वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उच्चतर[1] है। स्पेन्सर ने अवश्य दावा किया कि विकास के उच्चतर सोपान पर विकसित होने वाला प्राणी, निम्नतर सोपान के प्राणी की तुलना में, आध्यात्मिक दृष्टि से भी उच्चतर है पर अपने दावे की पुष्टि में वह कोई सन्तोषकर प्रमाण नहीं दे सका।[2]

अलेक्जेंडर ने अवश्य, विकास की चरम परिणति एक दैवी अस्तित्व (डीटी) में की है पर वह अरविन्द के 'सच्चिदानंद' की भाँति आध्यात्मिक मूल्य नहीं बन पाई है क्योंकि वह मनुष्य ही का उच्चतर विकास न होकर एक सर्वथा ही भिन्न वस्तु है।[3] दोनों में मात्रा का नहीं, जाति का अन्तर है। दूसरे, वह केवल कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिये ऊपर से थोपी गई वस्तु है और इसी-लिये मूल्य नहीं बन पाई है। फलत अलेक्जेंडर को मूल्यों का विवेचन पृथक् रूप से करना पड़ा है। उसके सिद्धांत की महत्ता केवल इस बात में है कि उसने विकास-क्रम में 'मन' (माइंड) से आगे की भी विकास-दशाएं स्वीकार की है।[4] हीगेल ने समस्त विकास को 'आत्मा का विकास' तो कहा पर उसकी 'आत्मा' प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[5]

सच्चिदानन्द का स्वरूप

विकास के मूल में कार्यशील 'सच्चित्' सत्ता को अरविन्द 'आनंद' से भी विभूषित मानते हैं। यह 'सच्चिदानंद' सत्ता असीम शक्ति एवम् असीम गति के समुद्र के समान है और एक ही समय में जड और चेतन, व्यक्त और अव्यक्त, चल और अचल, एक और अनेक दोनों रूपों में स्थित है, साथ ही उनसे ऊपर भी है। इस समुद्र में विविधता की लहरें उठने लगती हैं और सृष्टि-विकास का क्रम प्रारंभ हो जाता है। अरविन्द से यदि पूछा जाय कि 'पूर्णकाम' चिदानन्द सत्ता

---

1. एस० के० मैत्र, द मीटिंग ऑव द ईस्ट एंड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉसफी, पृ० 33।
2. वही, पृष्ठ 34।
3. वही, पृष्ठ 41।
4. वही, पृष्ठ 47।
5. वही, पृष्ठ 34।

मे अन्तत ये लहरे उठती ही क्यो है तो उनका उत्तर होगा—लीला के लिये। अभिव्यक्त होना उसका धर्म है, स्वभाव है।

अवरोहण-क्रम के सोपान

यह चिदानद सत्ता अवरोहण के क्रम मे अनेक सोपानो से होती हुई अपने चित् तथा आनद रूप पर आवरण डालती चलती है और पुद्गल की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते ये दोनो रूप इतने आच्छादित हो जाते है कि सर्वथा लुप्त हुए जान पडते है। इन दो विलोम स्थितियो के बीच अवरोहण के अनेक सोपानो की कल्पना अरविन्द ने की है। यहाँ तक कि 'सच्चिदानद' से 'चेतन' के मध्य भी वे पाँच सोपानो[1] की कल्पना कर बैठते है

अतिमानस (सुपरमाइड)
अधिमानस (ओवरमाइड)
सहजज्ञान मानस (इट्यूटिव माइड)
दीप्त मानस (इल्यूमिन्ड माइड)
तथा उच्च मानस (हायर माइड)[2]

अतिमानस

अवरोहण क्रम मे प्रथम सोपान आता है 'अतिमानस' या 'अतिचेतन'। अतिमानस स्वय सच्चिदानद का गतिशील पहलू है। वह स्रष्टा है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, घटघटवासी, विभु और अन्तर्यामी है। उसमे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई अन्तर नही है। वह समस्त त्रिपुटियो का आधार है।[3]

अधिमानस

इसके वाद आता है 'अधिमानस' या 'अधिचेतन' जो एक प्रकार का "निम्न अतिमानस है यद्यपि वह निरपेक्षो की अपेक्षा व्यावहारिक सत्यो से

---

1 एस० के० मैत्र, द मीटिग ऑव द ईस्ट एड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉसफी, पृ० 80।

2 इसकी प्रेरणा अरविन्द को वर्गसॉ से मिली है। वर्गसॉ ने भी, जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, मानस (माइड) के ऊपर विकास की मनचाही स्थितियो की कल्पना की थी, हालाँकि वहाँ इस प्रकार के सोपानो की कल्पना की स्थिति, सहजज्ञान तथा बुद्धि के आनुपातिक समन्वय पर निर्भर थी जव कि अरविन्द मे यह चेतना की विशुद्धता पर निर्भर है।

3 डा० रामनाथ शर्मा, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, 1965, पृ० 109।

ही अधिक सवचित है और पूर्ण न होकर सार्वभौम ही हैं। उसकी इकाइयों (सत्, चित्, आनंद) में पारस्परिक व्याप्ति नहीं, केवल सह-अस्तित्व है। फिर भी यहाँ पारम्परिकता की शक्ति और मानसिकता की उन्मुक्त क्रीडा रहती है।"[1]

सहजज्ञान मानस

तत्पश्चात् चित् सत्ता अवरोहित होकर 'सहजज्ञान मानस' या 'सहजज्ञान चेतन' पर पहुँचती है। यह मानस, ज्ञान-प्राप्ति के लिये सहजज्ञान (इट्यूशन) को अपनाता है क्योंकि यहा आते-आते तादात्म्य-ज्ञान क्षीण होने लगता है। फिर भी, इसमें हृदय, जीवन, इंद्रियाँ एवं शरीर को रूपांतरित करने की क्षमता बनी रहती है। समस्त चेतना यहाँ सहजज्ञानात्मक बनी रहती है।[2]

दीप्त मानस

दीप्त मानस एक आध्यात्मिक ज्योति का मानस है। यहाँ पर विचार, दृष्टि के ही आधीन रहता है। इसीलिये स्वयं सत्य को ही वह पकडता है, उसके प्रतिबिम्ब को नहीं। वह भौतिक मानस पर एक रूपांतरकारी प्रकाश फेंकने की क्षमता रखता है जो उसकी परिमितताओं, तंद्रा, संकीर्ण विचार और संदेहों को तोड देता है।[3]

उच्च मानस

इससे नीचे अवरोहण क्रम में 'उच्च मानस' या 'उच्च चेतन' का सोपान आता है। उच्च मानस से जो ज्ञान हमको होता है वह सर्वांग तो नहीं, परन्तु सम्पूर्ण अवश्य होता है। वह सरल प्रत्ययों में स्वतंत्रता से स्वयं को प्रकट कर सकता है।[4] ज्ञानात्मक पहलू के अतिरिक्त, उच्च मानस का संकल्प तथा अनुभूति का पहलू भी है। हमारी अनुभूतियाँ, संकल्प और क्रियाएँ एक उच्चतर ज्ञान के स्पन्दन बने रहते हैं।

मानस

अवरोहण-क्रम में एक सोपान और नीचे चलने पर 'अहं' नाम का एक और

1. डा० रामनाथ शर्मा, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, 1965, पृष्ठ 110।
2. वही, पृ० 126–27।
3. वही, पृ० 127।
4. वही, पृष्ठ 126।

भी आवरण पड जाने से, ब्रह्म के साथ एकात्म की प्रतीति बाधित हो जाती है और जीवात्मा विविधता को ही सत्य समझने लगती है। भौतिक शरीर को ही आत्म-रूप मान कर वह बधन मे जकड जाती हैं। अवरोहण की इस स्थिति को अरविन्द ने 'मानस' (माइड) की सज्ञा दी है। यही 'मानव' है जो सहजज्ञान की अपनी वृत्ति खोकर, तर्क एव विश्लेषण-बुद्धि के आधार पर सत्य के ज्ञान की असफल चेष्टा करता है।

प्राण

'मन' से आगे का सोपान 'प्राण' (लॉइफ) है जहाँ पहुँचते-पहुँचते चेतना और भी आवरित हो जाती है और प्राणी अपनी तर्कात्मक बुद्धि से हाथ धोकर सामान्य पशु-दशा को प्राप्त होता तथा 'आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि' का जीवन जीने लगता है। तथापि दृढेच्छा एव सकल्प-शक्ति उसमे बनी रहती हैं। इसी प्राण-सत्ता के अन्तर्गत, पर अवरोहण क्रम मे कुछ और नीचे, पादप जीवन भी आ जाता है जिसमे 'मस्तिष्क' लुप्त होकर स्नायु-शिराओ के सवेदन ही रह जाते है।

पुद्गल

प्राण-चेतना से भी नीचे पुद्गल का रूप आता है जहाँ मूल चेतना इतनी आवरित या आच्छादित हो जाती है कि उसे पहचानना भी कठिन हो जाता है तथापि उसमे चेतना का अत्यन्ताभाव कभी नही होता, उसका कुछ न कुछ अ श बना ही रहता है।[1] दूसरे शब्दो मे, वह सुषुप्त चाहे जितनी हो जाय, मरती कभी नही। यहाँ पहुँच कर अवरोहण (डिस्सेंट) का क्रम समाप्त होता है।

अरविन्द उपनिषदो की इस मान्यता को स्वीकार करते है कि जड जगत् तथा जीवात्माएँ ब्रह्म ही के रूप है और चूँकि ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म के ये विवर्त भी सत्य हैं। अरविन्द का तर्क है कि यदि स्वर्ण सत्य है तो स्वर्ण से निर्मित भूषण असत्य कैसे हो सकते है ? इस प्रकार अरविन्द का दर्शन सर्वात्मवादी (पान्थी-इस्ट) है। जहाँ शकर उन्ही उपनिषदो के प्रस्थान-विन्दु से चल कर मायावाद मे जा उलझे, वहाँ अरविन्द ने सब कुछ को सत्य मानते हुए, एक व्यावहारिक दर्शन की प्रतिष्ठा की।

आरोहण-क्रम

आरोहण (एस्सेंट) का क्रम अवरोहण के क्रम से ठीक विपरीत है।[2]

---

1 श्री अरविन्द, द लॉइफ डिवाइन, जिल्द-2, भाग-2, पृष्ठ 658।
2 वही, पृष्ठ 759।

पुद्गल में स्थित सुप्त चेतना विकसित होकर, अर्थात् स्वयं को आच्छन्न करने वाले आवरणों को दूर कर प्राण-सत्ता, तथा प्राण-सत्ता में मन सत्ता को प्राप्त करती है। प्राण-तत्त्व के सोपान तक पहुँचते-पहुँचते इंद्रियाँ एवम् सहजात-वृत्तियाँ ज्ञान-प्राप्ति के माध्यम बन जाती हैं तथा मनस्तत्त्व का सोपान प्राप्त करते-करते तर्क-मूला बुद्धि मानव की सहायता को आ पहुँचती है। यह बुद्धि भौतिक पदार्थों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य निष्पन्न करती है एवम् मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र के आयामों का विस्तार करती है।

बुद्धि की क्षमता तथा परिसीमा

अरविन्द बुद्धि की, विज्ञान की, भौतिकवाद की निन्दा नहीं करते, प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि भौतिकवाद पर विश्व-व्यापी संग्राम, युद्ध, विनाश, स्पर्धा आदि अवगुणों को जन्म देने का आरोप लगाया जाता है और कहा जाता कि ये अवगुण स्वयं ही भौतिकवाद की चिता हैं, जिसमें जल कर वह भस्म हो जायगा।[1] पर भौतिकवादी युग मात्र त्रुटियों, गिरावटों और संकटों का युग नहीं रहा है, वह मानवता के लिये एक परम शक्तिशाली सृजनात्मक युग भी रहा है। यह न केवल मानव जाति के ज्ञान एवम् शोध का विस्तारक रहा है अपितु इसने मानव-जीवन के आदर्शों को भी सुदृढ़ बनाया है।[2] 19 वीं शती के भौतिकवाद द्वारा प्रतिष्ठित तर्क, विज्ञान, प्रगति, स्वतंत्रता, मानवता आदि के आदर्शों में कौन सा ऐसा है जिसे फेंक दिया जाय ?[3] वे सभी सहेज कर रखने योग्य हैं।

विज्ञान, एक सम्यक् ज्ञान है, पर अन्ततः प्रक्रियाओं का ही। पर प्रक्रियाओं का ज्ञान भी, समग्र ज्ञान का एक आवश्यक अंग है और पृष्ठभूमि में निहित गहनतर सत्य की ओर अग्रसर होने के लिये अनिवार्य भी है।[4] इस प्रकार अरविन्द विज्ञान एवम् बुद्धि, दोनों की सीमाएँ अवश्य मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि 'तर्क' हमें प्रकाश देता है पर वह सर्वोच्च प्रकाश नहीं है।[5] मनुष्य आज विकास की जिस स्थिति में है, वहाँ तर्क एवं बुद्धि की सीमाएँ स्पष्ट होने लगी हैं। व्हाइटहेड जैसे कुछ वैज्ञानिकों ने तो स्पष्ट रूप से बुद्धि की इस परिसीमा को स्वीकार भी कर लिया है। अरविन्द कहते हैं कि यदि

1 इवॉल्यूशन, पंचम संस्करण, पृ० 30।
2. वही, पृ० 32।
3. वही, पृ० 33।
4 श्री अरविन्द, इवॉल्यूशन, पंचम संस्करण, पृ० 34।
5 वही, पृ० 34।

अज्ञान 'कट्टरपथी' हो जाता है और उसकी सत्ता को अस्वीकृत कर देता है जिसकी सत्यता की जाँच करने से उसने इकार किया, तो वह मनुष्य का बडा दुर्भाग्य है ।[1] पर इसके बावजूद भी कट्टरता दिखाई पडे[2] तो क्या किया जा सकता है ?

सहजबोध को विकसित करने का साधन 'योग'

इसमे सदेह नही कि मनुष्य मे सहजज्ञान तथा तादात्म्य ज्ञान भी प्राप्त करने की क्षमता होती है और कि वह ज्ञान, तर्काश्रित ज्ञान से श्रेष्ठतर होता है। पर चूंकि सामान्य मनुष्य की सहजबोध वृत्ति पर्याप्त विकसित नही होती, अत 'योग' द्वारा उसे विकसित कर लेना आवश्यक है ।

अरविन्द के सर्वांग योग का स्वरूप

मोक्ष-प्राप्ति के व्यावहारिक साधन के रूप मे, 'योग' का भारतीय दर्शन के सभी स्कूलो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । दर्शन मानव-जीवन के चरम पुरुषार्थ अर्थात् अन्तिम मूल्य का निर्धारण कर वह मूल्य 'योग' को सौप देता है ताकि वह इसे प्राप्त करने के लिये व्यावहारिक साधनो की व्यवस्था करे । पतजलि के योग-सूत्र मे 'चित्तवृत्ति के निरोध' को योग कहा गया है तो गीता मे 'निष्काम कर्म' को । चाहे राजयोग हो या ज्ञानयोग, भक्तियोग हो या कर्मयोग, भारतीय दर्शन मे योग सदा व्यक्तिगत मोक्ष का ही साधन रहा । अरविन्द ने अपने पूर्ण (इटीग्रल) योग मे न केवल इन चारो योगो का ही समन्वय किया[3] अपितु व्यक्तिगत मोक्ष के स्थान पर सार्वभौम उत्थान को योग का लक्ष्य माना । उनका योग सम्पूर्ण मानवता के लिये है ।[4] पर स्मरण रखना चाहिये कि यह पश्चिम के मानवतावाद का समानार्थी नही है क्योकि अरविन्द ने योग को अपने लिये

---

1 श्री अरविन्द, इवाल्यूशन, पृ० 35 ।

2 "विरोधो मे सामजस्य खोजने की नीयत की प्रशसा हम चाहे जितनी करे परन्तु ऐसा सामजस्य अतश्चेतना (इट्यूशन) मे भले ही सभव हो, कम-से-कम वुद्धि से सभव नही दिखता और वुद्धि को छोड कर अन्य कोई साधन हमे मान्य नही है ।"

—विश्वभरनाथ उपाध्याय, पतजी का नूतन काव्य और दर्शन, पृ० 25 ।

3 हरिदास चौधुरी, द इटीग्रल फिलॉसफी ऑव श्री अरविन्दोज, 1960, पृ० 205 ।

4 एस० के० मैत्र, द मीटिंग ऑव द ईस्ट एड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉसफी, पृष्ठ 54 ।

नहीं, ब्रह्म के लिये माना है।[1] इस प्रकार यूरोप के कॉम्ते तथा मिल के मानवतावाद से यह भिन्न है। अरविन्द के योग का लक्ष्य न केवल मनुष्य का, न केवल प्रकृति का, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माड का दिव्यीकरण करना है।[2]

व्यक्तिगत योग का लक्ष्य एक सार्वभौम उद्देश्य की पूर्ति हेतु 'आधार' प्रस्तुत करना है ताकि अतिचेतना-माध्यम से, दिव्य-चेतना भू-चेतना मे अवतरित हो सके।[3] दिव्य चेतना शून्य में अवतरित नही हो सकती। वह किसी विशिष्ट व्यक्ति को आधार बना कर, उसकी व्यक्ति-चेतना मे अवतरित होती है और वहाँ से विश्व के शेष भागों मे विकिरित होती रहती है जब तक कि सम्पूर्ण सृष्टि का दिव्यीकरण नही हो जाता।[4] मानव-चेतना को आधार बना कर इस प्रकार के अवतरण पहले भी हो चुके है और उन्हे 'अवतार' कहा गया है। जब-जब विकास-पथ मे कोई बाधा उत्पन्न हुई है, तब-तब परम सत्ता ने भिन्न-भिन्न रूपो मे अवतरित होकर उसका निराकरण किया है।[5] इस प्रकार अरविन्द ने अपने योग-दर्शन मे भारत की आध्यात्मिक दृष्टि के साथ पश्चिम की सार्वभौम दृष्टि का समन्वय किया है।[6]

नीशे तथा अरविन्द के अतिमानव मे अन्तर

योग-साधना से मनुष्य की चेतना विकसित होकर 'मन' से 'अतिमन' (सुपरमाइण्ड) पर जा पहुँचती है तथा 'मानव' विकास के अग्रिम सोपान 'अतिमानव' पर। अतिमानव (सुपरमैन) की कल्पना जर्मन दार्शनिक 'नीशे' ने भी की थी पर वह डार्विन के 'योग्यतम की अतिजीविता' सिद्धान्त से प्रेरित होने के कारण किसी व्यक्ति या वर्ग विशेप के उद्धत, दृप्त रूप की कल्पना' थी। अरविन्द का 'अतिमानव' तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए एक उदार आदर्श की कल्पना है।

---

1 एस० के० मैत्र, द मीटिग ऑव द ईस्ट एड द वैस्ट इन श्री अरविन्दोज फिलॉसफी, प्रथम स०, पृ० 54।

2 वही, पृष्ठ 56।

3 वही, पृष्ठ 58।

4 वही, पृ० 58।

5 वही, पृ० 336–37।

6 वही, पृ० 59।

7. श्री अरविन्दो, इवॉल्यूशन, पृ० 1-2।

अरविन्द के विकासवाद की मौलिकता

अरविन्द का विकासवाद इस अर्थ मे उत्क्रांतिवादी है कि प्रत्येक सोपान पर वह एक ऐसी चेतना का अवतरण मानता है जो सर्वथा नवीन है। अरविन्द की मौलिकता उनके उत्क्रांतिवाद मे नही, इस मान्यता मे है कि चेतना के प्रत्येक नवावतरण के साथ निम्नतर चेतना के समस्त स्तरो का भी अभ्युत्थान होता है। उदाहरण के लिए जब 'मन' का अवतरण होता है, तब 'प्राण' तथा 'पुद्गल' की चेतना भी उन्नत हो जाती है, वही नही रहती जो 'मन' के अवतरण से पूर्व थी।[1] इसी प्रकार 'अतिमन' के अवतरण पर 'मन', 'प्राण' तथा 'पुद्गल' तीनो अभ्युदित होते है।

इस उत्कर्ष (हाइट्निंग) के अतिरिक्त अरविन्द, विविध रूपात्मक विकास के दो और भी रूप मानते है विस्तार (वाइड्निंग) तथा समन्वय (इण्टीग्रेशन)। विस्तार से आशय यह है कि उच्चतर सोपान तक उठने के समय निम्नतर सिद्धान्तो को विस्तृत, ग्रहणशील, परिष्कृत एवम् अनुकूलित होना पडता है। उदाहरण के लिए 'पुद्गल' को जटिलता, आत्म-पृथक्करण, सूक्ष्मता एवम् गहनता की प्रक्रिया मे से गुजरना पडता है ताकि उसमे 'प्राण' विकसित हो सके।[2] प्रत्येक नवीन अवतरण के साथ, अवतरित होने वाले उच्चतर सिद्धान्त तथा सभी निम्नतर सिद्धान्तो के पारस्परिक मिश्रण का नाम समन्वय है।[3]

विकास के जो तीन उपरिलिखित पहलू अरविन्द ने माने है उनमे से अन्तिम दो अर्थात् विस्तार और समन्वय, व्हाइटहैड के 'एक्सटेशन' और 'प्रिहेन्शन' से गहरा साम्य रखते है। सम्भव है, अरविन्द ने विकास के ये पहलू व्हाइटहैड ही से ग्रहण किये हो। व्हाइटहैड ने जिसे 'मानसिक ध्रुव' कहा है, उसका प्रभाव भी अरविन्द के विकासवाद पर स्पष्ट रूप से झलकता है।

विकास का वर्त्तमान चरण

व्यक्ति ज्यो-ज्यो अतिमानसिक चेतना प्राप्त करता जाता है, विश्व मे भी दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति अधिकाधिक होती चली जाती है और सम्पूर्ण ब्रह्माड चिदानन्द सत्ता के अवतरण की उपयुक्त पीठिका बनने लगता है। ज्यो-ज्यो अभिवृद्ध अध्यात्म-चेतना वाले व्यक्तियो की सख्या बढने लगती

---

1 श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, जिल्द-2, भाग-2, पृ० 634।

2 हरिदास चौधुरी, द इण्टीग्रल फिलॉसफी ऑव श्री अरविन्दो, 1960, पृ० 236।

3 वही, पृ० 136-37।

है, चिच्छक्ति उन्ही महापुरुषों को आधार बना कर व्यक्त होने लगती है और समग्र संसार एक दिव्यता से भर उठता है। इसे प्रकृति का एक विराट् योग कहा जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप प्रकृति-सम्राट् के रूप मे दिव्य-पुरुष अर्थात् 'अतिमानव' का अवतरण होता है। आज विश्व इसी अवतरण की प्रतीक्षा मे है। श्री अरविन्द ने अपने महाकाव्य 'सावित्री' मे अतिमानव के अवतरण का एक भव्य दृश्य[1] उपस्थित किया है।

अतिमानवता के सोपान पर पहुँच कर मानव-जीवन, एक दिव्य जीवन (द लाइफ डिवाइन) मे परिणत हो जाता है। तब जगत् के सारे दु:ख-द्वन्द्व, संघर्ष-युद्धादि, जो संकीर्ण चेतना से उद्भूत होते है, स्वत. शमित होकर विश्व मे आनन्द का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है और आत्माएँ, परम आत्मा के निकट आत्म-ज्ञात होकर लीला का आनन्द लेने लगती है। यही मोक्ष है और यही है जीवन का परम पुरुषार्थ। इस सोपान से आगे बढने पर विशिष्ट आत्माएँ परमात्मा मे, सारी अनेकताएँ एकता मे लय हो जाती है और विकास का चक्र पूर्ण हो जाता है।

मूल्यमीमांसा

स्वात्म-रूप की प्राप्ति मनुष्य का चरम श्रेय

विगत पृष्ठों के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि अरविन्द के विकासवादी दर्शन मे स्वात्म रूप की प्राप्ति ही जीवन का चरम श्रेय (सम्मम् बोनम्) या परम पुरुषार्थ है। पूर्ण चिदानन्द ही वह अन्तिम हेतु है जिसकी ओर ब्रह्माड का सम्पूर्ण विकास गतिशील है। अतः व्यक्तिगत एवम् सामाजिक प्रयत्नो का अन्तिम लक्ष्य, मानवीय चेतना को अतिचेतना एव पूर्ण चेतना तक विकसित करना ही है। परम चेतन के साथ स्वात्म की अद्वैत स्थिति का 'ज्ञान' हो जाना पर्याप्त नही है, जैसा कि शकराचार्य के केवलाद्वैत मे मान लिया गया है। अरविन्द-दर्शन मे 'जानना' नही,

---

1 When Superman is born as Nature's King,
His presence shall transfigure Matter's work
He shall light up Truth's fire in Nature's night,
He shall lay upon the Earth Truth's greater law,
Man too shall turn towards the Spirit's call
Savitri, Book XI, canto-1, P. 331 ।

'होना' अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] होना और पूरी तरह होना मानव और प्रकृति का लक्ष्य है। पूरी तरह होने का अर्थ सत् पुरुष की आन्तरिक और सर्वांग शक्ति को प्राप्त करना है। अन्त मे, पूरी तरह होने का अर्थ सार्वभौम रूप मे होना है क्योकि समस्त सत् एक है और सार्वभौम रूप मे होने का अर्थ अतिशायी रूप मे होना भी है।[2] इस प्रकार अरविन्द ने, एक ओर तो व्यक्तिगत मोक्ष मे 'सार्वभौमता' का तत्त्व समाविष्ट कर पूर्व एवम् पश्चिम का समन्वय कर दिया है, दूसरी ओर 'ज्ञान' की अपेक्षा 'क्रिया' को अधिक महत्त्वपूर्ण कहकर, कबीर ही की भाँति, 'साधन' का महत्त्व अत्यधिक बढा दिया है।[3] फलत उनके यहाँ 'योग' ही, जो चिदानन्द की प्राप्ति का एकमात्र साधन है, परम श्रेय बन गया है।[4]

योग साधन ही नही, साध्य भी

'योग' का क्षेत्र अध्यात्म का क्षेत्र है जो धर्म तथा दर्शन के क्षेत्रो से इतर है। अरविन्द की मान्यता है कि आध्यात्मिक क्षेत्र मे, धर्म तथा दर्शन दोनो ही योग के आधीन होने चाहिएँ क्योकि योग मे उन दोनो की ही चरम परिणति है। इस प्रकार योग, साधन भी है और साध्य भी।[5]

दर्शन की अपेक्षा योग की श्रेष्ठता

अरविन्द के अनुसार दर्शन को 'आध्यात्मिक' ही होना चाहिए[6] पर यह कितना ही आध्यात्मिक हो, योग का स्थान नही ले सकता क्योकि दर्शन 'बुद्धि' पर आधारित है जो आत्मा का सर्वोच्च प्रकाश नही है। तथापि, दर्शन को आध्यात्मिक मूल्यो की श्रेणी मे समुचित स्थान प्राप्त होना ही चाहिये।[7]

---

1 श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृष्ठ 872।
2 वही, पृष्ठ 888-894।
3 गुरु गोविन्द दोनो खडे काके लागौ पायँ।
बलिहारी गुरु आपणौ गोविन्द दियो बताय॥ कबीर-साखी।
4 डॉ० रामनाथ शर्मा, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, पृष्ठ 156।
5 वही, पृ० 159-60।
6 श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ० 715।
7 "दर्शन सत्य की बौद्धिक अभिव्यक्ति रह सकता है पर इस वृहत्तर खोज तथा उसके उस तत्त्व की अभिव्यक्ति के साधन-रूप मे ही जिसे उन लोगो-

(शेष अगले पृष्ठ पर)

योग और विज्ञानमय पुरुष

योग दैवी सत्ता के लिए एक आन्तरिक 'पुकार' पर आधारित है । यह पुकार दर्शन, धर्म, कला अथवा किसी भी अन्य साधन से उत्पन्न की जा सकती है। आत्मा, मन, प्राण तथा शरीर का पूर्ण सकल्प के साथ चिदानन्द के प्रति समर्पण, योग की प्रथम आवश्यकता है।[1] सर्वांग योग ज्ञान, प्रेम और कर्म तीनो का समन्वय है और इसी के साधन से आन्तरिक चैत्य पुरुष का उद्घाटन होता है। यह आध्यात्मिक परिवर्तन, समस्त सत्ता मे एक उच्चतर प्रकाश, शक्ति एव आनन्द का अवतरण है जो भावी मानव को 'विज्ञानमय पुरुष' की भूमिका मे खडा कर देता है। विज्ञानमय पुरुष की समस्त सत्ता, उसके विचार, जीवन और कर्म सभी एक सार्वभौम आत्मा से अनुशासित होगे। वह दैवी सत्ता की बाहर-भीतर सर्वत्र अनुभूति करेगा, उसकी विश्वजनीन सहानुभूति के कारण, उसके तथा शेष सृष्टि के हितो मे कोई सघर्ष न होगा । भावी मानव[2] की कल्पना, अरविन्द की अपनी मौलिक कल्पना है।

नैतिकता के लिये स्थान

प्रश्न उठता है कि विज्ञानमय अवस्था मे नैतिकता क्यो कर सभव हो सकती है[3] क्योकि नैतिकता के लिये वैयक्तिकता तथा प्रयत्न की स्वतन्त्रता आवश्यक है। यद्यपि अतिमानसिक चेतना मे, अहकार का स्थान निर्वैयक्तिक एवम् सार्वभौम पुरुष ले लेता है तथापि उसका यह आशय नही कि व्यक्ति की विशिष्ट सत्ता लुप्त हो जाती है। वस्तुत उसका रूप और व्यक्तित्व फिर भी

(पिछले पृष्ठ का शेष)

के लिए मानसिक भाषा मे प्रकट किया जा सकता है कि जो अब भी बुद्धि के जगत् मे रहते है।"

—श्री अरविन्द, द रिडल ऑव दिस वर्ल्ड, पृ० 26।

1 डॉ० रामनाथ शर्मा, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, पृष्ठ 164।

2 "मानव का भविष्य इतने स्वर्णिम रगो से और यथार्थवाद तथा आशावाद के इतने उत्तम सामजस्य से शायद ही कभी चित्रित किया गया हो जितना श्री अरविन्द ने किया है।"

—वही, पृ० 167।

3 कान्ट, ब्रैडले आदि का कहना है कि नैतिक व्यक्ति एक सतत सघर्ष मे रहता है और यदि सघर्ष समाप्त हो जाये तो नैतिकता का प्रश्न नही रह जाता।

बना रहता है। अत: व्यक्ति परम श्रेय की दृष्टि से कार्य करता हुआ पूर्ण स्वतंत्र एवम् आत्म-नियन्त्रित रहता है। इस प्रकार अरविन्द-दर्शन आचार एवम् नैतिकता के प्रति पूर्णत: उदासीन नही है।

विज्ञानमय समाज

मानव तथा प्रकृति दोनो का लक्ष्य पूर्ण चिदानन्द सत्ता है। इस सत्ता मे मानव ही नही, प्राणिमात्र की एकता के भाव से ही अरविन्द का सामाजिक-राजनीतिक दर्शन अनुस्यूत हुआ है। यह ऐक्य-भाव राष्ट्रीयता-अन्तर्राष्ट्रीयता से अतिशय है। अत सामाजिकता भी उन्ही सिद्धान्तो पर आधारित है जिन पर विज्ञानमय पुरुष की वैयक्तिकता को आधृत किया गया है।[1] पर यहाँ भी जाति-गत विशेषताओ का लोप नही हो जाता। विज्ञानमय पुरुषो की विभिन्न जातियाँ अपनी विविधताएँ बनाये रहती है। वस्तुत अरविन्द का निरपेक्ष (एब्सॉल्यूट) कोई मृत एकता नही अपितु विविधता से समृद्ध एकता है। विज्ञानमय समाज एकता, पारस्परिकता और सामजस्य के सिद्धान्तो पर आधारित है।[2]

व्यक्तिवादी और समाजवादी मूल्यो में समन्वय

अभी तक हमारे सामाजिक-राजनीतिक सगठन, व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के अतिवादी छोरो के बीच झूलते रहे है और दोनो के बीच सतुलन की स्थापना मे असफल रहे है। श्री अरविन्द ने समस्या का आध्यात्मिक हल यह कह कर प्रस्तुत किया है कि सामाजिक समानता व एकता, केवल आन्तरिक सत्य से प्राप्त की जा सकती है, सत्य जो सार्वभौम एवम् सर्वातिशायी है।[3] उनकी मान्यता है कि जो सिद्धान्त जितना ही विस्तृत एवम् व्यापक होगा, वह उतना ही अधिक सत्य होगा। श्री अरविन्द ने अपने विराट् समन्वय मे, नितान्त तिरस्कार न तो किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त का किया है, न सामाजिक-राज-नीतिक सिद्धान्त का ही। आवश्यकता किसी नूतन सिद्धान्त की नही, प्रत्युत् ज्ञात सिद्धान्तो के समग्रीकरण की है जिससे हमारे युग को एक नवीन दृष्टि प्राप्त हो सके। किसी भी सिद्धान्त का सत्य, सृष्टि-योजना मे उसकी अनुकूलता

---

1 इस प्रकार का एक सामूहिक जीवन उन्ही सिद्धान्तो पर आधारित होना चाहिये जिन पर कि विज्ञानमय व्यक्तियो का जीवन आधारित है।
—श्री अरविन्द, द लाइफ डिवाइन, पृ० 898।

2 डॉ० रामनाथ शर्मा, श्री अरविन्द का सर्वांग दर्शन, पृ० 168-69।

3 वही, पृ० 169-70।

पर निर्भर है क्योकि सभी समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध है, यहाँ तक कि द्वन्द्ववादी भूतवाद और हीगेलीय प्रत्ययवाद भी एक ही सत्य के दो रूप है।

निष्कर्ष

अरविन्द-दर्शन, इस प्रकार, व्यक्ति को न तो समाज और न राज्य, बल्कि दैवी-सत्ता के आधीन करने का हामी है। पर यह मानव की चरमोच्च विकासावस्था का आदर्श है, वर्तमान की अल्पविकसित अवस्था का नही। वर्तमान मे तो सामाजिक नियमो का पूर्ण अनुपालन ही श्रेय है। पर अराजकतावाद, अधिनायकवाद, अतीव व्यक्तिवाद की पद्धतियो के वे निश्चित रूप से विरोधी है। मनुष्य ज्यो-ज्यो विकास के उच्चतर सोपानो का स्पर्श करता जाता है त्यो-त्यो वह अधिकाधिक मुक्त होता जाता है। पर यह व्यक्ति-स्वातत्र्य सामाजिक या कि सार्वजनीन हितो का विरोधी नही है क्योकि जैसे-जैसे व्यक्ति पूर्ण होता है, वैसे-वैसे समाज भी पूर्ण होता जाता है। इस प्रकार भारत का व्यक्तिगत मोक्ष का आदर्श, पश्चिम के जनतंत्र से समन्वित होकर विश्व की वर्त्तमान अधोगति से रक्षा के लिये, अरविन्द-दर्शन का रूप ले कर निखरा है।

आज के राजनेता व दार्शनिक विज्ञान, धर्म व दर्शन से आशा करते है कि कदाचित् ये युगव्यापी सत्रास से मानवता को मुक्त कर दे पर अरविन्द का कहना है कि ये तीनो उस महत् उद्देश्य की प्राप्ति मे असफल हो चुके है। अब केवल आध्यात्मिकता ही हमारी व्यक्तिगत एव सामाजिक समस्याओ का समाधान कर सकती है। दैवी-सत्ता के प्रति निश्छल प्रतिवेदन एवम् पूर्ण आत्मसमर्पण ही प्राणी के लिए इष्ट है, शेष भागवत सत्ता स्वय कर लेगी जो मूल्यो का मूल्य तथा श्रेयो का श्रेय है। इस चरम मूल्य की प्रतिष्ठा के बाद शेष मूल्य उसी प्रकार अपना आसन पहचान लेते है जिस प्रकार अध्यक्ष द्वारा आसन ग्रहण कर लेने पर सब लोग यथास्थान बैठ जाते है।

अध्याय 4

नवचेतना का काव्य-पक्ष

काव्य और विचार-तत्त्व

पत-काव्य के द्वितीय उत्थान-काल (1937-57 ई०) की कृतियो मे व्यक्त नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो की चर्चा करे, इससे पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि नवचेतना-काव्य का भावात्मक महत्त्व स्थिर कर लिया जाय। जैसा कि देखा जा चुका है, नवचेतना-तत्त्वो का सवध कवि की विचारधारा से है। पर यह आवश्यक नही कि विचारो की श्रेष्ठता, काव्य को भी श्रेष्ठ बना दे। काव्य के उत्कर्ष की कसौटी तो भाव ही की उत्कृष्टता है। काव्य-क्षेत्र से विचार के इस वहिष्कार को यद्यपि आज की नयी कविता नही स्वीकार करती तथापि इस पृथक्करण मे कुछ तथ्य अवश्य है क्योकि यदि विचारो ही का प्रतिपादन करना हो तो उसके लिये साहित्य की, विशेषत गद्य की अन्य विधाएँ है।

भाव और विचार का स्वरूप एवम् सम्बन्ध

पंत जी के द्वितीय उत्थान-काल के काव्य पर यह आरोप लगाया गया है कि उसमे भाव पर विचार हावी है [1] और इसलिए उसकी मर्मस्पर्शिता धीरे-धीरे कम होती चली गई है। इस आरोप की सत्यासत्यता की परीक्षा से पूर्व अपेक्षित है कि 'भाव' और 'विचार' के अन्तर को समझ लिया जाय। मनोविज्ञान की शरण मे जाने पर हमे पता चलता है कि दोनो के बीच लक्ष्मण-रेखा खीच पाना लगभग असभव ही है। यह कहना कि 'विचार' का सवध हमारी वुद्धि से है और 'भाव' का सवध हमारी रागात्मकता से है, वस्तुत प्रश्न को दुहराना भर है। हमारी वौद्धिक क्रिया मे कितना भाव-तत्त्व तथा भाविक क्रिया मे कितना वुद्धि-तत्त्व है, यह वताना सहज नही है क्योकि एक मे, दूसरी के रेशे

1 विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 565।

बडी सूक्ष्मता से गुम्फित होते हैं। इन दोनो को पूर्णतया पृथक् करना असभव इसलिये है कि दोनो का आधार एक ही मस्तिष्क की क्रिया है और मस्तिष्क अंगो मे नही, सर्वांग मे क्रियाशील होता है। मस्तिष्क की क्रिया निश्चित रूप से इतनी सश्लिष्ट अथवा उलझी हुई है कि बडे से बड़े मनोविश्लेषक के लिये भी उसकी क्रियाशीलता का पृथक्-पृथक् निरूपण करना असभव है। और जिस दिन ऐसा करना उसके लिये सभव हो जायेगा, वह कृत्रिम मस्तिष्क[1] का निर्माण भी कर लेगा।

स्थूल रूप से इतना कहा जा सकता है कि 'विचार' मन का स्थायी अग नही होता। वह मन मे आविर्भूत होता है और चमक कर लुप्त हो जाता है। दूसरी ओर 'भाव' जिसे 'मनोविकार' भी कहा जाता है मन का स्थायी अग होता है। कोई विचार बार-बार आविर्भूत होते रहने पर धीरे-धीरे मन का विकार (स्ट्रक्चर) बन जाता है और उसका स्थायी अग हो जाता है।[2] यही 'भाव' है। और भी स्थूल रूप मे कहे तो 'भाव' विचार का मुरब्बा है। यद्यपि मनोविज्ञान के क्षेत्र मे इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग निरापद नही है तथापि समझने-समझाने के लिए इसके उपयोग मे कोई हानि भी नही है।

काव्य से विचार के बहिष्कार की संभावना

निष्कर्ष यह कि साहित्य से, काव्य से 'विचार' के पूर्ण बहिष्कार की बात कहना मनोविज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है क्योकि बिना विचार का आधार लिये भावना लँगडी होती है। कुछ स्वच्छन्दतावादियो का विश्वास रहा है कि कवि को विचार करने का कोई अधिकार नही, उसे केवल देखना और अनुभव करना चाहिए। कवि को विचार से विमुख करने वाली यह स्वच्छदता-वादी प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है सुर्रियलिस्ट के इस प्रश्न मे कि 'आप क्यो चाहते है कि कविता का कुछ अर्थ निकले?' इसी प्रकार जिसे 'हाउसमैन' 'विशुद्ध काव्य का उन्नयन' की सज्ञा देता है और ऐसे काव्य की रचना की सलाह देता है जो बुद्धि को तनिक भी स्पर्श न करे और मात्र नाड़ी-शिराओ को झनझनाये, वह भी इसी प्रवृत्ति की अतिवादी सीमा है।

---

1 'कम्प्यूटर' कृत्रिम मस्तिष्क नही है क्योकि उसके संचालन के लिये मानवी मस्तिष्क की अपेक्षा रहती है। वह यत्र ही है।

2 पहले चीज बुद्धि मे आती है, फिर वह हृदय मे उतरती है, उसके बाद भावना का अग बनती है। यह तो एक मानी-जानी बात है।
—सुमित्रानंदन पत, 'धर्मयुग' 14 दिसम्बर, 1969, पृष्ठ 21।

पर इस प्रकार का मात्र जैविक एवम् शारीरिक सवेदन उत्पन्न करने वाला उदात्त निरर्थकता का काव्य अन्तत चल नही सकता। वह एक साहित्यिक प्रयोग हो सकता है, सामयिक बहक हो सकती है, पर साहित्य का स्थायी स्वरूप नही हो सकता।

व्यापक युग-बोध के लिये विचार का ग्रहण अनिवार्य

यो किसी भी देश और किसी भी काल मे कोई ऐसा महान् काव्य नही लिखा गया जिसमे वैचारिक तत्त्व का एकान्त अभाव रहा हो, बल्कि 'क्लासिक' की कोटि मे आने वाले काव्यो मे तो विचार या बुद्धि तत्त्व की मात्रा भी अल्प नही रही। आज के युग की परिस्थितियो मे तो विचार के समावेश के बिना काव्य चल ही नही सकता। जिस युग-त्रास के बीच हम जी रहे है उसके व्यापक स्वरूप को हृदयगम करने तथा उससे मुक्ति का मार्ग सुझाने के लिये साहित्यकार को बुद्धि की शरण लेनी ही होगी। विशुद्ध भावना के स्तर पर तो युग का सम्यक् बोध भी न हो सकेगा। यही कारण है कि आज की कविता गद्य की शैली के निकट आती जा रही है। "आज मानवीय चेतना को, मनुष्य के मन को झकझोरने का प्रश्न है। अपने साहित्य द्वारा चाहे आप कविता लिखे, चाहे उपन्यास, चाहे कहानी, यदि आप युग के अन्त करण के भीतर नही पैठे है, तो आप कैसे ऐसा साहित्य दे सकते है जो युग-मन को प्रेरणा प्रदान करे। अन्त करण मे पैठने का अर्थ यह है कि उसमे युग-प्रबुद्धता अवश्य होगी, क्योकि प्रकाश बुद्धि ही देती है। भावना तो वैसी ही है जैसे फूलो के रग सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करते है। कोई नीला लगता है, कोई पीला और कोई लाल लगता है, तो भावनाएँ भी इसी तरह बुद्धि के प्रकाश को ग्रहण कर विकसित होती है और उनका रूप निखरता है।"[1]

इस प्रकार साहित्य मे, विशेषकर आज के साहित्य मे जो युग-बोध के प्रति जागरूक होने का दावा रखता है, विचार का समावेश न केवल अवर्ज्य है अपितु किसी सीमा तक उपादेय भी है। अत काव्य मे विचार-तत्त्व के आगम पर चौकने की आवश्यकता नही है जिस प्रकार अमृत-पान की नीयत से वेश बदल कर देवताओ की पक्ति मे आ बैठने वाले असुर को देखकर देवता चौके थे। वह काव्य के लिए उतना विजातीय है भी नही। रहा प्रश्न मात्रा का, सो वह तो बहुत कुछ सापेक्षिक है। हमे कोई कविता विचार-बोझिल इसलिए भी लग सकती है कि हमारा वैचारिक धरातल बहुत ही निम्न है। इसके

---

1 सुमित्रानंदन पत, 'धर्मयुग' 14 दिसम्बर, 1969, पृ० 20।

लिये हम कवि से यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपने युग-बोध के उच्चतर धरातल से नीचे उतर कर हमारे लिये कविता लिखे। आखिर वह कोई बाल-साहित्य की तो रचना कर नहीं रहा। जहाँ तक पंत जी का सम्बन्ध है, हमें बराबर यह स्मरण रखना चाहिए कि वे 'शिव' के कवि हैं,[1] लोक-मांगल्य के कवि हैं, उपयोगी नवीन जीवन-मूल्यों के कवि हैं। भूतल के मानवी जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये वे समर्पित हैं। वे न पलायनवादी हैं, न युग-संघर्ष से विरत हैं[2] अपितु अपने नवमानवता के स्वप्न को पृथ्वी पर साकार देखने के लिये विकल हैं। पता नहीं, इस स्वप्न को देखने के लिये कवि को कितना अध्ययन, चिन्तन और मनन करना पड़ा होगा। कितने मान-चित्र बना-बना कर मिटा देने पड़े होंगे। ऐसी स्थिति में, व्यापक युग-बोध की पृष्ठभूमि पर सृजन करने के कारण, कवि की कुछ गिनी-चुनी कविताओं में यदि भाव पर विचार हावी हो भी गया तो कौनसा बड़ा अपराध हो गया? लोक-मंगल की प्रेरणा से लिखने वाला विश्व का शायद ही कोई महाकवि इनसे बच सका हो।[3] केवल भावना या अनुभूति के आधार पर यदि यही स्वप्न खड़ा किया जाता तो उसका मूल्य शेखचिल्ली के स्वप्न से अधिक न होता। निष्कर्ष यह है कि लोक-मंगल का, जीवन-मूल्यों का काव्य विचार-तत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता।

काव्य का चरम श्रेय : सत्यं-शिवं-सुन्दरं

यहाँ एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है कि साहित्य को 'शिव' से क्या सरोकार है, उसका अपना सम्बन्ध तो 'सुन्दर' से है? दूसरे शब्दों में, लोक-

---

1 शिव की कला ही
सत्य और सुन्दर है!
—'कला और बूढ़ा चाँद', द्वितीय सं०, पृष्ठ 18।

2. कलाकार हूँ मैं, पर जीवन-संघर्षण से
विरत नहीं हूँ।...देखो मेरी स्वप्न-निमीलित
आँखों में भावी का स्वर्णिम बिम्ब पड़ा है!
—रजतशिखर, प्रथम सं०, पृष्ठ 55।

3. अरे बाबा, उनको कुछ भी पता नहीं है। दुनिया का कौनसा ऐसा महाकवि है जिसने कुछ कविताओं में केवल विचारों को ही छन्दबद्ध नहीं किया।
—पंत, श्री सुमित्रानंदन पंत स्मृति-चित्र (शिवदानसिंह चौहान) पृष्ठ, 152।

मगल करने की साहित्यकार की कोई प्रतिबद्धता नही है, उसे तो मात्र 'सुन्दर' के प्रति ही समर्पित रहना चाहिए। स्पष्ट है, कि यह प्रश्न 'सुन्दर' और 'शिव' को दो पृथक् मूल्य मानकर चलता है। पर वास्तव मे ये दो पृथक् मूल्य न हो कर एक ही मूल्य के दो पक्ष है। और ये दो ही क्यो, 'सत्य' भी उसी मूल्य का तीसरा पक्ष है। काव्य का चरम श्रेय सत्य, शिव, सुन्दर नही, सत्य-शिव-सुन्दर है। अपेक्षित होगा कि इस पर तनिक विस्तार से विचार कर लिया जाय।

सत्य और तथ्य का अन्तर

वहुधा कहा जाता है कि कवि कल्पना के लोक मे रहता है और सत्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही होता पर यह आरोप मिथ्या है क्योकि कवि या कलाकार वही है, जो द्रष्टा होने के नाते सत्य को देख पाने की क्षमता रखता है। यहाँ सत्य (ट्रुथ) को तथ्य (फैक्ट) से पृथक् करके समझना होगा। तथ्य अनेक होते है पर उनकी तह मे छिपा रहने वाला सत्य केवल एक होता है। वृक्ष से टूट कर फल नीचे को आता है, वर्षा के जल की बूँदे पृथ्वी पर आती है और ऊपर फेंकी गई प्रत्येक वस्तु पृथ्वी को लौटती है। ये सव तथ्य है पर इन सव तथ्यो के मूल मे गुरुत्वाकर्षण का जो नियम है, वही सत्य है। इस सत्य के दर्शन होना ही 'सुन्दर' के दर्शन होना है।

सत्य और सुन्दर का अद्वैत

पौधे पर जिसे पुष्प ही सुन्दर दिखाई पडता है, उसका न तो सौन्दर्य-वोध विकसित है और न वह सत्य के दर्शन कर पाता है—सत्य जो एक और समग्र है, जिसके खंड नही है। विकसित सौन्दर्य-वोध वाले व्यक्ति के लिये विधाता की इस सृष्टि मे कुछ भी असुन्दर नही है। पौधे पर केवल पुष्प ही सुन्दर नही, पत्ते, टहनियाँ और काँटे तक सुन्दर है।[1] पुष्प का मुरझाकर भूमि पर

1. इस धरती के रोम रोम मे
भरी सहज सुन्दरता
इसकी रज को छू प्रकाश
वन मधुर विनम्र निखरता!
पीले पत्ते, टूटी टहनी
छिलके कंकड पत्थर
कूडा करकट सव कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर!

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 21।

चू पडना भी उतना ही सुन्दर है जितना कि कली से पुष्प के रूप मे विकसित होना। पर ये सब हमे तभी सुन्दर दिखाई पडेंगे जब हम मूल से लेकर फल तक ही नही, बीज से लेकर बीज तक के समग्र विकास-क्रम को देख पायेंगे। तभी हम वृक्ष की सूक्ष्म शिराओ मे प्रवहमान जीवन-द्रव को देख सकेंगे और देख सकेंगे पादप की उस जिजीविषा को जो पृथ्वी से खीचे गये इस जीवन-द्रव को फूल-फूल मे, पत्ते-पत्ते मे पहुँचा रही है। इस जिजीविषा के दर्शन ही, इस उदाहरण मे, सत्य के दर्शन है और ये ही सौन्दर्य के भी दर्शन है। बडे पैमाने पर, अनन्त काल और दिक् मे प्रसरित अगणित ग्रह-उपग्रह, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र आदि की गति-विधि का सचालन-सम्पादन करने वाले सिद्धान्त के दर्शन ही सत्य के, सौन्दर्य के दर्शन है। अग्रेज कवि कीट्स की अनुभूति 'ट्रुथ इज़ ब्यूटी, ब्यूटी ट्रुथ' का भी यही सन्दर्भ है।

सत्य के ग्रहण मे इन्द्रियो तथा बुद्धि की असामर्थ्य

जैसा कि तृतीय अध्याय के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है, इन्द्रियाँ उस व्यापक विश्व-सत्य का साक्षात्कार कराने मे अक्षम है क्योकि दिक् और काल मे उनकी अत्यन्त सीमित गति है। इसी प्रकार बुद्धि भी, विश्लेषण-मूला होने के कारण, सत्य को खड-खड कर देखने की आदी होने के कारण हमारी सहायता करने मे असमर्थ है। विश्लेषण की पद्धति से अनत काल तक प्रयत्न करके भी हम सृष्टि के सत्य तक नही पहुँच सकते क्योकि सृष्टि का रहस्य उसके सश्लेषण मे है। बुद्धि और तर्क विज्ञान के क्षेत्र मे जितने ही महान् है, दर्शन के क्षेत्र मे उतने ही लघु है। बुद्धि के व्यापार की दूसरी परि-सीमा यह है कि वह वस्तुओ पर केवल उपयोग की दृष्टि डालती है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता ज्ञान नही, कर्म है। अत. बुद्धि वस्तुओ को इस रूप मे उपस्थित करती है कि हम उन पर सफलतापूर्वक कार्य कर सके, इस रूप मे नही कि हम उन्हे सफलतापूर्वक जान सके। बुद्धि की यह कर्म-प्रेरणा मनुष्य पर हावी रहती है। फलत हम वस्तु को देखने के लिये नही देखते, देखने के उपयोग के लिये देखते है। ज्ञान का केवल उतना ही अश प्राप्त करके सतुष्ट हो जाते है जितने की भौतिक जीवन के लिये आवश्यकता है। शेष ज्ञान को, या कहना चाहिये ज्ञान के लिये ज्ञान को, हम त्याज्य और निरर्थक कार्य समझ बैठते है।

वस्तु पर जब हम उपयोग की दृष्टि डालते है तो हम वस्तु-विशेष को न देखकर उस वर्ग-विशेष को देखते है जिसके अतर्गत उसे रखा जा सके। एक ही वर्ग के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओ का परस्पर का अन्तर, जो व्यावहारिक जीवन के लिये उपादेय नही है, हमारी दृष्टि मे नही आता। भेडिये की आँख के लिये मेमने

तथा वकरी के वच्चे मे कोई ग्रतर नही क्योकि वे दोनो एक ही वर्ग मे आते है जिस पर झपटना तथा खाकर अपनी क्षुधा शात कर लेना उसके लिये सहज है।

सहजज्ञान द्वारा सत्य का दर्शन संभव

व्यापक विश्व-सत्य के दर्शन सहजज्ञान के द्वारा, अन्तर्मन की आँखो द्वारा या जिसे अरविन्द 'अतिमानस की स्थिति' कहते है, के द्वारा ही सभव है। 'मानस' की स्थिति से ऊपर उठने पर सहजज्ञान स्वत: जाग्रत हो जाता है, अतर्मन की आँख अपने आप खुल जाती है। 'सहजज्ञान' प्रकृति से ही सश्लेषणात्मक है और सत्य के दर्शन उसकी समग्रता मे कराने मे समर्थ है। यह सहजज्ञानात्मक स्थिति तर्क द्वारा प्रमाणित करने की नही, स्वय देखने और अनुभव करने की चीज है। भारत के प्राचीन द्रष्टाओ की आर्षवाणी चेतना के इसी धरातल से उद्भूत हुई थी जिसमे व्यापक विश्व-सत्य की अनुभूतियाँ सचित है। कवीर, जो अपने गुरु के प्रति इतने कृतज्ञ है वह इसीलिये कि गुरु ने उनके अन्तर्मन की आँख का उद्घाटन कर दिया है जिसके द्वारा वे 'अनन्त' सत्य के दर्शन करने मे समर्थ हो गये है।[1] स्वामी रामकृष्ण परमहस के एक ही वाक्य से विवेकानद के अन्तर्मन मे एक वातायन उन्मुक्त हो गया था जिसमे से होकर वे सत्य का वह रूप देख सके, जो उससे पहले कभी भी देखने को नही मिला था। भारत ही क्यो, पश्चिमी देशो मे भी अनेकानेक सत हो चुके है जो इस अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न थे और व्यापक विश्व-सत्य को हस्तामलकवत् देख सके थे।

पंत जी द्वारा सत्य-सुन्दर का दर्शन

कवि पत की अभीप्सा है कि वह मन के निश्चेतन भुवनो को क्रमश चैतन्य से आलोकित करता हुआ, व्यापक विश्व-सत्य की ओर अग्रसर हो सके।[2] कवि निश्चित रूप से अपने गतव्य पर पहुँचा है और उसने उस सत्य

---

1 सतगुर की महिमा अणत, अणत किया उपगार।
लोचन अणत उघाडिया अणत दिखावणहार॥

—कबीर-साखी।

2 काव्य-चरण नित मुझे तुम्हारी ओर
अभय ले जायँ,
हृदय मे साध शेष अब
खुलते रहे दृगो के सम्मुख
नवोन्मेष मे
गुह्य प्राण मन के प्रदेश सब! —वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 9।

के दर्शन मे, जिस सौन्दर्य के दर्शन किये है वह काव्य की पक्तियो मे पूरी ताजगी के साथ विद्यमान है ।[1] सत्य के, सौन्दर्य के दर्शन से कवि आनन्द के प्रवाह मे पडकर आत्म-विस्मृत हो गया है ।[2] अनुभूति की यह आढ्यता कितने रहस्यवादी कवियो के काव्य मे उपलब्ध है ? मात्र कल्पना के आधार पर इस प्रकार का मर्मस्पर्शी काव्य नही लिखा जा सकता । यह आर्ष कवियो के अति-मानसिक धरातल से लिखा गया मत्र-काव्य है—मत्र, जो श्रोता के मन मे भी एक अन्तर्दृष्टि उद्घाटित कर देता है । यही पहुँच कर समझ मे आता है कि जो सत्य है, वही सुन्दर है और जो सुन्दर है, वही आनन्दकर है ।

सत्य के साथ इस साक्षात्कार के शत शत चित्र पत जी के नवचेतना काव्य मे बिखरे पडे है जिन्हे आगामी अध्यायो मे यथा-स्थान उद्धृत किया जायेगा । सम्प्रति, इतना ही समझ लेना पर्याप्त है कि यह दशा 'मन' से 'अतिमन' की ओर आरोहण करने पर ही प्राप्त होती है ।[3]

---

1 ··· ·· · ·· यह मादकता,
यह सुन्दरता, यह सम्मोहन अकथनीय है,
अकथनीय ! आश्चर्यचकित हूँ ! बाहर-भीतर,
ऊपर-नीचे, नील व्योम पर, गिरि-शिखरो पर,
हरित धरा पर,—वही मधुर सम्मोहन मुझको
बुला रहा है !··· —शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 94 ।

2 उसके रूपो के सौ सौ आवर्तो मे पड
बहते हुए कमल-सा मेरा मन जाने कब
एक लहर के बाहु-पाश से छूट, दूसरी
लहरी के चचल अचल मे बँध जाता है !
घोर अराजकता है प्राणो के प्रदेश मे
दत कथा के राजकुँवर-सा मोहित हो मै
भटक गया हूँ किसी शप्त अप्सरा-लोक मे !
—वही, पृष्ठ 95 ।

3 यह अतिमा, मन से उठ ऊपर,
पख खोल शोभा क्षितिजो पर
स्वर्ण नील आरोहो को तर
गंध शुभ्र रज साँसो मे भर
गीतो के नि स्वर झरनो मे
अत शिखरो को नहलाती ! —अतिमा, तृतीय स०, पृष्ठ 52-53 ।

तब अचेतन मन के सुप्त राजमराल अपने शुभ्र पख फडफडा कर उड चलते है और उनके द्वारा की जाने वाली सगीत-वर्षा मे चेतना के रजत-शिखर भीग उठते है ।[1] अपने अन्त. नेत्रो के सम्मुख फैले सत्य के राशि-राशि सौन्दर्य की उपेक्षा कवि भला कैसे कर सकता है ।[2]

सुन्दर और शिव का अद्वैत

जिस प्रकार सत्य और सुन्दर मे अद्वैत स्थिति है, उसी प्रकार सुन्दर और शिव मे भी है । जब सौन्दर्य पूर्ण विकसित होकर अपनी प्रगल्भता छोड देता है तो उसमे और मगल मे कोई अन्तर नही रह जाता । पुष्प अपनी वर्ण-गन्ध की अधिकता को फल की गभीर मधुरता मे परिणत कर देता है और उसी परिणति मे ही, उसी चरम विकास मे ही सौन्दर्य और मगल का समन्वय हो जाता है । जिस पुण्य स्थान पर भगवान् बुद्ध ने मनुष्यो के दु खो की निवृत्ति के मार्ग का आविष्कार किया था, राजा चक्रवर्ती अशोक ने वही, उसी परम मगल के स्मरण-स्थान मे कला के सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की ।

---

1 आज ध्यान मे देखा मैंने
जाग जाग निश्चेतन मन के सोए पछी
पख मार, उड
गाते जाते ! गाते जाते !
श्वेत सरोरुह मालाओ से
शुभ्र शाति के राजमरालो के प्रसन्न दल
धरती पर आनद-छंद बरसाते जाते
गाते जाते !

—वाणी प्रथम, स०, पृष्ठ 15 ।

2 नही जानता तर्कवाद, विद्वान नही हूँ
मैंने सीखा नही पहेली कभी बुझाना
पर जो मन की आँखो को सुन्दर लगता है
उससे कैसे आँख चुराऊँ ? ··
जो अनजाने ही मन को मोहित कर लेता
चितवन को अनिमेप लूट लेता निज छवि मे
मैं उसको ही आँकूंगा निज रंग-तूलि से
वह चाहे कुछ भी हो, मैं यह नही जानता ।

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृष्ठ 79-80 ।

सुन्दर और शिव का ऐश्वर्य

मगल का सौन्दर्य उसके प्रयोजन या उसकी उपयोगिता के कारण नही है। मगल सुन्दर इसलिए है कि उसका समस्त ससार के साथ एक अत्यन्त गम्भीर सामजस्य है, उसका मानव-मन के साथ एक निगूढ मेल है—मेल जो केवल अनुभव किया जा सकता है, तर्क द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता। सौन्दर्य को जो ऐश्वर्य की कोटि मे लिया गया है, वह इसलिये कि वह प्रयोजन से ऊपर है। झरने मे नहा लेने और उससे जल भर लेने पर उसके प्रति हमारा आकर्षण समाप्त नही हो जाता, उसका कुछ न कुछ अश वचा ही रहता है। यह जो वचा हुआ निष्प्रयोजन आकर्षण है, वही झरने का सौन्दर्य है। मगल का सौन्दर्य भी हमारे व्यक्तिगत सुख-दु.ख से ऊपर है, अतिशायी है। वह भी इसलिए ऐश्वर्य की कोटि का है। लोकोपकार की प्रेरणा से, यदि कोई राम किसी अत्याचारी रावण को दडित करता है तो हमारा 'आश्चर्य पूर्ण प्रसादन' होता है। यह प्रसादन हमारे सुख-दु ख से ऊपर होता है, आनन्द की कोटि का होता है। यही मगल का ऐश्वर्य है। राजा भगीरथ का गगा को पृथ्वी पर लाना या हनुमान का निराशा मे डूवी सीता तक राम की मुद्रिका पहुँचाना 'मगल' के श्रेष्ठ उदाहरण हैं जिनमे अनन्त काल का कवि अनन्त काल तक सौन्दर्य के दर्शन करता रहेगा।

नवचेतना-काव्य की ऐश्वर्य-भूमि

पत जी का नवचेतना काव्य सौन्दर्य एवम् मगल की इसी ऐश्वर्य-भूमि से उद्भूत हुआ है[1]। कवि की दृष्टि मे, सौन्दर्य तथा लोक-मगल के वीच एक आन्तरिक सगति है और अन्तश्चेतना के रजत-शिखरो का अतिरिक्त सौन्दर्य, पृथ्वी पर प्रवाहित होकर लोक-जीवन को श्री-सम्पन्न वनाता है।[2] जैसा कि

---

1 अन्नभरी सुनहली वाल, नाल पर खडी रहने के वदले, यदि अपने ऐश्वर्य-भार से झुक जाती है तो इसे विधाता की कला की चरम परिणति ही समझना चाहिए। कुछ ऐसा ही कलात्मक सम्वन्ध मेरे मन का 'युगवाणी', 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' की रचनाओ से रहा है।
—चिदम्वरा, चरण-चिन्ह, द्वितीय स०, पृष्ठ 14।

2 क्या है यह सौन्दर्य-चेतना ? जग-जीवन की
अन्तरतम स्वर-सगति जो अब अन्तर्नभ के
शिखरो से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह सी
स्वप्नो से शोभा-उर्वर करने वसुधा को!
—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 107।

पहले भी कहा जा चुका है, कवि के लिए अन्तः और बाह्य तथा ऊर्ध्व और समदिक् के सचरण पृथक् सचरण नही है, उनका एक ही विस्तार है ।[1] यही कारण है कि सुन्दर और शिव उनके काव्य मे गलबाही डाल कर मिल रहे है, यहाँ तक कि भावी लोक-मागल्य को लाने वाला महानाश भी उनके लिए सौन्दर्य की परिधि से बाहर नही है ।[2]

लोक-मंगल की प्रतिष्ठा और कवि-दायित्व

कवि नवयुग-द्रष्टा एव नवजीवन-स्रष्टा होता है, अत युग-सत्य को समग्रत आत्मसात् कर विशृ खल भू-जीवन को नये सिरे से व्यवस्थित कर उसमे सौन्दर्य एव मगल की प्रतिष्ठा का दायित्व उसके कन्धो पर होता है ।[3] यह कार्य समग्र दृष्टि का स्वामी, कवि या कलाकार ही कर सकता है पर उसके लिए भी यह कार्य सहजसाध्य नही है । जग-जीवन की विषमताओ मे सामजस्य की स्थापना अपने आप मे एक दुरूह कार्य है ।[4] कदाचित् इसीलिए पत जी

---

1 महाश्चर्य है ! वही सत्य है ! ऊपर है जो—
शिखर वही नीचे प्रसार है ! एक सचरण—
मात्र ! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्, दोनो ही
पर अन्योन्याश्रित है निश्चय ! . . .

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 27 ।

2 देखो प्रिये, विराट् भीष्म सौन्दर्य नाश का
अद्भुत श्री शोभा है दारुण महाध्वस की
महाव्याल-सा शत सहस्र फन तान गगन मे
महानाश फूत्कार भर रहा वज्र घोष कर !

—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 64 ।

3 . केवल स्वर-शब्दो की ही
रिक्त साधना मात्र नही होती युग-कवि की,
उसे साम्य-सगति, सार्थकता भरनी होती
जीवन-विशृखलता मे, सौन्दर्य खोज कर
मानस-कमल खिला कर्दम मे !

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 57 ।

4 यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दु साध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को
वहिरतर की जटिल विषमताओ मे उसको
नव ममत्व भरना होगा, सौन्दर्य-सन्तुलित !

—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 34 ।

मानव-आत्मा के नील मौन को अपनी नि:स्वर पदचापो से झंकृत कर जाने वाले मन्त्र-द्रष्टा कवीन्द्र रवीन्द्र की आत्मा का आवाहन करते हैं जिसकी चेतना के पुण्य स्पर्श से, सम्भव है, भूतल पर नवीन सांस्कृतिक आदर्श शीघ्रतापूर्वक प्रतिष्ठित हो सकें।[1]

निष्कर्ष

पंत जी का नवचेतना-काव्य इस प्रकार 'शिव' का, 'मंगल' का काव्य है—मंगल, जो सौन्दर्य का अन्तिम विकास है, सौन्दर्य के अतिरेक का घनीभूत रूप है। 'अतिमानस' की उच्चतर भूमि पर कवि ने जिन नवीन चेतना-क्षितिजो का सौन्दर्य स्वप्न देखा है, वही अपनी प्रगल्भता छोड़ देने पर चेतना-काव्य बन गया है। उसके चेतना-काव्य की विविध प्रवृत्तियाँ, इस प्रकार, सौन्दर्य-स्वप्न के पुष्प से विकसित होने वाले फल-गुच्छ हैं। उसके इस उदात्त एवम् परम ऐश्वर्य-सम्पन्न काव्य मे जिसे सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते- वह या तो सौन्दर्य के स्वरूप से ही अपरिचित है या फिर उसका सौन्दर्य-बोध परिष्कृत नही है। कवि के लोक-मांगल्य-प्रेरित सौन्दर्य-स्वप्न से जो आदर्श, जो मूल्य प्रवाहित हुए हैं वे ही उसके चेतना-काव्य की विविध प्रवृत्तियाँ हैं और वे ही हैं नवचेतना का काव्य या भाव-पक्ष।

---

1. आओ, हे कवि आओ, फिर निज अमृत स्पर्श से
   आदर्शों की छायाओ को नवजीवन दो,—
   मर्त्यलोक के जड़ प्रांगण मे जीवन-चेतन
   स्वर्ग-स्वप्न विचरे, ज्वाला के पग धर नूतन,
   नव आशा, अभिलाषा से दीपित दिगंत कर
   आओ तुम जीवन-वसन्त के अभिनव पिक बन
   धरा-चेतना हँसे सांस्कृतिक स्वर्णोदय मे!

   —युगपथ. द्वितीय सं०, पृष्ठ 115।

अध्याय 5

पूर्व-लोकायतन काव्य

मूल काव्य-चेतना की अक्षुण्णता

पत जी ने 'युगवाणी' (1937-38 ई०) से लेकर 'वाणी' (1957 ई०) तक अपनी काव्य-चेतना का एक ही सचरण माना है,[1] 'वाणी' तक इसलिये कि 'चिदम्वरा' की भूमिका 'चरण-चिन्ह' लिखे जाने के समय तक वही पत जी की अन्तिम कृति थी। 'साठ वर्ष एक रेखाकन' (1960 ई०) लिखते हुए उन्होने पाया कि तव भी उनकी काव्य-चेतना का वही सचरण चल रहा था।[2] इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से उन्होने एक और प्रकाशित कृति 'कला और वूढा चाँद' (1959 ई०), जिसमे 1958 ई० की कविताएँ सकलित है, का भी समाहार उसी सचरण मे कर लिया था। यही क्यो, हमे तो उससे ठीक एक दशक वाद 1969 ई० मे प्रकाशित 'पतझर एक भाव क्राति' भी उसी चेतना-शृ खला की एक कडी दिखाई पडती है। बीच की कृतियो मे भी शिल्पगत प्रयोगो की भले ही भिन्नता हो, काव्य की मूल चेतना तो वही है जो 'युगवाणी के युग की अभीप्सा' थी। इस प्रकार यद्यपि पूरे तीन दशक से कवि की रचनाओ का मूल स्वर अपरिवर्तित रहा है तथापि इस विस्तृत काल-खड के कृतित्व को हम निम्नलिखित तीन भागो मे विभक्त कर लेना अध्ययन की दृष्टि से सुविधाजनक समझते है

(1) पूर्व-लोकायतन काव्य
(2) 'लोकायतन' महाकाव्य
(3) लोकायतनोत्तर काव्य

---

1 चिदम्वरा, द्वितीय स०, चरण-चिन्ह, पृ० 20।

2 अपने भीतर अव भी मैं नवीन चेतना के सघर्प के गभीर मेघ उमडते पाता हूँ और अव भी युगवाणी के युग की अभीप्सा मेरे भीतर ज्यो की त्यो अपना कार्य करती प्रतीत होती है।
—पत, 'साठ वर्ष एक रेखाकन,' प्रथम स०, पृष्ठ 74।

द्वितीय उत्थान-काल की पूर्व-लोकायतन कृतियाँ

प्रस्तुत अध्याय मे 'पूर्व-लोकायतन' काव्य का विवेचन किया जायेगा और शेष दो का विवेचन क्रमश दो आगामी स्वतत्र अध्यायो के अन्तर्गत । अपने काव्य के द्वितीय उत्थान-काल (1937 ई० से 1959 ई०) के अन्तर्गत लोकायतन महाकाव्य के प्रणयन से पूर्व, पत जी ने जो बारह् काव्य-कृतियाँ हिन्दी-जगत् को भेट की, उनकी सूची रचना-क्रम की दृष्टि से इस प्रकार है

कृति का नाम	रचना-वर्ष
1. युगवाणी	1937-38 ई०
2. ग्राम्या	1939-40 ई०
3 स्वर्णकिरण	1944-45 ई०
4. स्वर्णधूलि	1946 ई०
5. युगपथ	1948 ई०
6. उत्तरा	1949 ई०
7. रजतशिखर	1949 ई०
8 शिल्पी	1951 ई०
9 सौवर्ण	1952-54 ई०
10 अतिमा	1954-55 ई०
11. वाणी	1957 ई०
12 कला और वूढा चाँद	1958-59 ई०

काव्य-रूपको मे व्यक्त नवचेतनात्मक प्रवृत्तियाँ

उपरिलिखित सूची की तीन कृतियाँ—रजतशिखर, शिल्पी और सौवर्ण—को छोडकर शेष कृतियो मे पत जी की नवचेतनामूलक मुक्तक कविताएँ सकलित है । छोडी गई तीन कृतियो मे कवि के ग्यारह समस्यामूलक काव्य-रूपक सकलित है जिनमे कवि ने 'युग-जीवन' की अनेक प्रमुख समस्याओ पर विवेचन किया है ।[1] पत जी 1950 ई० से 1957 ई० तक आकाशवाणी से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे थे और इन काव्य-रूपको की रचना प्रसारण के लिये ही हुई थी । समय-समय पर वे प्रसारित हुए भी, पर देखने की बात यह है कि ये सारे काव्य-रूपक नवचेतना ही के किसी न किसी पक्ष को उजागर करते है। तीनो कृतियो के वे रूपक तथा उनके द्वारा उद्घाटित नवचेतनात्मक प्रवृत्ति का

---

1 पत जी, 'साठ वर्ष . एक रेखाकन,' प्रथम स०, पृष्ठ 70 ।

विवरण इस प्रकार है :—

कृति का नाम	काव्य-रूपक का नाम	नवचेतनात्मक प्रवृत्ति
रजतशिखर	(1) रजतशिखर	ऊर्ध्व और समतल सचरणो का समन्वय
	(2) फूलो का देश	भूत एव अध्यात्म का समन्वय
	(3) उत्तर शती	नवीन स्वर्णयुग के समारभ की आशा
	(4) शुभ्र पुरुष	गाँधीवादी चेतना के प्रति श्रद्धाजलि
	(5) विद्युत् वसना	विश्व-मानवता का निर्माण
	(6) शरद् चेतना	प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना
शिल्पी	(7) शिल्पी	कलाकार का अन्त:सघर्ष
	(8) ध्वसशेष	नव जीवन-निर्माण का स्वप्न
	(9) अप्सरा	सौदर्य-चेतना
सौवर्ण	(10) सौवर्ण	सक्रमणकालीन मानव-मूल्यो का विकास
	(11) स्वप्न और सत्य	आदर्श और वास्तविकता के बीच का युग-सघर्प

इससे पूर्व कि हम इस काल की कृतियो मे समग्रत प्रतिविम्वित नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो का विस्तार से अध्ययन करे, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि युगान्त (1936 ई०) के बाद कवि की काव्य-चेतना के निर्माण मे योग देने वाले अन्त वाह्य प्रभावो पर भी सक्षिप्त दृष्टि-निक्षेप कर लिया जाय।

काव्य-चेतना को रूपायित करने वाले कुछ और प्रभाव

1936 ई० मे 1940 ई० तक कालाकाँकर के अपने द्वितीय प्रवास-काल मे युगवाणी-ग्राम्या की कविताओ का सृजन करने के अतिरिक्त कवि गहन पठन-पाठन तथा चिन्तन-मनन मे डूवा रहा। इसके परिणामस्वरूप वह पूर्व-पश्चिम की अनेक विचार-सरणियो से तथा भारतीय सस्कृति की चेतना-धारा से उपलब्ध तत्त्वो के आधार पर चेतना के विकास की एक नवीन दिशा खोज निकालने मे समर्थ हुआ।[1] कवि के मन मे यह विश्वास घर कर गया कि

1 पंत जी, 'साठ वर्ष एक रेखाकन,' प्रथम स०, पृष्ठ 53-54।

समदिक् जीवन मे आर्थिक-राजनीतिक क्राति के समान्तर, मनुष्य के मन सगठन-हेतु एक सास्कृतिक आदोलन भी उतना ही आवश्यक है। इसी से प्रेरित होकर कवि ने 1942 ई० मे 'लोकायन' नाम से एक सस्कृति-पीठ की आयोजना की जिसमे रगमच के माध्यम से जन-चेतना का सस्कार करना अभीप्ट रहा।[1] यह अलग वात है कि कुछ वाह्य कारणो से योजना क्रियान्वित न हो पाई।

1941 ई० से 1944 ई० तक कवि को उदयशकर सस्कृति-केन्द्र के निकट सम्पर्क मे रहते हुए मच तथा अभिनय सम्वन्धी कला सीखने तथा भारतीय नृत्य तथा लोक-नृत्य का ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग मिला।[2] उसी केन्द्र के सौजन्य से 'कल्पना' चित्र के निर्माण-काल (1944 ई०) मे कवि को मद्रास जाने तथा मद्रास से पाँडिचेरी जाकर महर्षि अरविन्द के पुण्य दर्शन करने का लाभ प्राप्त हुआ।

यो अरविन्द की दार्शनिक विचार-धारा से कवि एक-डेढ वर्ष पूर्व ही परिचित हो चुका था जव अल्मोडा ही मे निवास करने वाले एक अमरीकी चित्रकार मि० ब्रूस्टर से उन्हे अरविन्द की 'द लाइफ डिवाइन' का प्रथम भाग प्राप्त हुआ था।[3] इसके वाद 1943 ई० मे ही श्री अरविन्द के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री पुराणी जी की धर्मपत्नी से, जो अपनी पुत्री के उदयशकर सस्कृति केन्द्र मे नृत्य-शिक्षण हेतु अल्मोडा आई हुई थी, अरविन्द के कुछ काव्य-ग्रन्थ तथा दर्शन-योग सम्वन्धी कुछ अन्य पुस्तके भी प्राप्त हुईं।[4] श्री अरविन्द-दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप कवि की आध्यात्मिक मान्यताएँ अधिक उन्नत, विकसित एवम् पुप्ट हुईं[5] तथा उनका मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म वन सका।[6]

मार्क्स-दर्शन के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष तथा गाँधी-दर्शन के सास्कृतिक पक्ष का प्रभाव कवि पर 1937 ई० से पूर्व ही पड चुका था, 1944 तक आते-

---

1 'साठ वर्ष एक रेखाकन,' प्रथम सस्करण, पृष्ठ 58।

2 वही, पृष्ठ 59।

3 "तुम्हारे विचार श्री अरविन्द से वहुत मिलते-जुलते हैं। मुझे स्वय उनके दर्शन से वडी शाति तथा प्रेरणा मिली है। तुम उसे अवश्य पढो।" यह कह कर उन्होने अपनी अल्मारी से 'लाइफ डिवाइन' का प्रथम भाग निकाल कर मेरे हाथ मे रख दिया।

—वही, पृष्ठ 61

4 वही, पृष्ठ 64।

5 वही, पृष्ठ 65।

6. वही, पृष्ठ 67।

आते अरविन्द-दर्शन के नवीन आध्यात्मिक पक्ष का निश्चित प्रभाव भी कवि पर स्पष्ट होने लगा। इसके वाद पत जी पर कोई ऐसा प्रभाव नही पडा जो उल्लेखनीय हो। इनमे से कौन से दर्शन का कितना प्रभाव कवि के नवचेतना काव्य पर पडा, इसका निर्देश नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो के विवेचन के अन्तर्गत ही किया जायेगा।

पूर्व-लोकायतन कृतियो में प्रतिफलित नवचेतना का स्वरूप

पत जी के पूर्व-लोकायतन काल की कृतियो के समग्र अध्ययन से कवि के नवचेतनावाद की जो रूप-रेखा विकसित होती है, वह इस प्रकार है :

1 व्यापक युग त्रास

(क) आर्थिक विपन्नता कारण श्रम का अनैतिक शोषण

(ख) वर्ग-विभक्त एवम् रूढि-रीति-वद्ध मानवता

(ग) विश्व-युद्ध की आशका कारण आर्थिक हितो की टकराहट एवम् मूल्यो की एकांगिता

(घ) आज का मूल्य सकट · समदिक् एव ऊर्ध्व जीवन-मूल्यो का विच्छेद

2 नवमानवता का स्वप्न

(क) पूर्ण मनुष्यत्व (देह, मन, आत्मा) की प्रतिष्ठा

(ख) मानव की वर्ग-विमुक्ति एवम् उसकी सास्कृतिक एकता की प्रतिष्ठा सास्कृतिक एकीकरण अन्तश्चेतना ही के धरातल पर सभव

3 नवचेतना के उपादान

(क) वाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता (देह, मन)
साधन (i) लोक-श्रम द्वारा उत्पादन मे वृद्धि
(ii) आर्थिक शोषण का अन्त

(ख) अतर्जीवन का विकास (आत्मा)
साधन (i) गाँधी के सत्य, अहिंसा और प्रेम के सिद्धान्त
(ii) अरविन्द के अधिमानस तथा अतिमानस

(ग) भूत और अध्यात्म का समन्वय

(घ) राग-भावना का परिष्कार

(ङ) व्यक्ति और समाज मे सतुलन

अब इसी क्रम मे इस काल की कृतियो मे निहित काव्य-चेतना का स्वरूप तनिक विस्तार मे उपस्थित किया जायेगा।

व्यापक युग त्रास

आर्थिक विपन्नता एवम् उसका कारण

वर्तमान का व्यापक युग-त्रास पंत जी के नवचेतना-काव्य में पृष्ठभूमि का कार्य करता है। वे जब तक साम्प्रतिक जीवन की विक्षुब्धताओं का विशद चित्रण नहीं कर लेते, उन्हें सन्तोष नहीं होता। युग-त्रास का सर्वाधिक निर्मा-यक तत्त्व कवि की दृष्टि में भारतवासियों की आर्थिक हीनता एवं विपन्नता है। ग्रामवासिनी भारत माता की तीस कोटि संतान आज अन्न, वस्त्र, आवासादि की प्राथमिक आवश्यकताओं से भी वंचित हैं।[1] पौष्टिक भोजन के अभाव में बालकों की शारीरिक वृद्धि कुंठित एवम् विकृत है,[2] इस सीमा तक कि वे कर्दम में बिल-बिलाते कीड़ों का स्मरण दिलाते हैं।[3] पशुओं और कीड़ों का सा दैन्य-जर्जर, नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे देशवासियों की दशा को देखकर कवि का संस्कृत मन हतप्रभ है[4] और वह यह निर्णय लेने में असमर्थ है कि जो दृश्य उसके

---

1 तीस कोटि संतान नग्न तन
अर्ध क्षुधित, शोषित निरस्त्र जन
मूढ़ असभ्य अशिक्षित निर्धन
नत मस्तक तरु तल निवासिनी ! —ग्राम्या, षष्ठ सं०, पृ० 48।

2 कोई खण्डित, कोई कुण्ठित,
कृश बाहु पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगें बड़ा पेट,
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित !
जग जीवन धारा में बहते
ये मूक पशु बालू के कण ! —वही, पृष्ठ 27।

3 इन कीड़ों का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज
मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीझ ! —वही, पृष्ठ 28।

4 यहाँ धरा का मुख कुरूप है
कुत्सित गर्हित जन का जीवन !
जहाँ दैन्य-जर्जर असख्य जन
पशु जघन्य क्षण करते यापन
कीड़ों से रेंगते मनुज-शिशु
जहाँ अकाल-वृद्ध है यौवन। —वही, पृ० 13।

नेत्रान्त-पटल के सम्मुख खुला है वह मनुष्य-लोक का है अथवा नरक-लोक का ।[1] स्वय को सृष्टि-विकास का शिखर एवम् स्व-भाग्य का नियामक कहने वाले मानव की दुर्दशा अकल्पनीय है ।[2]

देशवासियो की इस दुरवस्था का सबसे प्रधान कारण है आर्थिक क्षेत्र मे चलने वाला अनैतिक शोषण । पूँजी के आधार पर जन-श्रम का रक्त चूसने वाली जोको का इस देश मे कोई अभाव नही जो बिना नीति-अनीति का प्रश्न उठाये, अपने नृशस कर्म मे लीन है ।[3] उधर शोषित कृषको एवं श्रमिको की ठठरियाँ भूखी चीत्कारो से काँप रही है ।[4] ऋण-भार से दबे कृषक की अन्तिम निधि ही नही, उसके उत्पादन के एक मात्र साधन—बैलों की जोडी—को भी छीन कर ग्राम का महाजन अपनी नृशसता का परिचय देता है ।[5] और

---

1. यह तो मानव लोक नही रे यह है नरक अपरिचित !
यह भारत का ग्राम सभ्यता सस्कृति से निर्वासित !
झाड-फूँस के विवर—यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
कीडो से रेंगते कौन ये ? बुद्धि-प्राण नारी-नर !

—ग्राम्या, षष्ठ सस्करण, पृष्ठ 16 ।

2 पशुओ से भी हीन रेंगता कृमियो सा अब जीवन
भूल गया वह अन्तर्गरिमा, ढोता आत्म-पराभव
प्राणि वर्ग का ईश्वर नर दिड्मूढ, क्षुधार्त, निरावृत ।

—स्वर्ण किरण, द्वितीय स०, पृष्ठ 20 ।

3 वे नृशस है, वे जन के श्रम-बल से पोषित,
दुहरे धनी, जोक जग के, भू जिन से शोषित !
नही जिन्हे करनी श्रम से जीविका उपार्जित,
नैतिकता से भी रहते जो अतः अपरिचित !

—युगवाणी, षष्ठ सस्करण, पृ० 49 ।

4 शोषित ककालो की भूखी चीत्कारो से
काँप रही है नग्न वास्तविकता जगती की ।

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 81 ।

5 बिका दिया घर द्वार, महाजन
ने न व्याज की कौडी छोडी
रह-रह आँखो मे चुभती वह
कुर्क हुई बरधो की जोडी !

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृ० 25 ।

केवल विगत सस्कारो ही से जीवन-रस खीचने के कारण शोषक जन, निहित व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित होकर श्रमोपार्जित धन की लूट मचाने मे निरत है ।[1] व्यापक भू-जीवन, विरोधी विचारधाराओ के शिविरो मे विभक्त है और अपने-अपने वादो-तर्को मे अटूट निष्ठा रखने के कारण, झीगुरो की भाँति चिल्ला-चिल्ला कर एक-दूसरे पर कीचड उछालने मे ही रस ले रहे है ।[2]

विश्व-युद्ध की आशंका

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक हितो की टकराहट के कारण तीसरे विश्व-युद्ध की आशका बनी हुई है[3] पर इस बार होने वाला युद्ध, सामान्य युद्ध न होकर भगवान शकर का प्रलयकर रुद्र नृत्य होगा जिसमे महानाश की लपलपाती जिह्वाएँ समस्त सभ्यता एवम् सस्कृति को चाट जाएँगी ।[4] पूँजीवादी राष्ट्र ही

---

1 सूख गया प्रेरणा-शक्ति का स्रोत हृदय मे
केवल गत सस्कारो पर जीवित उनके शव,
रेग रहे जो भाग्य भरोसे भग्न रीढ पर
इसीलिए यह रक्त स्वार्थ के पजे फैला
लूटा करते एक-दूसरे का जीवन-श्रम !—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ०106-107 ।

2 आह घोर शिविरो मे आज बँटा भू-जीवन,
घृणा, द्वेष, स्पर्धा के दारुण दुर्ग सगठित,
हिंस्र प्रचारो के झीगुर चीत्कार भर रहे
उग्र मतो, कटु तर्को, वादो मे झनझन कर ! —वही, पृष्ठ 44 ।

3 आज तीसरे विश्व-युद्ध की भय-आशका
गरज रही इन भीम घनो मे हृदय-विदारक !
राष्ट्रो के कटु स्वार्थ, सत्व, धन बल की तृष्णा
समर-सगठित पुन हो रही भू-भागो मे !—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 91 ।

4 प्रलय वलाहक सा घिर-घिर कर विश्व-क्षितिज मे,
गरज रहा सहार घोर मथित कर नभ को
महाकाल का वक्ष चीर निज अट्टहास्य से
शत-शत दारुण निर्घोषो मे प्रतिध्वनित हो
अगणित भीषण वज्र कडक उठते अम्बर मे
लप-लप तडित शिखाएँ टूट रही धरती पर,
महानाश किटकिटा रहा कटु लौह दत निज
विकट धूम्र वाष्पो के श्वासोच्छ्वास छोड कर !
—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 58 ।

नही, लोक-संगठन मे विश्वास रखने वाले साम्यवादी राष्ट्र भी एक नवीन साम्राज्यवाद की मद-लिप्सा से प्रेरित होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध है।[1] कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कवि का कहना है कि आप के समय से लेकर अब तक कुछ विशेष परिवर्तन यहाँ नही हुआ है, हाँ, तृतीय विश्व-युद्ध की भूमिका अवश्य बन गई है।[2]

आज का मूल्य संकट

आज के युग-जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि मनुष्य ही मनुष्य का भक्षक बन गया है। भौतिक मद से आक्रान्त होने के कारण उसकी बुद्धि भ्रांत हो गई है और वह अधमति आत्मघात को सन्नद्ध है।[3] गहराई से विचार करे, तो इस संकट के आर्थिक राजनीतिक कारण ही नही है, समस्या के मूल

---

1 लोक राष्ट्र भी भूल बृहद् जन साम्य योजना
आज नवल साम्राज्यवाद की मद-लिप्सा से
बना रहे है सैन्य शिविर निज जन तन्त्रो को,
घूम रही है धरा समर के घोर भँवर मे।
दम साधे है खड़ा भयंकर अणु का दानव
भू-व्यापी संहार, प्रलय-हुंकार छोड़ने !
—रजतशिखर, प्रथम सं०, पृ० 92।

2 नही चाहता भू-जीवन के अंधकार को
पुन आप के पास भेजना . इन वर्षों मे—
अधिक नही कुछ बदल सका धरती का जीवन !
बल्कि तीसरे विश्वयुद्ध के लिए धरा के
राष्ट्र आज सन्नद्ध दीखते : अणु-विस्फोटो
रुज कीटाणुओ, गरल वृष्टि से वसुन्धरा पर
महा प्रलय, अन्तिम विनाश लाने को उद्यत !
—युगपथ, द्वितीय स०, पृ० 106।

3 मानव ही है सर्वाधिक मानव का भक्षक,
भौतिक मद से बुद्धि भ्रान्त युगजीवी मानव
दानव बन कर आत्मघात कर रहा अंध हो !
—शिल्पी, प्रथम सं०, पृष्ठ 63।

कहीं अधिक गहरे हैं। यह गहनतर मूल्यों का सकट है।[1] भू-जीवन मे पग-पग पर जिम अन्तर्विरोध के दर्शन हो जाते हैं वे मूल्यों की एकागिता के कारण ही।[2]

मध्यकालीन निषेधो एवम् वर्जनाओ ने जिन ऋण-मूल्यों को प्रश्रय दिया, उन्होंने जीवन को समस्त प्रकृत एव नैसर्गिक आनन्द से वचित कर दिया तथा जीवन के प्रति समस्त उत्साह एवम् ऊष्मा को भी हर लिया। 'सौवर्ण' का क्रान्तद्रष्टा कवि चेतना-शिखरो पर आच्छादित इसी हिमानी की अनुभूति करता है।[3] जीवन के प्राथमिक प्रसन्न उल्लास की ऊष्मा ही इस वर्फ को पिघला कर, जीवन-तरु के किमाकार ककाल को नये सिरे से पुष्पित-पल्लवित कर मकती है।[4] आवश्यकता है नवीन जीवंत मूल्यो के सृजन की।

इस युग-विभीषिका का मूल कारण समदिक् एवम् ऊर्ध्व जीवन-सचरणो का विच्छेद है। जब तक अन्तर्बाह्य का युगपत् सगठन न होगा, मानवता का

1. यह केवल आर्थिक न राजनीतिक ही सकट
   जीवन के मौलिक प्रतिमानो का सकट यह
   आज उपस्थित जो मानव इतिहास मे विकट।

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृष्ठ 30।

2. भू-मानस कटु सीमाओ मे क्रूर विभाजित,
   एकागी मूल्यों मे मानव-जीवन खडित।
   भू-प्रकाश मे अधकार युग-युग का मिश्रित
   इसीलिए मिलता विरोध जीवन मे निश्चित।

—वाणी, प्रथम स०, पृ० 109।

3. देख रहा मैं, बरफ बन गया, बरफ बन गया
   बरफ बन गया, पथरा कर, जम कर, युग-युग का
   मानव का चैतन्य-शिखर नीरव, एकाकी,
   निष्क्रिय, नीरस, जीवन्मृत-सब बरफ बन गया।

—सौवर्ण, प्रथम सस्करण, पृ० 50।

4. आह इसे प्राणो का स्पदित ताप चाहिए,
   जीने को जन मन का भावोच्छ्वास चाहिए
   हरित प्राण उल्लास से रहित इस युग-युग के
   पतझारो के निर्जन, करुण, कराल ठूंठ को
   गध गुजरित, रस-कुसुमित मधुमास चाहिए।

—वही, पृष्ठ 52।

त्राण सम्भव नही। इस दिशा मे अध्यात्म-प्राण भारत ही से मार्ग-दर्शन की आशा की जा सकती है।[1]

धर्म, दर्शन तथा इन दोनो से उद्भूत सामाजिक आदर्शों के क्षेत्र मे और भी अराजकता एव सकीर्णता है। जगत् को मिथ्या बताने वाला दर्शन, भू-जीवन के प्रति नितान्त उपेक्षा का भाव उत्पन्न कर रहा है और व्यक्तिगत मोक्ष की भावना ने सामाजिक भावना को विच्छिन्न कर दिया है। किसी समय जो श्रेष्ठ लोकादर्श थे, वे नाना विधि-विधानो एवम् जट कर्मकाडो मे विभक्त हो गए है।[2]

साहित्य एवम् कला के क्षेत्रो मे प्रभावकारी सृजन न होकर, सहकर्मियो की व्यक्तिगत स्तुति-निन्दा होती है क्योकि आजकल कलाकार भी, राजनीतिज्ञो की भाँति अपने-अपने पृष्ठपोपक दल बनाकर रहते है तथा ईर्ष्या-दग्ध होकर परस्पर मिथ्या आक्षेप बरसाते रहते है।[3]

---

1 क्या भारत इस भू-विभीपिका से हो जाग्रत
वहिरतर सगठित नही होगा इस युग मे ?
आत्म-शक्ति का, विश्व चेतना का प्रतीक बन
सौम्य शान्त भू-कर्मनिष्ठ, जन मगल कामी
मनुष्यत्व का प्रतिनिधि, दृढ निर्भीक अहिंसक !

—रजतशिखर, प्रथम स० पृ० 92।

2 जहाँ जगन्मिथ्या की निष्क्रियता छाई है
मुक्ति-दीप टिमटिमा रहा फीका प्रकाश दे !
अधोमुखी लघु स्वर्ग, सप्रदायो मे सीमित
लटके है अगणित त्रिशकु से ·· ···
जहाँ रूढि-जर्जर आस्था के झखाडो पर
क्षुद्र अहता के दिवाध है नीड बसाए,
आदर्शो के उच्च स्वर्ग, सकीर्ण क्षीण हो,
बिखर गए जाने क्यो वहु उपशाखाओ मे
शुष्क कर्मकाडो मे, जड विधियो, नियमो मे !

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 100-101।

3 ये क्या सस्कृति पीठ, कला साहित्य द्वार है ?
क्षुद्र मतो मे, कुटिल गुटो मे ईर्ष्या-खडित !
और सृजन-प्रेरणा व्यक्तिगत स्तुति-निन्दा पर
निर्भर रहती, रिक्त शिल्प-सौष्ठव मे मडित !

(शेष अगले पृष्ठ पर)

नवमानवता का स्वप्न

पूर्ण मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा

कवि का स्वप्न पृथ्वी पर नवमानवता की प्रतिष्ठा है। यह मानवता नवीन इस अर्थ में है कि यह मानव का उसकी समग्रता में उन्नयन चाहती है। मानवतावाद के प्राचीन रूप मानव-सत्य के किसी एक ही पक्ष को लेकर चलते थे। मानव-सत्य की पूर्णता देह, मन और आत्मा के समग्र सत्य में है।[1] मध्यकालीन अध्यात्मवादियों ने यदि मानव को इन्द्रिय-सुख से विमुख कर, जीवन को मरुस्थल बना दिया तो आधुनिक जडवादियों ने मात्र उदर-क्षुधा को महत्त्व देकर उसे पशु-धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया।[2] अत आवश्यकता मानव-सत्य का पुनर्मूल्यांकन कर पूर्ण मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा की है।[3] इसके साथ-साथ जाति, धर्म, देश आदि की कृत्रिम काराओं में विभक्त मानवता[4] को

(पिछले पृष्ठ का शेष)

यहाँ महत् निर्माण न सम्भव भाव-सृष्टि का
हाँ सगठित प्रहार सुलभ है सत्कर्मी पर
बुद्धिजीवियों का आहत अभिमान-प्रदर्शन
यहाँ मात्र वाणी की सेवा, कलाकारिता!

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 108।

1 शांति चाहिए शांति! रजत अवकाश चाहिए—
मानव को, मानस वह, महत् प्रकाश चाहिए,
आत्मा वह, हाँ अन्न वस्त्र आवास चाहिए,
देही भी वह.

—अतिमा, तृतीय स०, पृ० 55।

2 वाणी, प्रथम स०, पृ० 81।

3 स्वीकृत कर सम्पूर्ण प्रकृति को, पूर्ण मनुज को,
फिर से हो जीवन-पदार्थ का मनोद्रव्य का—
स्थूल-सूक्ष्म का सागर-मथन, नवमूल्यांकन!

—वही पृष्ठ 83।

4 मानव-जग में गिरि कारा-सी
वन युग की सस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की है मानवता को रच—
देश जाति की भित्ति अमर!

—युगपथ, द्वितीय स०, पृ० 19।

पुन: संयुक्त करने की आवश्यकता भी बनी हुई है। क्यों नहीं विश्व के समस्त मानव संयुक्त होकर अपने सामूहिक हितों को दृष्टि में रखते हुए एक मानवी लोक का निर्माण करें ?[1] मानव जो भाषा में, भूषा में, श्रेणी में और वर्ग में खो गया है, उसे सबसे पृथक् करके विशुद्ध मानवत्व को खोज निकालने का सांस्कृतिक कार्य, युग की प्राथमिक आवश्यकता है।[2] यद्यपि साम्प्रतिक युग-जीवन राजनीति द्वारा संचालित है तथापि वह समय दूर नहीं जब प्रबुद्ध जनों का ध्यान समस्या के इस सांस्कृतिक पक्ष की ओर आकृष्ट होगा।[3] कवि बारम्बार स्मरण दिलाता है कि हमें एक ऐसी विश्व-संस्कृति विकसित करनी है जो मानवता के नवीन तत्त्वों से युक्त हो।[4]

सांस्कृतिक एकता की प्रतिष्ठा

कवि का दृढ विश्वास है कि मानव का यह सांस्कृतिक एकीकरण अन्त-

---

1. क्यों न एक हों मानव मानव सभी परस्पर
   मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर ?
   जीवन का प्रासाद उठे भू पर गौरवमय
   मानव का साम्राज्य बने मानव हित निश्चय !
   —युगवाणी, षष्ठ सं०, पृ० 34।

2. भाषा-भूषा के जो भीतर
   श्रेणि-वर्ग से मानव ऊपर,
   अखिल अवनि में रिक्त मनुज को
   केवल मनुज जान अपना लो !
   —वही, पृ० 107।

3. राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख !
   आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित !
   खंड मनुजता को युग-युग की होना है नवनिर्मित
   विविध जाति वर्गों, धर्मों का होना सहज समन्वित !
   मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !
   —ग्राम्या, षष्ठ सं०, पृ० 89।

4. हमें विश्व-संस्कृति धरणी पर करनी आज प्रतिष्ठित
   मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित !
   —स्वर्णकिरण, द्वितीय सं०, पृ० 19।

श्चेतना के धरातल पर ही सम्भव है ।[1] वाह्य साधन इस दिशा मे दूर तक नही जाते । इसीलिए कदाचित् देशो के बीच मैत्री-भाव वढाने के लिए सर्वोत्तम साधन माना जाता है सास्कृतिक दलो का आदान-प्रदान । मानवी चेतना सम्प्रति अधिकाश लोगो मे 'मानस' के धरातल पर है उसे विकसित-उन्नत करके यदि 'अधिमानस' के धरातल पर पहुँचा दिया जाए तो मानवता को सकीर्णताओ मे वद्ध करने वाली भित्तियाँ स्वत भरभरा कर धराशायी हो जाएँगी और मानवता अन्त सयोजित हो जाएगी ।[2] मुर्गी का वच्चा जिस प्रकार अण्डे के कठोर छिलके को तोड कर अपनी रुद्ध कोठरी से वाहर के अनन्त मुक्त वातावरण मे पहुँच जाता है, वैसे ही अहता के वज्र-कपाटो का भेदन कर आत्म-चेतन, सर्वात्म-चेतन मे परिणत हो जाता है और तव मानव और मानव के वीच कोई दीवार नही रह जाती ।[3] 'अधिमानस' के धरातल से 'अतिमानस' के धरातल का स्पर्श करने पर मानव की चेतना, अहता से

---

1. नव मानवता को नि सशय
   होना है अव अन्त केन्द्रित,
   जन-भू स्वर्ग नही युग सम्भव
   वाह्य साधनो पर अवलम्वित ।
   ओ अणुमृत जन भीतर देखो
   समाधान भीतर यह निश्चित ।

—वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 165 ।

2 यह अधिमानस की क्रान्ति धरातल पर विम्वित
   आत्मा को घेरे रजत शान्ति का व्योम अमित
   सयुक्त हो रहा विश्व-चेतना मे विकसित
   मानवता को होना भीतर से सयोजित ।

—वही, पृ० 76 ।

3 एक नया चैतन्य, नया अध्यात्म धरा पर
   जन्म ले रहा मानव अन्तर के शतदल मे,
   निज स्वर्णिम किरणो के वैभव मे मज्जित कर
   मनुज हृदय की निखिल क्षुद्रता, रुद्ध अहता
   एक महत् चैतन्य उदय हो, मानवता के
   ऊर्ध्व भाल पर मुकुट रख रहा स्वर्ग-ज्योति का ।

—शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 103 ।

उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से मुक्त हो जाती है और साम्य की अन्तर्मुखी भावना का उदय हो जाता है।[1]

अधिचेतना एव अतिचेतना के शिखरो की ओर मानवी चेतना के सचरण की बात न केवल सभाव्य है, अपितु सचरण की यह क्रिया प्रारम्भ भी हो चुकी है जो सम्प्रति प्रच्छन्न होने के कारण लक्ष्य मे नही आ रही है पर आगे चल कर जो निश्चित रूप से स्पष्टतर हो उठेगी।[2] अब दिन प्रतिदिन पूँजीवादी और साम्यवादी देश जो निकट से निकटतर आते जा रहे है, उसके पीछे यही कारण है।[3] अब धीरे-धीरे यदि मनुष्य के विविध जीवन-पक्षो मे आमूल-चूल परिवर्तन आने लगे तो आश्चर्य नही होना चाहिये।[4]

---

1 विगत अहता का विधान विकसित वर्धित हो
मुक्त हो रहा राग-द्वेष, कुत्सा-स्पर्धा से
भेद-भाव मिट रहे, छँट रहा सशय का तम
उदय हो रही अन्तर्मुख भावना साम्य की
सयोजित हो रहा मनुज-मन नव प्रकाश मे
जन्म ले रही नव मनुष्यता हृदय-क्षितिज मे!

—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 109।

2 आज विश्व के कोने-कोने मे जागृति की
सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य कर रही जन के मन मे
जो प्रच्छन्न अभी है, निश्चय ही भविष्य मे—
नव्य चेतना विचर सकेगी जन धरणी पर
नव जीवन की शोभा गरिमा मे मूर्तित हो!

—वही, पृष्ठ 34।

3 पूँजीवादी लोक साम्यवादी देशो के
वातायन खुल रहे भाव विनिमय के व्यापक!

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 98।

4 विस्मय क्या यदि वदल रहा आर्थिक, सामाजिक,
धार्मिक, वैयक्तिक मानव? यदि मनुज चेतना—
अब सामूहिक, वर्गहीन वन रही वाह्यत
बिखर रहे यदि विगत युगो के मन सगठन
क्या आश्चर्य, बदलता यदि आमूल मनुज जग!

—अतिमा, तृतीय सस्करण, पृ० 57।

नवीन मानवता का स्वरूप कवि की दृष्टि मे ऐसा होना चाहिए जो मानव-सत्य के सभी स्तरो का स्पर्श कर सके।[1] उसकी रचना मधुमक्खी के छत्ते जैसी होनी चाहिए जिसमे प्रेम और प्राणो का मधु-रस भरा हो।[2] कवि की नवमानव की सस्कृति की धारणा मे भी विकास होता चला है। जहाँ 'युगवाणी' मे नवीन सस्कृति का स्वरूप प्रधानत बाह्य भौतिक जीवन की आवश्यकताओ को दृष्टि-पथ मे रखते हुए निर्मित किया गया है,[3] वहाँ आगे चल कर 'रजत शिखर' मे आन्तरिक चेतनात्मक सगठन को ध्यान मे रख कर।[4]

---

1 मानवता निर्माण करे जन
चरण मात्र हो जिसके भू पर
हृदय स्वर्ग मे हो लय जिसका
मन हो स्वर्ग क्षितिज से ऊपर ! —युगपथ, द्वितीय स०, पृष्ठ 98।

2 मानवता की रचना
तुम्हारे छत्ते-सी हो !
जिसमे स्वर्ग-फूलो का मधु,
युवको के स्वप्न
मानव हृदय की करुणा ममता,
मिट्टी की सोंधी गध भरा
प्रेम का अमृत
प्राणो का रस हो ! —कला और बूढा चाँद, द्वितीय स०, पृ० 25।

3 भाव कर्म मे जहाँ साम्य हो सतत
जग जीवन मे हो विचार जन के रत
ज्ञान-वृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन !
रूढि-रीतियाँ जहाँ न हो आराधित
श्रेणि वर्ग मे मानव नही विभाजित
धन बल से हो जहाँ न जन-श्रम-शोषण
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन ! —युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 24।

4. भ्रातृ भावना, विश्व-प्रेम से भी गभीरतम
प्रीति-पाश मे बाँधे हम नव मानवता को,
जिसका दृढ आधार एकता हो आत्मा की
जिसकी शाश्वत नीव चेतना की उज्ज्वलता,

(शेष अगले पृष्ठ पर)

नवचेतना के उपादान

वाह्य जीवन की सम्पन्नता और मार्क्स-दर्शन

अपने इस नवमानवता के स्वप्न के अन्तर्गत, पत जी मानव के देह एव मन. सत्य की सतुष्टि के लिए वाह्य भौतिक जीवन को सुखी एवं सम्पन्न देखना चाहते है। यह सम्पन्नता कठोर शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन की वृद्धि, आर्थिक शोषण से बचने के लिए उत्पादन के यन्त्रों पर सामूहिक स्वामित्व, आय के सम वितरण आदि पर निर्भर करती है। इम क्षेत्र मे मार्क्स द्वारा किये गए वैज्ञानिक चिन्तन तथा उसके द्वारा विकसित साम्यवादी दर्शन के लिए कवि मार्क्स के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है[1] और उससे अपने नवीन चेतनावाद के लिए अनुकूल उपकरण आकलित करता है। वह स्वीकार करता है कि साम्यवाद ने अर्थनीति एव राजनीति के क्षेत्र मे व्यापक एव समुचित परिवर्तन सुझाकर, सामूहिक जनतन्त्र का नारा देकर तथा अन्तर्मुख अद्वैत को वहिर्मुख एव वस्तुनिष्ठ रूप देकर मानवता की अमूल्य सेवा की है।[2] इसी का

(पिछले पृष्ठ का शेष)

मनुज प्रेम के लिए मात्र हो मनुज प्रेम वह
जग को नव सस्कृति का स्वर्णिम द्वार दिखाएँ
आओ, हम नव मानव का घर द्वार वसाएँ !

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 40।

1. यह सम्भवतः कार्ल मार्क्स ! समदिक् जीवन का
विश्लेषण सश्लेषण कर जिसने दिग् व्यापक
नव द्वन्द्वात्मक भूतवाद का युग-दर्शन दे
आन्दोलित कर दिया लोक जीवन समुद्र को,
अर्थशास्त्र का नव सजीवन पिला जनो को
वर्ग क्रांति का दूत, साम्य जनतन्त्र विधायक !

—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 77।

2 साम्यवाद ने दिया विश्व को नव भौतिक दर्शन का ज्ञान !
अर्थशास्त्र औ' राजनीतिगत विशद ऐतिहासिक विज्ञान !
साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतत्र महान
भव जीवन के दैन्य दु ख से किया मनुजता का परित्राण
अन्तर्मुख अद्वैत पडा था युग-युग से निष्क्रिय निष्प्राण
जग मे उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु-विधान !

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृष्ठ 47।

प्रताप है कि आज साम्राज्यवादियो एव धनकुबेरो का सौभाग्य-सूर्य अस्त होने जा रहा है।[1]

साम्यवाद आज की अर्थ-व्यवस्था मे व्यापक परिवर्तन देखने का हामी है। उत्पादन के साधनो पर सामूहिक नियन्त्रण तथा सम वितरण के द्वारा आर्थिक शोषण का अन्त किया जा सकता है।[2] साप्रतिक आर्थिक व्यवस्था ने समाज मे पूँजीपति और श्रमिक, शोषक और शोषित के कृत्रिम वर्ग स्थापित कर दिये है जो जन-विकास मे निश्चित रूप से बाधक है। इस वर्ग-भेद की खाई को पाटकर एक वर्गहीन समाज की प्रतिष्ठा सभी सम्भव उपायो द्वारा काम्य है, पर हिंसा का प्रयोग, अन्तिम साधन ही होना चाहिए।[3] आर्थिक

---

1 अस्त आज साम्राज्यवाद, धनपति वर्गों का शासन,
प्रस्तर-युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन!
साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन!

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृष्ठ 45।

2 यह क्या सम्भव नही, व्यवस्था—
मे जग की कुछ हो परिवर्तन?
कर्म और गुण के समान ही
सकल आय व्यय का हो वितरण!
मिलकर जन निर्माण करे जग
मिलकर भोग करे जीवन का,
जन विमुक्त हो जन शोषण से
हो समाज अधिकारी धन का।

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृष्ठ 67।

3 यह सच है, जिस अर्थ-भित्ति पर विश्व सभ्यता
आज खडी है, बाधक है वह जन-विकास की,
उसमे दीर्घ अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
भू-मण्डल हित, धनिक-श्रमिक के बीच भयकर
जो शोणित पकिल खाई है वर्ग-भेद की
उसे पाटना है इस युग को आत्म-त्याग से
सहिष्णुता, शिक्षा समत्व से,—और नही तो,
सत्याग्रह से, शत-शत निर्भय बलिदानो से!

—रजतशिखर, प्रथम सं०, पृष्ठ 85।

शोषण की इतिश्री होने पर ही वाह्य भौतिक जीवन सम्पन्न हो सकता है।[1] इस सम्पन्नता की सिद्धि के लिए दूसरी अपेक्षा है कठिन उत्पादक श्रम की। उत्पादक श्रम की महत्ता प्रतिष्ठित करने के मार्क्सवादी सिद्धांत से पंत जी की पूर्ण सहमति है।[2] इसीलिए न केवल श्रमजीवी,[3] अपितु उसके उत्पादक-साधनों—हल, बैल, हथौड़े[4]—के लिए भी उनके पास प्रशंसा के शब्द हैं।

मार्क्सवादी विचारधारा की सीमाएँ

पर कवि के लिये मार्क्सवाद के दो सिद्धान्तों से समझौता करना सम्भव नहीं हो सका है। प्रथम तो यह कि संस्कृति, अर्थनीति-राजनीति पर खड़ा अतिविधान मात्र है और दूसरा यह कि अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए रक्त-क्रांति अनिवार्य है। जहाँ तक पहले सिद्धान्त का सम्बन्ध है, पंत जी इस तथ्य को तो अस्वीकार नहीं करते कि वस्तु-सत्य की प्रगति, भीतर के

---

1 रम्य रूप निर्माण करो हे, रम्य वस्त्र-परिधान !
रम्य बनाओ गृह, जनपथ को रम्य नगर, जन स्थान।
रम्य सृष्टि हो रूप, जगत की रम्य धरा शृंगार,

—युगवाणी, पष्ठ सं०, पृष्ठ 59।

2. अत: कर्म को प्रथम स्थान दो
भाव-जगत कर्मों से निर्मित
निखिल, विचार, विवेक तर्क
भव रूप कर्म को करो समर्पित !

—वही, पृष्ठ 54।

3 लोक-क्रांति का अग्रदूत, वर वीर, जनादृत
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित
चिर पवित्र वह भय अन्याय घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित !

—वही, पृष्ठ 46।

4 ये अजेय हल बैल, लोक-जीवन के सम्बल
जो धरती की निर्मम जडता को विदीर्ण कर
प्राण-प्ररोहों में पुलकित करते भू का उर !
यन्त्र-शक्ति है उधर प्रगति सूचक नव युग की
इधर हथौड़ा विश्व-विषमता चूर्ण कर निखिल
नव समत्व भर रहा विरोधों में जीवन के !

—शिल्पी, प्रथम सं०, पृष्ठ 42।

भाव-सत्य को भी प्रभावित करती है,[1] पर उन्हे यह मानने मे अवश्य आपत्ति है कि लोक का सास्कृतिक मन उसी अनुपात मे सगठित हो जाता है जिस अनुपात मे वाह्य भौतिक जीवन प्रगति कर जाता है।[2] इसीलिए पत जी के नव चेतनावाद मे सुधार-जागरण के सास्कृतिक आदोलनो के लिए अवकाश है।

पर यह सत्य है कि युगवाणी—ग्राम्या काल मे स्वय पत जी मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त मे आस्था रखते थे कि वस्तु-सत्य ही चिरन्तन है[3] और कि भाव एव विचार पूर्णतया उसी पर अवलम्बित है, पर आगे चलकर उनके दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ है और वे सूक्ष्म मन जगत् को ही स्थूल वाह्य जगत् मे रूपायित होता पाते है।[4] इसे पत जी की विचार-सरणि का अन्तर्विरोध न कह कर विकास ही कहा जाना चाहिये।

जहाँ तक दूसरे सिद्धान्त अर्थात् रक्त-क्रान्ति की अनिवार्यता का प्रश्न है, पत जी के मानवतावाद से उसकी सगति नही बैठती और इसीलिए वह उन्हे

1 (क) वाह्य क्राति ही मात्र नही है भौतिक युग की
वदल रहा अन्तर का भी आदर्श साथ ही।
—शिल्पी, प्रथम स०, पृष्ठ 173।

(ख) वाह्य परिस्थितियो मे जब परिवर्तन आता
जीवन मन के मान वदलते रहते युगपत्। —वही, पृष्ठ 32।

(ग) समदिक् सवर्धन मे रहता
ऊर्ध्व उन्नयन भी अन्तर्हित। —वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 154।

2 ओ विज्ञान।
देह भले ही
वायुयान मे उडे
मन अभी
ठेले, वैलगाडी पर ही
धचके खाता है —कला और वूढा चाँद, द्वितीय स०, पृष्ठ 76।

3 घोषित करता घन वज्र-स्वन
व्यर्थ विचारो का सघर्षण
अविरत श्रम ही जीवन साधन,
लौह काष्ठ मय, रक्त-मास मय
वस्तु रूप ही सत्य चिरन्तन।
ठङ्-ठङ् ठन। —युगवाणी, षष्ठ सं०, पृष्ठ 53।

4 सूक्ष्म मन सिद्धान्त वदल कर
स्थूल जगत मे होते मूर्त्तित। —वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 173।

अस्वीकार्य है। पीछे[1] इस पर विस्तार से विचार हो चुका है अत यहाँ पुनरुक्ति न करना ही उचित है। इन दो के अतिरिक्त, शेष तत्त्वो को उन्होंने अपनी नवचेतना का अग बनाया है, केवल इसीलिए कि वे पृथ्वी पर पूर्ण मानवता के अवतरण मे एक प्रमुख पक्ष—देह मन—की पूर्ति करते हैं, इसलिए नही कि पत जी को तथाकथित प्रगतिवादी कविता लिखनी थी।

जिस प्रकार मार्क्सवाद का आर्थिक-राजनीतिक पक्ष सबल है और अध्यात्म-पक्ष दुर्बल, उसी प्रकार गाँधीवाद का अध्यात्म-पक्ष सबल है, आर्थिक-राजनीतिक पक्ष दुर्बल। अत नव मानवता की दृष्टि से ये दोनो वाद एक-दूसरे के पूरक है। जिस प्रकार पत जी ने अपने नव मानवतावाद के समदिक् सचरण के लिए मार्क्सवाद से उपयोगी तत्त्व आकलित किये हैं. उसी प्रकार ऊर्ध्व सचरण के लिए गाँधीवाद से।

अन्त:जीवन-विकास और गाँधी-दर्शन

विश्व को गाँधी की देन निश्चित रूप से सास्कृतिक देन ही है।[2] उन्होंने जिस नवीन सस्कृति का शिलान्यास किया, वह युगो-युगो की सस्कृतियो का सार तत्त्व थी।[3] इसके अन्तर्गत सत्य एव अहिंसा के आधार पर विकसित नव मानवता का सन्देश तो था ही, साथ ही जीवन के प्रति आत्मिक निष्ठा एव मानव की शक्ति की असीमता का विश्वास भी था।[4] गाँधी की नवमानवता अन्तर की एकता पर आधारित थी क्योकि वे हिन्दू-मुस्लिम की भावना से

---

1 प्रथम अध्याय के अन्तर्गत।

2 बाँध गये नव सस्कृति मे तुम विश्व जनो को
मनुष्यता का मुख नव महिमा से मंडित कर!
नर चरित्र का रूपातर कर, जन गण मन को
श्रद्धा से पावन, धरणी को स्वर्ग-स्नात कर!
—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 117।

3 युग-युग की संस्कृतियो का चुन तुमने सार सनातन
नव सस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभ कर!
—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृष्ठ 52।

4 गाँधीवाद जगत मे आया ले मानवता का नव मान
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव सस्कृति करने निर्माण
गाँधीवाद हमे जीवन पर देता अन्तर्गत विश्वास,
मानव की नि सीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास!
—युगवाणी, षष्ठ स०, पृष्ठ 47।

ऊपर उठकर, मनुष्य को मनुष्य ही के रूप मे देखते थे।[1] उनका 'अहिंसा' सिद्धान्त भी कोई ऋण-सिद्धान्त नही था, उसका भावात्मक रूप था प्रेम।[2] गाँधी पहले व्यक्ति थे जिन्होने सत्य और अहिंसा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया और ये दोनो उनकी नवमानवता के अमूल्य उपादान बन गए।[3] कवि की दृष्टि मे, इस युग को गाँधी की देन, नवमानवता की ही देन थी।[4]

अरविन्द-दर्शन की अतिचेतनात्मक स्थितियों का उपयोग

मानव-सत्य के अध्यात्म-पक्ष या आत्म-पक्ष की सतुष्टि करने वाले तत्त्व पत जी को गाँधी-दर्शन के अतिरिक्त अरविन्द-दर्शन मे भी प्राप्त हुए और यही कारण था कि वे उधर आकृष्ट हुए। नवचेतना या नवमानवता की दृष्टि से अरविन्द के विकासवादी दर्शन की प्रमुख देन इस मान्यता मे है कि मनुष्य की वर्तमान चेतना के आगे या ऊपर भी चेतना के स्तर है। जैसा कि तृतीय अध्याय के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है, अरविन्द जड पुद्गल से पूर्णचेतन ब्रह्म तक विकास का एक ही सचरण मानते है।[5] उनकी मान्यता है कि विकास

---

1 भावी कहती कानो मे भर गोपन मर्मर
हिन्दू-मुस्लिम नही रहेगे भारत के नर
मानव होगे वे, नवमानवता से मडित
मध्य युगो की धारा से भू पर चल विस्तृत।

—युगपथ, द्वितीय स०, पृष्ठ 75।

2 भावात्मक आज नही वह, वह अभाव वाचक
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक।

—ग्राम्या, पष्ठ स०, पृष्ठ 96।

3 सत्य, अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शो से भरते धरती के व्रण।
झुका तडित अणु के अश्वो को कर आरोहण,
नव मानवता करती गांधी का जय घोषण।

—युगपथ, द्वितीय सं०, पृष्ठ 73।

4 धन्य मर्त्य के अमर पाथ, तुम निखिल धरा को—
बाँध गये नव मनुष्यत्व के स्वर्ण-पाश मे।

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 116।

5 जड चेतन जीवन मन आत्मा
एक, अखड, अभेद्य सचरण।

—वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 125।

का वर्तमान क्रम अभी 'मन' के धरातल तक ही पहुँचा है, उसे 'अधिमन' और 'अतिमन' अर्थात् आत्मा की चेतना तक विकसित होना है। पाश्चात्य मनोविज्ञान यद्यपि चेतना से ऊपर की चेतना-श्रेणियो मे विश्वास नही करता तथापि दूरदृष्टि, समोहन, वशीकरण, विचार-सक्रमण आदि उच्चतर चेतना-धरातलो के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

मानवी कष्टो के लिये निम्नतर धरातलो की चेतना उत्तरदायी

मानव जीवन के अधिकाश कष्टो, द्वन्द्वो, विरोधो और युद्धो का एकमात्र कारण निम्नतर धरातल की चेतना है।[1] पशु-जगत् मे यह चेतना और भी निम्न होने के कारण वहाँ विग्रह अधिक उग्र तथा उत्कट है। मानवी चेतना ज्यो-ज्यो स्तर-स्तर विकसित होती जायेगी, मानवता को विभक्त करने वाले कारणो का लोप होता जायेगा[2] और चेतना के वैभव से नवीन मानवता निर्मित होती जायेगी।[3] पर इसमे सन्देह नही कि अभी तो मनुष्य के चेतन पर अवचेतन ही का अन्धकार छाया हुआ है[4] और मनुष्य, पश्चिम से उद्गत

---

1 राग-द्वेष, ईर्ष्या-स्पर्धा का, कलह-क्रोध का
धर्मो, वर्गो के विरोध का, रीति-नीति गत—
विद्रोहो का एकमात्र गोपन कारण है
अवचेतन का उद्वेलन, कुंठित तृष्णाएँ
रुद्ध अतृप्त पिपासाएँ वासना-गुहा की!

—रजतशिखर, प्रथम सं०, पृष्ठ 30।

2 तुम क्या रटते थे जाति धर्म
हाँ, वर्ग-युद्ध जन-आन्दोलन
क्या जपते थे आदर्श नीति
वे तर्कवाद अब किसे स्मरण!

—उत्तरा, द्वितीय स०, पृष्ठ 81।

3 नव प्रकाश-रेखाओ से भर
मन.स्वर्ग नव उठा अब निखर
अन्तर्वैभव से तुम निर्मित
करते नवमानवपन!

—वही, पृष्ठ 49।

4 यह सच है, सप्रति मानव के चेतन मन पर
आकर्षण है अध प्राण अवचेतन मन का!

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 25।

मिथ्या मनोविज्ञान के अतल अधकार मे सीढी-दर-सीढी उतरता जा रहा है ।[1] स्वय मनोविश्लेपक फ्रायड चेतना के ऊर्ध्व रजत-शिखरो को छोड कर, अवचेतन की गहराइयो मे भटकता हुआ अनेक मानस-ग्र थियो मे जा उलझा था तथा मानव-चेतना को पशु-चेतना के धरातल तक उतार लाया था ।[2] पर वह दिन अवश्य आयेगा जब निम्न तल की चेतना ऊर्ध्वगमित होकर पृथ्वी पर श्री-शोभा की वृष्टि करेगी ।[3]

अतिचेतनात्मक अनुभूतियो का रम्य चित्रण

अधिचेतन एवम् अतिचेतन के रजतशिखरो का अत्यन्त मनोमुग्धकर चित्रण पत जी की लेखनी से निकला है ।[4] एक दो नही, इस प्रकार के शतश.

1 अवचेतन के मनोज्ञान से पीडित मानव
अवरोहण कर रहा तिमिर के अतल गर्त मे !
—शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 64 ।

2 सीढी सीढी उतर गहन वासना गर्त मे
अवचेतन के अधकार मे भटक गया जो
ऊर्ध्व श्रेणियाँ छोड चेतना की, जो निम्नग
निश्चेतन मे विचरा पशु-मानस के स्तर पर,
उलझ ग्र थियो मे असख्य इन्द्रिय-भ्रम-पीडित ! —वही, पृष्ठ 76 ।

3 निम्न प्राण चेतना एक दिन ऊर्ध्व गमन कर
रागात्मक भू-स्वर्ग रचेगी स्वप्न जाल-स्मित
अपने आरोहण-पथ मे वह देव-योनि बन
बरसाएगी भू पर रत्न-स्मित आभाएँ
श्री-शोभा, विश्वास-प्रीति, आनद-ज्योति की !
—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 25 ।

4 दूर वहाँ उस पार, मर्मरित अतरिक्ष के
ऊपर, नभ का नील चीरते, शुभ्र रजत के—
शिखर दिखाई पडते जो स्थिर ज्योति-ज्वार से
तडित चकित जलदो के खुलते अन्तराल से—
मौन अटल उत्तुग, आत्मगरिमा मे जागृत,
शाश्वत अमर असीम, परम आनद लोक से,
जहाँ चेतना का प्रकाश हँसता दिक् विस्तृत,
स्वच्छ हिमानी-सा शशि की किरणो से प्रहसित !
—वही, पृ० 6 ।

चित्र उनके नवचेतना काव्य मे बिखरे पडे है। प्राणी इन चेतना-शिखरो की ओर बढना चाहता है पर उसके मार्ग की सबसे बडी बाधा है कामना एवम् इन्द्रिय-सुख की तृष्णा।[1] मनुष्य का मन इसी अर्थ मे संग्राम-स्थल है कि वह चैतन्य के शिखरो की ओर बढना चाहता है पर इन्द्रिय-सुख का आकर्षण उसे नीचे की ओर खींच लेता है, पर एक दिन तो अवश्य ही अवचेतन की अन्ध गुहाओ मे अतिचेतन का प्रकाश पहुँचेगा ही।[2]

कामना एवम् इन्द्रिय-सुख के आकर्षण को निरस्त करने का साधन है ध्यानयोग। ध्यानस्थ होने की विधि का उल्लेख करता हुआ कवि ध्यानयोग के अभ्यास के लिये खुला आमंत्रण बाँटता है।[3] मन श्रद्धा के या आन्तरिक ज्योति के मार्ग से होकर आरोहण करता है।[4] पर ध्यान की यह स्थिति 'दिव्य

1 फिर फिर प्राणो की अभिलाषा कनक-भुजग सी
लिपट बाँध देती उत्सुक बढते चरणो को!
धीरे धीरे झींगुर-सी फिर रेंग कामना
जड विषाद को कँपा, जगाती सुख की तृष्णा!

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 10।

2. रोमाचक हैं हाय इन्द्रियो की यह घाटी
करुणाजनक कथा है प्राणो के प्रदेश की!
घोर अँधेरी नगरी निस्तल निश्चेतन की
मुक्त कामना-तंत्र राज्य प्यासे असुरो का!
देवासुर संग्राम-क्षेत्र है मानव का मन
प्राण-भावना समरस्थल है जिसका शाश्वत,
एक रोज मानव को भू की अध गुहा मे
ऊर्ध्व ज्योति की विजय-ध्वजा फहरानी होगी!

—वही, पृ० 24।

3. आओ हे सब ध्यान मौन, एकाग्र प्राण मन,
जीवन का अन्तरतम सत्य करे उद्घाटन।
पलक मूँद, अत स्थित, खोले मन के लोचन
घटवासी को करे पूर्ण हम आत्म समर्पण!

—अतिमा, तृतीय स०, पृ० 88।

4. मन धीरे, श्रद्धा पथ से करता आरोहण!

× × ×

अतर आभाओं के पथ से
उठता नीरव मन ध्यान चरण! —उत्तरा, द्वितीय स०, पृ० 73।

करुणा' की पुष्टि प्राप्त होने पर ही सभव है।[1] इसीलिये कवि उस चिदानदमयी माँ का आवाहन करता है।[2] उसकी पुष्टि प्राप्त हो जाने पर, मन क्रमश चेतना-शिखरो पर आरोहण करने लगता है और मन के अवरुद्ध भुवन, चैतन्य के आलोक से आलोकित होते जाते हैं।[3]

चेतना की उच्चतर भाव-भूमियो पर होने वाली अनुभूतियो का कवि ने बडा विशद चित्रण किया है और ये चित्र ही, अरविन्द के प्रभाव मे आकर लिखे गये काव्य के श्रेष्ठ स्थल है। आरोहित होती चेतना को परम चिच्छत्ता के अमर स्पर्श प्राप्त होने लगते है जिनके प्रभाव से भू-जीवन का रुदन, सगीत मे परिणत हो जाता है और वर्गो-भेदो मे विभक्त करने वाली समस्त सीमाएँ लुप्त हो जाती है।[4] चेतना-समुद्र की लहरो के, एक के बाद एक, थपेडे लगते है जो मानसिक प्रतिबद्धताओ के कगारो को ढहाते चलते हैं।[5] अन्तर्मन आनन्द

---

1 ओ करुणामयि,
तुम्हारा करुणा-कर ही
ध्यान बनकर
गतिहीन गति से मुझे खीचता है।
—कला और बूढा चाँद, द्वितीय सं०, पृष्ठ 37।

2 आओ मा, सच्चिदानदमयि, अमर स्पर्श से
झकृत कर दो अतरतम के रहःसत्य को। —वाणी, प्रथम स०, पृ०185।

3 खुलते शोभा अन्तरिक्ष
मन के भुवनो मे प्रतिक्षण
स्वर्ण-प्रसारो मे दिङ्. मुकुलित
हो उठता भू-जीवन। —अतिमा, तृतीय स०, पृ० 93।

4 खिल उठा हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय।
खुल गये साधना के बधन,
सगीत बना उर का रोदन,
अब प्रीति-द्रवित प्राणो का पण,
सीमाएँ अमिट हुई सब लय। —युगपथ, द्वितीय स०, पृष्ठ 145।

5 उमड रही लहरो पर लहरे,
घिरते घन पर घिर घन,
स्वर्ण रजत वालुका-पुलिन से
टूट रहे मन के प्रण! —उत्तरा, द्वितीय सं०, पृष्ठ 25।

से पुलकित होकर गा उठता है और स्वर्ग की निधियाँ वरस कर धरा को आपूर कर देती है।[1] आकाश से स्वप्नो की रिमझिम वर्षा होती रहती है[2] और चिच्छक्ति के नूपुरो का सुमधुर सगीत क्षण-भर के लिये हृदय की धडकनो को वद कर देता है।[3] रंग-विरगे पाटल-पुष्पो की पखुडियो की भाँति चेतना के स्तर खुलते जाते है[4] और मामान्य लौकिक व्यापार भी अलौकिक आनद-सरोवर मे डुवाने लगते है।[5] दिव्य चेतना के ज्योति-पखो का स्पर्श, न केवल अन्तर्भुवनो

---

1 मन के भीतर का मन गाता
स्वर्ग धरा मे नही समाता
स्वप्नो का आवेश ज्वार उठ
विश्व-सत्य के पुलिन डुवाता !

—उत्तरा, द्वितीय स०, पृष्ठ 27 ।

2 स्वप्नो की शोभा वरस रही
रिम झिम झिम अवर से गोपन !

—वही, पृष्ठ 59 ।

3 वजते नि स्वर नूपुर छम छम
साँसों मे थमता स्पन्दन क्रम !
तुम आती हो,
अतस्तल मे—
शोभा-ज्वाला लिपटाती हो !

—वही, पृ० 63 ।

4 भाव-भूमि, प्रेरणा-भूमि, आलोक-भूमि यह !
खुलते स्तर पर स्तर, दल पर दल,
सूक्ष्म सूक्ष्मतर,—नील, वैगनी, फालसई,
कासनी, अँगूरी,—हरित-पीत पाटल
दल पर दल,
कोमल, शीतल, उज्ज्वल !

—वाणी, प्रथम स०, पृ० 39 ।

5. मेघ नही, आनद मत्त क्षण,
वृष्टि नही, सौदर्य सुधा कण,
डूव गये मन बुद्धि प्राण तन
उमडा जीवन-प्लावन !

—वही, पृष्ठ 35 ।

को ग्रालोकित कर देता है, ग्रपितु भौतिक-मानसिक जाड्य के वधन भी शिथिल कर देता है।[1]

चेतना-भुवनो के गवाक्षो ग्रौर वातायनो से होकर दिव्य ग्रनुभूतियाँ भीतर प्रविष्ट होती है ग्रौर प्रकाश की पखुडियाँ नीचे की घाटियो मे यो वरस पडती है जैसे शरद् ऋतु के प्रारभ मे तुषार-कण बरसते है।[2] रस के ग्रनत निर्झर फूटते रहते है, किन्नर वालाग्रो की वीणाग्रो का सगीत कर्ण-कुहरो मे मधु-वर्षा करता रहता है ग्रौर सत्य-शिव-सुन्दर के साथ साक्षात्कार होता रहता है।[3] विस्मय-विमुग्ध होकर कवि ग्रपनी काव्य-चेतना ही से प्रश्न कर वैठता है कि वह उसे कहाँ लिये जा रही है?[4] पर वह जहाँ पहुँचता है, वहाँ पाता है

---

1 ज्योति पख उस दिव्य दृष्टि ने
दीपित ग्रन्तर्भुवन दिये कर,
ऊर्ध्व स्पर्श के स्वर्ण तीर से
भू-मन के जड पाश लिये हर। —वाणी, प्रथम स०, पृष्ठ 167।

2 लो ग्राज झरोखो से उडकर
फिर देवदूत ग्राते भीतर,
सुरधनुग्रो के स्मित पख खोल
नव स्वप्न उतरते जन-भू पर,
रँग रँग के छाया जलदो सी
ग्राभा-पखुडियाँ पडती झर
फिर मनोलहरियो पर तिरती
विम्वित सुर-ग्रप्सरियाँ नि.स्वर। —उत्तरा, द्वितीय स०, पृष्ठ 61।

3 ग्रानद धाम शोभित भीतर
झरते ग्रनत रस के निर्झर,
शोभा के स्वर्णिम फेनो पर
कँपते सुर-वीणाग्रो के स्वर।
उर-कपो, पुलको से कल्पित
शशि रेख प्रीति-प्रासाद सुघर
झाँकते झरोखो से वाहर
ग्रनिमेप सत्य, शिव ग्रौ' सुन्दर। —वही, पृष्ठ 98।

4 तुम रहस द्वार से मुझे कहाँ
गीते ले जाती हो गोपन।
शोभा मे जाता डूव हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा सुर-चेतन। —वही, पृष्ठ 58।

कि सब प्रकार का द्वैत लुप्त हो गया है और सिवा शांति के, सिवा अमृतत्व के, सिवा अस्तित्व के और कुछ नहीं है ।[1]

अरविन्द-दर्शन के प्रभाव की मात्रा

मानवी चेतना का यह ऊर्ध्वारोहण, स्पष्टतः अरविन्द-दर्शन से ही लिया गया है । अरविन्द का दर्शन मानवी चेतना के आरोहण के साथ-साथ, दिव्य चेतना के भू-अवतरण में भी विश्वास रखता है । पंत जी ने भी अनेक स्थानों पर अपने नवचेतना काव्य में, इस अवतरण के भावपूर्ण चित्र अंकित किये हैं ।[2] आरोहण की प्रक्रिया इसलिये नहीं है कि व्यक्तिगत आत्माएँ चिदाकाश में जाकर खो जायें बल्कि इसलिये कि नीचे का भू-जीवन उस चेतना-प्ररोह से अधिक सम्पन्न और सुन्दर बने ।[3]

---

1 हृदय शांति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है !
विश्व कहाँ खो गया है !
देश-काल ? जन्म मरण ?
ओ चन्द्र कले ! केवल अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्वचनीय,
अस्तित्व ही अस्तित्व शेष है !

—कला और बूढ़ा चाँद, द्वितीय सं०, पृ० 71 ।

2 उतर रही अधिमन के नभ से नव्य चेतना
स्वर्ण-शुभ्र ऊषा-सी, जन-मानस धरणी पर
उतर रहे स्वर्दूतों से स्मित पंख खोल कर
नव आशा, उल्लास, ज्योति, सौंदर्य, प्रीति, सुख
बरस रही है रजत मौन स्मित शांति चतुर्दिक !

— रजतशिखर, प्रथम सं०, पृष्ठ 99 ।

3 ऊर्ध्व प्रसारों में खो जाए चित्त न तन्मय !
आओ इस स्वर्गिक बाडव में अवगाहन कर
लौट चलें पावक पराग मधु का नव तन धर
नव प्रकाश के बीज करें जन भू पर रोपण
शोभा महिमा से कृतार्थ हो मानव-जीवन !

—अतिमा, तृतीय सं०, पृष्ठ 89 ।

अरविन्द इन्द्रिय से ईश्वर तक एक ही सचरण मानते है[1] और उनकी इस मान्यता से पत जी की इस भावना को वल मिल गया है कि ऊर्ध्व और समदिक् वस्तुत एक ही सचरण के दो रूप है।[2] इसी आधार पर वे विश्व के समस्त विरोधो मे सामजस्य स्थापित करने मे सफल हो जाते है, कभी एक को दूसरे का पूरक मानकर और कभी दोनो मे अद्वैत सिद्ध कर।[3] उनके द्वारा किया गया अध्यात्म और भूत का समन्वय भी, जो उनके नवचेतनावाद का एक प्रमुख अग है, इसी व्यापक समन्वयवाद का अग है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर, चिच्छक्ति, आत्मा, जगत्, अधिमानस, अतिमानस आदि अनेक पारिभाषिक शब्दो को उनके दार्शनिक अर्थ मे ग्रहण करने के लिए भी पत जी अरविन्द के ऋणी है। ईश्वर जड भी है, चेतन भी है, वह अज्ञेय, स्वत सचालित, एक और अखण्ड है, वह सात भी है और अनन्त भी, नित्य भी है और अनित्य भी, वह एक होकर भी एकता से वँधा हुआ नही है, वह सर्व भी है और सर्व से परे भी, वह अनिर्वचनीय और परम है।[4]

आत्मा परमात्मा से अभिन्न और उसी का अश है। पूपण का यही सदेश है कि तुम (आत्मा) अमर ज्योति की सतान हो, अत सासारिक अज्ञान-जन्य

---

1 ईश्वर से इन्द्रिय-जीवन तक
एक सचरण रे भू-पावन!

—वाणी, प्रथम सं०, पृ० 176।

2 महाश्चर्य है! वही सत्य है! ऊपर है जो
शिखर, वही नीचे प्रसार है! एक सचरण
मात्र! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्, दोनो ही पर
अन्योन्याश्रित है निश्चय! दोनो के ऊपर
एक अनिर्वचनीय रहस्य, हृदय रोमाचक!

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 27।

3 इसीलिए मै शान्ति-क्रान्ति, सहार-सृजन को,
विजय-पराजय, प्रेम-घृणा, उत्थान-पतन को,
आशा-कुठा को, युग के सुन्दर-कुरूप को
वाँहो मे हूँ आज समेटे, उन्हे परस्पर
पूरक, एक, अभिन्न मानकर, युग विवर्त के
क्रन्दन किलकारो मे ध्यानावस्थित रह कर!

—अतिमा, तृतीय स०, पृ० 56-57।

4 स्वर्णकिरण, द्वितीय स०, पृ० 136।

भेदो को भूलकर स्वात्म रूप को पहचानो ।[1] आत्मा ही एक मात्र ज्ञाता है, वह चिर मुक्त है, नाम और रूप-हीन है तथा ईश्वर का प्रतीक है ।[2] जगत् भी इसी प्रकार ईश्वर का अश है और भगवन् सत्ता से उसका अद्वैत है । आरोहण के मार्ग पर आगे बढते-बढते वह स्वय ईश्वर-रूप मे परिणत हो जाता है ।[3] मातृ चेतना या चिच्छक्ति ईश्वर की मृजन शक्ति है, उसी के कारण जड से जीवन का, जीवन से मन का, मन से अन्तर्मन (आत्मा) का विकास होता है, वह प्रीति की धारा, दिव्य चेतना एवम् दिव्य मन वाली है, आभा ही उसकी देह तथा आभा ही उसका वस्त्र है ।[4]

इस प्रकार पत जी के नवचेतना काव्य पर अरविन्द-दर्शन का भारी प्रभाव लक्षित होता है । यद्यपि कवि के अभिन्न मित्र 'बच्चन' तथा स्वय कवि द्वारा

---

1 मेरा यह सदेश उठो हे जागो भूचर,
तुम हो मेरे अश, ज्योति सतान तुम अमर !
छोडो जडता, छिन्न करो भव भेदो का तम
तुम हो मुझ से एक, एक तुम भूतो से सम !

—स्वर्णकिरण, द्वितीय स०, पृ० 47 ।

2 एक मात्र है केवल आत्मा, ज्ञाता, चिर निर्मुक्त,
नामहीन वह रूपहीन, वह है रे चिन्ह अयुक्त,

—स्वर्णधूलि, द्वितीय स०, पृ० 22 ।

3. जगत, भागवत जीवन भिन्न पदार्थ नही है
ईश्वर का ही अश जगत, आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारातर होना निश्चित है !

—शिल्पी, प्रथम सं०, पृ० 105 ।

4 तुम मृजन शक्ति, जो ज्योति चरण धर
रजत बनाती रजकण को,
जड मे जीवन, जीवन मे मन,
मन मे सँवारती स्वर्मन को !
तुम जननि प्रीति की स्रोतस्विनि
तुम दिव्य चेतना, दिव्य मना
तुम स्वर्ण किरण की निर्झरिणी,
आभा देही, आभा वसना !

—स्वर्णधूलि, द्वितीय स०, पृ० 43 ।

इस प्रभाव का अवमूल्यन करने की चेष्टा जाने-अजाने हुई है,[1] तथापि ऊपर किये गये विश्लेषण से यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है कि पत जी अरविन्द-दर्शन की धारा मे न केवल बहे है, अपितु दूर तक बहे हैं। अत इस प्रभाव को 'यो ही' कह कर टाला नही जा सकता। यह प्रभाव उनकी नव्यतम कृति 'पतझर' मे भी उतने ही परिमाण मे विद्यमान है जितना अरविन्द-दर्शन के सम्पर्क मे आने के बाद लिखी गई प्रथम कृति 'स्वर्णकिरण' (1947 ई०) मे था। 1947 ई० तक पत जी पर अरविन्द का प्रभाव पूरा-पूरा पड चुका था।[2] यो अरविन्द-दर्शन से उनका परिचय 1942 ई० से ही था।[3]

---

1 (क) श्री अरविन्द के दर्शन से पत जी को कोई ऐसी चीज नही मिली जो सर्वथैव नवीन हो। उनका प्रारम्भिक स्वप्न वायवी, अनस्थायी और आकाश-धर्मी था। श्री अरविन्द के दर्शन मे उन्हे अपने पैरो के नीचे एक ठोस और सुदृढ धरातल का विश्वास मिल गया है, उनके असम्बद्ध विचारो को एक तर्कसम्मत व्यवस्था मिल गई है। इस कारण मेरी दृष्टि मे, पत जी के काव्य का न्यायसगत अध्ययन करने के लिए उनके श्री अरविन्द के शिष्यत्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नही दिया जाना चाहिए।

—कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृष्ठ 83।

(ख) मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए जहाँ और जितना जरूरी समझा है, अरविन्द-दर्शन मे से उतना ही लिया है ·· अपने दृष्टि-कोण की कुछ बाते मुझे अरविन्द-दर्शन मे जब मिली तो मैंने उनका आभार स्वीकार कर लिया। बस इतनी सी बात है।

—श्री सुमित्रानन्दन पत स्मृति-चित्र, शिवदानसिंह चौहान के लेख से, पृ० 153-54।

2 अब की बार (1947 ई०) जब वे आये तो पूरे अरविन्दवादी हो चुके थे। वैसे तो उनके पास सामान थोडा ही रहता है पर इस बार उनके दो सदूक अरविन्द-साहित्य से खचाखच भरे थे—कुछ अग्रेजी मे, कुछ हिन्दी मे। मै उनको अक्सर आश्रम की त्रैमासिक पत्रिका 'अदिति' के लिए कुछ लिखते या श्री अरविन्द की कविता का अनुवाद करते देखता। —बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृ० 79।

3. 1942 ई० मे जब वे मेरे पास रहने को आये थे, तब भी उनकी पुस्तको मे 'द लाइफ डिवाइन' के तीनो भाग थे और वे अक्सर श्री अरविन्द और उनके आश्रम के विषय मे बाते किया करते थे। —वही, पृष्ठ 78।

यह सत्य है कि पत जी पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव, परिमाण की दृष्टि से, शेष प्रभावो के सम्मिलित योग से भी अधिक है। पर अरविन्द, या किसी भी दर्शन का प्रभाव होना, अपने आप मे कोई बुरी बात नही है। विश्व का शायद ही कोई महाकवि हो जिस पर किसी न किसी दर्शन का प्रभाव न पडा हो और दर्शन भी अन्तत एक दृष्टि-विशेष ही का तो नाम है। जीवन और जगत् के प्रति जो दृष्टि, कवि की अपनी दृष्टि से मेल खाती हुई हो तो उसे अपना लेने मे कौनसी बुरी बात है? बुरा है उस दृष्टि या दर्शन को आत्मसात् न कर पाना। पत जी अरविन्द-दर्शन को कहाँ तक आत्मसात् कर सके है, यह देखना आलोचको का काम है। इसीलिए कवि ने यह कार्य भावी पीढी के आलोचक को सौंप दिया है और अपनी ओर से इस पर कोई टिप्पणी नही की है।[1]

हमारा अपना विचार है कि 'उत्तरा' (1949 ई०) मे आकर ही कवि अरविन्द-दर्शन को आत्मसात् करने मे सफल हो सका है। इसके पूर्व के तीन काव्यो—स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और युगपथ—मे वह कुछ अलग-थलग दिखाई पडता है और लगता है, जैसे वह उसके व्यक्तित्व का अंग नही बन पाया है। पर 'उत्तरा' मे आकर अवश्य, वह कवि की भाव-धारा मे घुल कर एकाकार हो गया है, वैसे ही जैसे इससे पूर्व गाँधी-दर्शन तथा मार्क्स-दर्शन हो गये थे। यह कहना कि अरविन्द-दर्शन पत जी पर हावी हो गया है या कि वे 'अरविन्दवादी' हो गये है, कवि की निज की जीवन-दृष्टि की उपेक्षा करना एवम् उसके व्यापक व्यक्तित्व का अनादर करना है। यह सोचना कि पत जी केवल प्रभावो के पुंज है और उनमे अपना निज का कुछ नही है, बहुत बडा भ्रम होगा। कदाचित् इसी भ्रम के निराकरण के लिए उन्हे 'नम्र अवज्ञा' शीर्षक कविता लिखनी पडी।[2]

---

1. बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृष्ठ 65-66।
2. वे कहते

    मैं भाव नही, केवल प्रभाव हूँ,
    सूझ नही, केवल सुझाव हूँ!
    वे कहते
    मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
    इससे उससे
    जिससे तिससे
    किससे किससे!
    अधिक क्या कहूँ? —सत्य गूढ
    पर सबसे भले विमूढ! —वाणी, प्रथम स०, पृ० 90-91।

अन्य दर्शनो की भाँति, अरविन्द-दर्शन को भी उन्होने अपनी मान्यताओ के प्रकाश मे सहेजा-सँवारा है। अरविन्द-दर्शन से गृहीत तत्त्वो मे से विशद चित्रण कवि ने केवल 'मानस' से ऊपर की चेतना-श्रेणियो का किया है क्योकि वे उसके नवमानवतावाद के ऊर्ध्व सचरण ही का पर्याय हैं। कवि ने विशेष अध्ययन भी अरविन्द के विकासवाद की इन्ही अतिमानसिक स्थितियो का किया है।[1] अरविन्द-दर्शन मे पत जी को अपनी इस धारणा के लिए ठोस भूमि प्राप्त हो गई है कि ज्यो-ज्यो मानवी चेतना विकसित होती जायेगी, मनुष्य और मनुष्य के बीच का द्वेष, विरोध एवम् वैर-भाव कम होता चला जायगा और युग, नवमानवता की दिशा मे अग्रसर होता जायगा। यदि पत जी अपने नवचेतना काव्य मे अरविन्द-दर्शन के मानस, अधिमानस एवम् अतिमानस चेतना-स्तरो से ही सरोकार रखते तो अधिक अच्छा होता। अरविन्द-दर्शन के अन्य तत्त्वों के समावेश से—यद्यपि कवि ने उन्हे अधिक विस्तार नही दिया है—उनके 'नवमानवतावाद' के मूल स्वप्न को क्षति अवश्य पहुँची है। स्वय कवि ने उत्तर-लोकायतन काव्य म इस तथ्य को स्वीकृति दी है और कर्म-सत्य के महत्त्व पर बल देकर जैसे विगडते हुए सतुलन को फिर से सँभाल लिया है।[2] तात्पर्य यह कि पत जी के काव्य की मूल चेतना उनकी अपनी चेतना है—वही जो प्रथम उत्थान-काल से ही बराबर चली आ रही है। गाँधी, मार्क्स और अरविन्द-दर्शन की धाराएँ वस्तुत पत जी के नवचेतना काव्य के महानद की सहायक धाराएँ है जिन्होने उस महानद को महाप्राण तो अवश्य बनाया है पर जो उसकी मूल दिशा को परिवर्तित नही कर सकी है।

भूत और अध्यात्म का समन्वय

चूँकि समदिक् सचरण और ऊर्ध्व सचरण दोनो अपने आप मे अधूरे है, पत जी ने इन पूरक तथ्यो मे समन्वय स्थापित किया है। भूत और अध्यात्म

---

1 उन्होंने श्री अरविन्द के मानव, अतिमानव और अधिमानस सम्बन्धी विचार और दर्शन को अधिक से अधिक समझने का प्रयत्न किया।

—बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृ० 78।

2. ओ ऊपर के सत्य
अधूरे हो तुम निश्चित,
भू का सत्य करेगा
तुमको पूरा विकसित!

—'पतझर', प्रथम स०, पृ० 42।

का समन्वय पत जी के नवचेतना काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। 'युगवाणी' मे भूतवाद और आत्मवाद को कवि ने क्रमश साधन और साध्य का महत्त्व दिया था[1] पर आगे चल कर 'स्वर्णकिरण' मे उसने ऊर्ध्व सचरण को समदिक् मे तथा समदिक् को ऊर्ध्व सचरण मे परिवर्तित होते देखने की कामना व्यक्त की।[2] जगत् मे शाति की प्रतिष्ठा अन्तर्बाह्य के सयोजन पर ही निर्भर है।[3] एक पूर्णतर मानव-सत्य ही विश्व की प्रगति का कारण हो सकता है।[4] ऊर्ध्व तथा समदिक् सचरणो के खण्ड-सत्य आज विभाजित है और इसीलिए विश्व पर सकट छाया हुआ है।[5] कवि ने सम्पूर्ण सृष्टि को ही ईश्वर की प्रतिमा कह कर दोनो के मध्य सहज समन्वय की स्थापना कर दी है।[6]

---

1 भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

—षष्ठ स०, पृ० 19।

2 ऊर्ध्व चेतना को भू पर चलना धर जीवन के पग
समदिक् मन को पख खोल चिद् नभ मे उठना व्यापक।

—द्वितीय स०, पृ० 20।

3 शाति प्रतिष्ठित हो जग मे तब
जब हो बहिरतर सयोजन।

—वाणी, प्रथम स०, पृ० 172।

4 वही सत्य कर सकता मानव-जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन
औ अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरंतन।

—स्वर्णधूलि, द्वितीय स०, पृ० 102।

5. समझ रहा हूँ मैं युग के कटु सघर्षण को
ऊर्ध्वग समदिक् सचरणो के बीच छिड़ा जो
आज धरा मे, भौतिक आध्यात्मिक विप्लव बन।

—शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 55।

6 जड़ प्रतिमा तो मात्र भाव का कला रूप है
जीवन के प्रति श्रद्धा, मानव के प्रति आदर
जीवो के प्रति स्नेह, यही प्रभु का पूजन है
यह समस्त ससृति ही ईश्वर की प्रतिमा है।

—वही, पृ० 32।

अन्य द्वन्द्वो मे सामजस्य-स्थापन

भूत और अध्यात्म ही की भाँति कवि ने जड और चेतन, व्यक्ति और समाज, एक और अनेक, वाह्य और अन्त के द्वन्द्वो मे यह कहकर सामजस्य की स्थापना कर दी है कि ये विरोध वस्तुत. विकास-चक्र की आवर्त्तन गति के कारण दिखाई पडते हैं, मूल सत्य तो एक ही है।[1] इसी प्रकार कवि ने स्वप्न और सत्य तथा ज्ञान और कर्म का भी समन्वय कर दिया है।[2] कवि पश्चिम के सम्पन्न जीवन तथा पूर्व की अध्यात्म-ज्योति का समन्वय कर, भू-जीवन को स्वर्ग-सम बनाने का आकाक्षी है।[3] यह व्यापक एव विराट् समन्वय पत के नवचेतना काव्य का मेरुदण्ड है।

राग-भावना का परिष्कार

राग-भावना का परिष्कार भी नवीन मानवता का एक अनिवार्य उपादान है। जब तक समाज मे नर और नारी दोनो, स्वतन्त्र इकाइयो के रूप मे प्रतिष्ठित नही होगे तब तक समाज अगतिशील और पगु बना रहेगा। आज भी नारी मध्य युगो की भाँति पुरुष पर अवलम्बित है और समाज मे उसकी सत्ता वही है जो इकाइयो मे शून्य की होती है। उसे पूर्णतया स्वाधीन करके मानवी

---

1 सत्य एक है—व्यक्ति समाज, अनेक एक, जड
चेतन, वाहर भीतर, सब जिस पर अवलम्बित।
आवर्तन गति से विरोध जग के अनुप्राणित
विश्व सचरण जीवन का वैषम्य सतुलित।

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 50।

2 आज स्वप्न को सत्य
सत्य को स्वप्न बना, नव सृष्टि बसाओ,
निखिल ज्ञान को कर्म
कर्म को ज्ञान बना, भव-मूर्ति सजाओ।

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृष्ठ 84।

3 पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो
विकसित विश्व-तत्र मे वितरित
प्राची के नव स्वर्णोदय मे
ज्योति-द्रवित भू-तमस तिरोहित।

—स्वर्णकिरण, द्वितीय स०, पृ० 139।

के रूप मे प्रतिष्ठित किया जाना चाहिये ।[1] भूख और प्यास ही के समान, 'काम' भी नैसर्गिक प्रवृत्ति है पर उसकी सन्तुष्टि का रूप अत्र भी मध्य-युगीन नैतिकता की कारा मे बद्ध है । 'काम' को 'प्रेम' के उन्नत धरातल तक उठाकर यदि एक व्यापक क्षेत्र के बीच युग्मेच्छा की सन्तुष्टि की जा सके तो वह मानवोचित ही होगी ।[2] स्वर्णधूलि का 'केशव' डाकुओ द्वारा शीलभ्रष्ट की गई अपनी पत्नी 'मालती' को 'पतिता' नही रहने देता क्योकि 'केशव' के प्रति उसके हृदय मे शुद्ध प्रेम है और प्रेम विश्रुत पतित-पावन है ।[3] नारी का 'स्वकीया' और 'परकीया' मे विभाजन भी देह-बोध के धरातल से उसका मूल्य आँकता है और मध्यकालीन दृष्टि का परिचायक है ।[4]

मनुष्य के तीन-चौथाई उद्वेगो का कारण काम-वृत्ति का दमन है ।[5] समाज के सामूहिक उद्वेलन, धार्मिक विद्रोह, व्यक्तिगत राग-द्वेष आदि के

---

1 वह समाज की नही इकाई, शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलम्बित
योनि नही है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित !

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृष्ठ 85 ।

2 क्षुधा तृषा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित
कामेच्छा प्रेमेच्छा बन कर हो जाती मनुजोचित !

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 65 ।

3. मन से होते मनुज कलकित
रज की देह सदा से दूषित
प्रेम पतितपावन है, तुझको
रहने दूँगा मैं न कलकित !

—स्वर्णधूलि, द्वितीय स०, पृ० 118 ।

4 अत. स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा !

—वही, पृष्ठ 120 ।

5. पचहत्तर प्रतिशत मनुष्य के उद्वेगो का
कारण, रागात्मक प्रवृत्ति का अध दमन है
थोथी, रुग्ण, अवैज्ञानिक आचार-भित्ति पर
प्राणभावना का है भवन बना समाज का !

— रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 22 ।

मूल भी अतृप्त वासनाओं एव रागात्मक कुठाओ मे है।[1] जब तक प्राणियो मे रागात्मक सतुलन की प्रतिष्ठा न होगी तब तक धर्म, नैतिकता और सामाजिकता का रूप निखरेगा नही। राग को सन्तुलित करने का एक मार्ग है नर और नारी का व्यापक कर्मक्षेत्र के बीच पारस्परिक सहयोग और सहकर्म। शारीरिक श्रम से आजीविका चलाने वाली 'ग्राम नारी'[3] तथा 'मजदूरिन'[4] की राग-भावना अपेक्षाकृत परिष्कृत हैं क्योंकि वे देह-बोध से ऊपर उठ चुकी है और उन्होने हृदय के द्वार उन्मुक्त कर रखे है। वे किसी भी प्रकार की कामकुंठा से पीडित नही है।

व्यक्ति-समाज मे संतुलन

व्यक्ति और समाज के बीच सतुलन की स्थापना भी नवचेतना का एक उपकरण है। व्यक्ति और समाज मे से कौन मुख्य है और कौन गौण, कौन

---

1. सब प्रकार के सामूहिक ऊहापोहो का,
राग, द्वेष, ईर्ष्या, स्पर्धा का, कलह क्रोध का,
धर्मो वर्गो के विरोध का, रीति नीति गत
विद्रोहो का—एकमात्र गोपन कारण है
अवचेतन का उद्वेलन, कुंठित तृष्णाएँ,
रुद्ध अतृप्त पिपासाएँ वासना-गुहा की!
—रजतशिखर, प्रथम स०, पृष्ठ 30।

2 रागात्मक सन्तुलन नही आयेगा जब तक
प्राणो के जीवन मे, तब तक मानव जग मे
नैतिकता के मुख से गुठन नही हटेगा,
धर्मो के सिंहासन मे भूकम्प रहेगा
सामाजिक सम्बन्ध सजीव न हो पाएँगे
धरती के अगो का कर्दम धुल न सकेगा! —वही, पृष्ठ 30।

3 श्रम से है जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित
वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन-सहचर!
—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृष्ठ 30।

4 निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल जनो के बैठ साथ
जो बँटा रही तुम काम काज मे मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कचुकी को उतार
जग के हित खोल दिये, नारी के हृदय द्वार! —वही, पृष्ठ 84।

साध्य है और कौन साधन आदि प्रश्न निरर्थक हैं और दृष्टि देने की अपेक्षा, भटकाते अधिक हैं। वस्तुत सत्य तो एक ही है, व्यक्ति और समाज जिसके दो छोर हैं।[1] यदि ऊर्ध्व सचरण के क्षेत्र मे व्यक्ति की प्रधानता है तो समदिक् सचरण मे समाज या सामूहिकता की।[2] इस प्रकार व्यक्ति और समाज, परस्पर विरोधी नही, पूरक हैं। वे अन्योन्याश्रित होकर ही प्रगति के मार्ग पर आगे बढ सकते हैं।[3] पर मनुष्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि व्यक्ति पर सामाजिकता का कोई-न-कोई रूप सदा हावी रहा—कभी जाति, कभी धर्म, कभी राष्ट्र, कभी सविधान और कभी प्रशासन-अनुशासन आदि। सामाजिकता का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि उसमे अधिक-से-अधिक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हो। अत कवि की चिन्ता है कि कही सामाजिकता, व्यक्ति की इकाई को निगल न ले।[4] इसी प्रकार, व्यक्ति का ध्येय भी आत्म-मुक्ति न होकर लोक-मुक्ति होनी चाहिये[5]—लोक-मुक्ति जिसमे व्यक्ति-मुक्ति पूर्वावसित होती है। यदि

---

1. व्यक्ति-समाज, समाज-व्यक्ति, कैसी विडबना !
   साध्य प्रथम या साधन,—कैसा तर्क-वृत्त है !
   अनेकता मे एक,—एकता मे अनेकता,—
   बाहर-भीतर,—शब्दजाल सब, केवल वाक्छल !
   सत्य एक है,—व्यक्ति समाज, अनेक एक, जड—
   चेतन, बाहर-भीतर सब जिस पर अवलम्बित।
   —सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 49।

2. ऊर्ध्व चरण मे रहा व्यक्ति रे जन समाज का नायक,
   समदिक् गति मे सामाजिकता जन गण भाग्य विधायक।
   —स्वर्णकिरण, द्वितीय स०, पृ० 20।

3. व्यक्ति समाज परस्पर अन्योन्याश्रित होकर
   बढते जायेगे विकास के स्वर्णिम पथ पर !
   —रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 72।

4. सामाजिकता निगल न ले निज वर्तमान के
   सत्वो के प्रति जाग्रत बौद्धिक वर्ग व्यक्ति को
   जो छाया-सा काँप रहा जन-भय से मूर्छित
   सावधान रहना है हमको ! —सौवर्ण, प्रथम सं०, पृ० 35।

5. लोक मुक्ति ही व्यक्ति ध्येय हो
   आत्मोन्नति का स्वर्ग हेय हो,
   प्रीति-ग्रथित जीवन अजेय हो ! —वाणी, प्रथम सं०, पृष्ठ 74।

व्यक्ति और समाज के बीच यह सन्तुलन हो सके तो पृथ्वी पर नवीन सस्कृति का सूत्रपात हो सकता है।[1]

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय मे विश्लेपित नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो को यदि द्वितीय अध्याय मे वर्णित पूर्ववर्ती काव्य की प्रवृत्तियो से मिलाकर देखें तो पायेंगे कि ब्योरो मे चाहे थोडा-बहुत विपर्यय दिखाई पडे, पर जहाँ तक काव्य की मूल चेतना का प्रश्न है, वह यथापूर्व है। गाँधी, मार्क्स तथा अरविन्द-दर्शन के प्रभाव ने कवि के नवमानवतावादी स्वप्न को यद्यपि अधिक स्पष्ट बनाया है और उसे ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित होने मे योग दिया है, तथापि पत जी के काव्य की अन्तर्वर्ती चेतना अखड एव अपरिवर्तित ही रही है और उसी चेतना को दृष्टि-पथ मे रखते हुए उनके काव्य का सही और समुचित मूल्याकन हो सकता है, उनके कृतित्व को प्रकृति-चित्रण, छायावाद, प्रगतिवाद, अरविन्दवाद आदि के कृत्रिम खडो मे विभक्त करके नही।

---

1 व्यक्ति समाज परस्पर घुलमिल जायेंगे तब
भर जायेगा अन्तराल दोनो का गहरा ?
चिन्ताओ से मुक्त मनुज आत्मोन्नति मे रत
सस्कृति का नव स्वर्ग बसाएगा धरणी पर।

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 115।

अध्याय 6

नवचेतना का सुमेरु 'लोकायतन'

कथा-सूत्र की विरलता और प्रबन्धत्व

'लोकायतन' पत जी की नवचेतना काव्य-माला का सुमेरु है। पूर्व-लोकायतन कृतियो मे, जिनका परिदर्शन विगत पृष्ठो मे हो चुका है, स्फुट रूप से बिखरी हुई नवचेतनात्मक प्रवृत्तियाँ यहाँ आकर जैसे पु जीभून हो गई है। नवीन मूल्यो से समन्वित जिस भावी मानवता का स्वप्न कवि ने देखा है, उसे स्पष्ट करने के लिये इस काव्य मे जीवत कथा का आधार लिया गया है और 'लोकायतन' सहज ही 'प्रवध' काव्य की कोटि मे आ गया है। पर प्रबंध काव्य के लिये कथा के जिस अखड एवम् क्षिप्र प्रवाह की अपेक्षा होती है, 'लोकायतन' मे उसका सम्यक् निर्वाह नही हो पाया हैं। यहाँ कथा का सूत्र वडा विरल है और वीच-वीच मे खो जाता है। वह केवल सर्गारभ तथा सर्गांत मे उभरता है और पाठक को स्मरण दिला जाता है कि वह एक प्रवध काव्य पढ रहा है, अन्यथा पूरे के पूरे सर्ग, नवचेतना के किसी न किसी तत्त्व के विश्लेषण अथवा विवरण से पटे पडे है। ऐसा लगता है मानो दीर्घकाय आध्यात्मिक या अन्तश्चेतनात्मक खडो के वीच संवध-स्थापन ही की दृष्टि से कथा-सूत्र की रचना की गई है। श्री जयशंकर प्रसाद के 'कामायनी' काव्य मे भी ऐसा ही हुआ है[1] और यदि उसे 'प्रवध' मानने मे किसी को आपत्ति नही है तो पत जी के 'लोकायतन' को भी नि सकोच प्रवध काव्य कहा जा सकता है क्योकि इस कृति मे इतिवृत्त का ताना-वाना 'कामायनी' की अपेक्षा कही अधिक प्रगाढ एवम् स्पष्ट है।

आकार-दीर्घता और महाकाव्यत्व

प्रवध काव्य आकार की पृथुलता से ही महाकाव्य होने का गौरव नही प्राप्त कर लेता। यो अनेक वृहदाकार प्रवधो का प्रणयन होता है जिनमे परम्परित,रूढ नियमो की अनुपालना तथा स्वय कवि द्वारा रचना को 'महाकाव्य' घोषित करने के

1. पारसनाथ तिवारी, हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम स०, पृष्ठ 584।

उपरात भी, कृति मात्र महाकाव्याभास बन कर रह जाती है । इन रचनाओ मे महाकाव्य का शरीर तो होता है , आत्मा नही होती ।[1] ये कृतियाँ अपने जन्म वाले दशक मे ही काल-कवलित हो जाती है और जनमानस को नितान्त अप्रभावित छोड जाती है । 'महाकाव्य' की सज्ञा का अधिकारी वही काव्य होता है जो काल की एक अपेक्षाकृत दीर्घावधि तक जनमानस को प्रेरणा देता रहे, मानव-रुचियो का सस्कार कर उनका उदात्तीकरण करता रहे और जातीय जीवन के प्रति आस्था एवम् निष्ठा उत्पन्न करता रहे। इस दृष्टि से किसी भी भाषा के साहित्य मे महाकाव्यो की सख्या 'सिहो के नहि लेहडे' की भाँति अँगुलियो पर गिनने योग्य होती है । शेष प्रबध तो मृतक हाथियो की भाँति, साहित्य-भूमि पर पथराये रहते है ।

आधुनिक काल के महाकाव्य और लोकायतन

महाकाव्य की दृष्टि मे आधुनिक काल के केवल चार प्रबन्ध ही विचारणीय ठहरते है हरिऔध कृत 'प्रिय प्रवास', मैथिलीशरण 'गुप्त' कृत 'साकेत', जयशकर 'प्रसाद' कृत 'कामायनी' और सुमित्रानन्दन पत कृत 'लोकायतन' । इनमे से प्रथम दो मे प्रधान पात्रा के विरह-वर्णन को आवश्यकता से अधिक

---

1 वर्तमान काल मे हिन्दी मे लम्बे आकार के प्रबध काव्यो की बाढ सी आ गई । उनमे से अधिकाश को स्वय उनके रचयिताओ ने 'महाकाव्य' की सज्ञा दी है और कुछ को उनके आकार आदि के कारण भ्रमवश महाकाव्य माना जाता है। इस प्रकार की रचनाओ के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रथो का नाम लिया जा सकता है :

1 राम-स्वयवर—महाराज रघुराज सिह, 2. रामचन्द्रोदय—रामनाथ ज्योतिषी, 3 रामचरित चिन्तामणि—रामचरित उपाध्याय, 4 कौशल-किशोर—बल्देव प्रसाद मिश्र, 5. वैदेही वनवास—'हरिऔध" 6 साकेत-संत—बल्देवप्रसाद मिश्र, 7 नूरजहाँ—गुरुभक्तसिह, 8 दैत्य वश—हर-दयालुसिह, 9 सिद्धार्थ—अनूप शर्मा, 10 वर्द्धमान—अनूप शर्मा, 11 जननायक—रघुवीरशरण मित्र, 12 हल्दीघाटी—श्यामनारायण पाण्डेय, 13 जौहर—श्यामनारायण पाण्डेय, 14 आर्यावर्त—मोहनलाल महतो 'वियोगी' 15 मेधावी—रागेय राघव, 16 कुरुक्षेत्र—दिनकर, 17 विक्रमादित्य—गुरुभक्तसिह, 18 गाँधीचरित मानस—विद्याधर महाजन, 19 पार्वती—रामानद तिवारी, 20 अगराज—आनद कुमार ।
—पारसनाथ तिवारी, हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम सं०, पृ० 593 ।

महत्त्व दिये जाने के कारण मानव-जीवन के अन्य पक्षो की अवहेलना हुई है और इनका दृष्टिकोण एकागी प्रमाणित हुआ है। साथ ही "गभीर जीवन-दर्शन के अभाव मे इन कवियो द्वारा उपस्थापित चरित्रो मे महत्ता का वह उच्च आदर्श नही आ सका है जो प्राचीन महाकवियो द्वारा उन्ही पात्रो के चरित्राकन मे पाया जाता है।"[1] काल-प्रवाह मे ये दोनो महाकाव्य बहुत दिनो तक ठहर सकेंगे, यह सोचना दुराशा ही प्रतीत होती है। हाँ, 'कामायनी' महाकाव्य मे अवश्य कालजयी होने के गुण तथा क्षमताएँ हैं। ऐसी ही अपेक्षा 'लोकायतन' से भी की जा सकती है।

लोकायतन का महाकाव्यत्व

अब 'लोकायतन' के महाकाव्यत्व के सम्बन्ध मे तनिक विस्तार से विचार कर लिया जाय। 'लोकायतन' यदि महाकाव्य है तो इसलिए नही कि वह लगभग 23,000 पक्तियो का एक बृहदाकार काव्य है और न इसलिये कि उसमे महाकाव्य के प्राचीन, परपरित एव रूढ, वाह्य लक्षणो का निर्वाह हुआ है। ग्रथारभ मे, कवि ने कालिदास (रघुवश) ही के स्वरो मे वीणापाणि देवी सरस्वती की अभ्यर्थना की है,[2] सम्पूर्ण सर्ग मे एक ही छद का प्रयोग करते हुए सर्गांत मे छन्द-परिवर्तन किया है और वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत 'नगरार्णवशैलर्तु' आदि का विशद और मोहक वर्णन भी किया है। पर इन सब से पृथक् और इन सब से अतिशय है महाकाव्य के वे अत तत्त्व जो 'लोकायतन' के प्राण हैं, कृति की आत्मा है।

महाकाव्य के तत्त्व

महाकाव्य के पाँच देश-काल-निरपेक्ष तत्त्व माने गये हैं[3] जिनके अभाव मे, अच्छे से अच्छा प्रबध भी 'महाकाव्य' की सज्ञा का अधिकारी नही हो सकता तथा जिनके होने पर, कोई भी कृति महाकाव्यत्व के गौरव से वचित नही की जा सकती। वे तत्त्व है —

(1) उदात्त कथानक
(2) उदात्त कार्य

---

1 पारसनाथ तिवारी, हिन्दी साहित्य कोष, प्रथम स०, पृष्ठ 583।

2 वागर्थादि अमर कवि-गिरे प्रणाम,
जयति, पार्वती परमेश्वर प्रिय राम!
—लोकायतन, प्रथम स०, पृष्ठ 5।

3 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृष्ठ 538।

(3) उदात्त भाव
(4) उदात्त चरित्र
(5) उदात्त शैली

इस प्रकार सर्वौदात्य (पान-सब्लिमिटी) ही महाकाव्य का प्राण है । इसी आधार को लेकर अब पंत जी के 'लोकायतन' के महाकाव्यत्व की परीक्षा की जायेगी ।

लोकायतन मे वस्तु का औदात्य

उदात्त कथानक से आशय है महान् घटनाओ के समन्वय से । महाकाव्य के "कथानक का निर्माण ऐसी घटनाओ से होता है जिनका प्रभाव प्रबल एवम् स्थायी हो और देश तथा काल दोनो मे जिनका विस्तार हो । इसके साथ ही उदात्त कथानक के लिये यह भी आवश्यक है कि इसका स्वरूप, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे ध्वंसात्मक न होकर रचनात्मक हो—उसकी परिणति शुभ और मंगलमयी हो ।"[1]

'लोकायतन' के कथानक को असंदिग्ध भाव से उदात्त एवम् महान् कहा जा सकता है क्योंकि वह भारत ही नहीं, समग्र विश्व के 'युग-जीवन की भागवत कथा'[2] है । इस संबंध मे दो मत नही हो सकते कि पंत जी का उद्देश्य कोई लौकिक कथा कहना नहीं है । न यह उद्देश्य कामायनीकार का ही रहा । यही कारण है कि इन दोनो ही काव्यो मे बाह्य भौतिक जगत् की घटनाएँ, आन्तरिक विकास-चित्रण की अवलम्ब भर है । जहाँ 'कामायनी' मनोवैज्ञानिक धरातल पर वर्तमान विश्व-जीवन की समस्याओं का निदान खोजने का उपक्रम करती है, वहाँ 'लोकायतन' यही प्रयत्न आध्यात्मिकता के धरातल पर करता है । जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, पंत जी की आध्यात्मिकता, कोई हवाई चीज न होकर मनोवैज्ञानिकता का ही अग्रिम चरण है और 'कामायनी' की 'समरस' अवस्था वही है जो 'लोकायतन' की अतिमानसिक स्थिति है ।[3] तात्पर्य यह कि मानव

---

1 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम सं०, पृष्ठ 539 ।
2 सुमित्रानंदन पंत, लोकायतन का ज्ञातव्य, प्रथम संस्करण ।
3 समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था । (कामायनी)

(शेष अगले पृष्ठ पर)

जीवन के आन्तरिक सत्य को लक्ष्य बनाकर चलने वाले प्रबन्धो का कथानक लौकिक घटनाओ से समृद्ध नही हो सकता । इस दृष्टि से जो त्रुटि 'कामायनी' मे है,[1] वह 'लोकायतन' मे भी समान रूप से है, यद्यपि पत जी का नवचेतनावाद मानसिक-आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ, वाह्य भौतिक प्रगति की भी बात करता है ।

पर इससे यह नही समझना चाहिये कि 'कामायनी' तथा 'लोकायतन' मे कथानक नगण्य है । विपरीत इसके, जहाँ कथा भौतिक जगत् की पृष्ठभूमि मे अग्रसर होती है, दोनो ही काव्य लौकिक घटनाओ से सम्पन्न दिखाई पडते है । उदाहरण-स्वरूप 'कामायनी' के 'सघर्ष' के सर्ग को लिया जा सकता है जहाँ प्रजाओ के साथ मनु का द्वन्द्व चलता है । इसी के समानान्तर 'लोकायतन' के 'ज्योति द्वार' के अन्तर्गत 'अन्तर्विरोध' सर्ग है जिसमे माधो गुरु द्वारा हरि के सस्कृति केन्द्र पर आक्रमण तथा हरि की हत्या का प्रसग वर्णित है । 'लोकायतन' की प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार है . (1) हरि द्वारा स्त्रियो के जीवन-विकास हेतु उद्योग-शिविर की स्थापना, (2) भारतीय स्वातत्र्य युद्ध के प्रसग मे गाँधी जी की ऐतिहासिक दाण्डी यात्रा, (3) द्वितीय विश्व-युद्ध तथा भारत की स्वतत्रता, (4) भारत-विभाजन एवम् साम्प्रदायिक दगे, (5) स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद का नैतिक विघटन, (6) वशी द्वारा नवीन मूल्य-समन्वित आदर्श मानवता की सृष्टि का सकल्प, (7) शिविर का सास्कृतिक केन्द्र के रूप मे विकास, (8) द्रष्टा कवि वशी का विश्व-भ्रमण (9) माधो तथा उसके अनुयायियो का केन्द्र पर आक्रमण और हरि की हत्या, (10) माधो गुरु के मृत्यूपरान्त वशी द्वारा सुन्दरपुर के चतुष्पथ पर माधो की मूर्ति का अनावरण, (11) केन्द्र मैरी (सयुक्ता) को सौंपकर वशी का अभिनिष्क्रमण और (12) केन्द्र का 'लोकायतन' रूप मे नवीन मानवता को दिशा मे कार्यरत होना ।

इन घटनाओ को जो काल मे—सामतवादी मध्ययुग ही नही, उससे बहुत

(पिछले पृष्ठ का शेष)

सहसा ज्यो खुल गये दृष्टि-बधन
देखा कवि ने तृण-तरु खग-मृग मे
व्याप्त चराचर मे समस्त शाश्वत
चलता नित जन-भू-विकास मग मे ! (लोकायतन)

1 'कामायनी' की एक भारी त्रुटि यह है कि उसका कथा-तन्तु अत्यन्त क्षीण है ।
—डा० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी-साहित्य कोश, प्रथम स०, पृ० 583 ।

पूर्व राम राज्य वाले कृषि-युग (पूर्व आस्था) से प्रारंभ होकर भावी नवमानवता वाले युग तक प्रसरित है तथा देश मे—सपूर्ण भू-मण्डल (वशी का विश्व-भ्रमण) तक व्याप्त है, देखने से सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रस्तुत महाकाव्य का दृश्य-पट (केन्वस) कितना विस्तृत है ! शायद ही आधुनिक हिन्दी का कोई महाकाव्य हो, जिसका ताना-वाना देश-काल के ऐसे व्यापक विस्तार मे बुना गया हो। साथ ही, कथानक का स्वरूप ध्वसात्मक न होकर, शत प्रतिशत रचनात्मक है। ग्रन्थ की परिणति 'लोकायतन' नाम के जिस सास्कृतिक केन्द्र के रूप मे हुई है वह देश, जाति, धर्म, रुढि, रीति आदि की सीमाओ मे बद्ध सकीर्ण मानवता को विश्व-मानवता मे, तथा भूतल को स्वर्ग मे परिणत कर देने के प्रयास मे लीन है। इस प्रकार 'लोकायतन' के कथानक का औदात्य असदिग्ध है, यह अलग वात है कि उसकी सघनता उतनी नही है, जितनी होनी चाहिए। पर इसके लिये कवि को दोष नही दिया जा सकता क्योकि 'कार्य' की प्रकृति ही कुछ इसी प्रकार की है।[1] तथापि यह मानकर चलना होगा कि 'लोकायतन' लोक-जीवन का महाकाव्य है और लोक-जीवन ही की पृष्ठभूमि मे आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन किया गया है। इस दृष्टि से, वाह्य जगत् के साथ जितना 'लोकायतन' का कथानक सयुक्त है, उतना 'कामायनी' का नही।

कार्य का औदात्य

'लोकायतन' का कार्य है एक ऐसी समन्वित एवम् सतुलित जीवन-दृष्टि का निर्माण, एक ऐसी नवीन चेतना का जन्म जो मनुष्य की समग्र सतुष्टि कर सके। कवि के अनुसार, मानव-सत्य की पूर्णता उसके शरीर, मन तथा आत्मा की समग्र सतुष्टि मे है। युग का त्रास यही है कि मनुष्य अभी तक एकागी दृष्टियो का शिकार है। वह या तो आत्म-तत्त्व की घोर उपेक्षा कर, भूतवादी वन जाता है और दैहिक सुख को ही जीवन का चरम पुरुपार्थ मान बैठता है, या फिर देह-तत्त्व की एकान्त अवहेलना कर मध्यकालीन रिक्त अध्यात्म का उपासक वन जाता है और सम्पूर्ण वाह्य जगत् को मिथ्या घोपित करता हुआ काया को जानबूझ कर कष्ट पहुँचाने लगता है। 'लोकायतन' इन

1 युग-जीवन के सम्बन्ध मे लिखना कठिन होता है, क्योकि उसके स्तर वर्तमान पीढियो की चेतना के भीतर होते है। इसीलिये मैने कथावस्तु के चयन एवम् सयोजन मे अत्यन्त सयम से काम लेकर अनिवार्य तत्त्वो एवम् घटनाओ ही का समावेश किया है।

—पत, लोकायतन का 'ज्ञातव्य'।

दोनो सकुचित एवम् अतिवादी दृष्टियो से ऊपर उठकर दोनो के सतुलित समन्वय का सदेश देता है

> सामाजिकता के अभाव मे ज्यो
> वैयक्तिक अन्तर्विकास निष्फल
> अत शिखरो की उपलब्धि विना
> वहिर्भ्रांत जीवन मृगतृष्णा, छल !
> थोथे आदर्शो मे रत युग-मन,
> वदल गई आध्यात्मिक परिभाषा,
> अव न धर्म परलोक मुक्ति-अर्जन,
> वह उन्नत भू-जीवन अभिलाषा ।[1]

'कामायनी' ने युग-मन को यह सदेश दिया कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान की पृथकता ही युग-त्रास का कारण हे और कि इन तीनो के सतुलित समन्वय से मानवता का त्राण सभव है, वहाँ 'लोकायतन' के अनुसार भौतिकता और आध्यात्मिकता का द्वन्द्व ही युग की यातना का जनक है और इन दोनो मे सामजस्य की स्थापना के द्वारा ही भूतल को स्वर्ग वनाया जा सकता है । सक्षेप मे, 'लोकायतन' नवीन मूल्यो का काव्य है । वह प्राचीन, मध्ययुगीन आदर्शो का, जो विश्व की परिवर्तित जीवन-परिस्थितियो के सदर्भ मे निर्जीव, खोखले और जड हो गये है, त्याग कर, नवीन विश्व-मानवता का आदर्श सप्रस्तुत करता है ताकि मानवता का भविष्य मगलमय हो सके । ' कवि पत ने 'लोकायतन' मे अपनी भूतपूर्व सम्पूर्ण प्रतिभा के साथ, एक अभूतपूर्व सामाजिक एवम् सास्कृतिक पक्ष का समन्वय करते हुए, 'लोक' को एक सरस, सुन्दर एवम् श्रेष्ठ निवास-स्थान के रूप मे परिवर्तित करने की चेष्टा की है ।"[2]

इस आदर्श को, प्रस्तुत कृति मे 'लोकायतन' नाम की एक सास्कृतिक सस्था की प्रतिष्ठा कर, मूर्त्त रूप दिया गया हे । काव्य मे ही नही, पत जी तो स्थूल भौतिक जगत् मे भी ऐसी ही एक सस्था प्रतिष्ठित करने का विचार रखते थे 'लोकायन' नाम से ।[3] यदि यह विचार कार्य-रूप मे परिणत हो जाता तो व्यावहारिक रूप मे हमे वह सस्था देखने को मिल जाती जिसकी सैद्धातिक रूप-रेखा 'लोकायतन' महाकाव्य मे सचित है ।

---

1 लोकायतन, प्रथम सस्करण, पृष्ठ 509 ।

2 डा० शकर राजू नायडू, 'सुमित्रानन्दन पत और लोकायतन' लघुपुस्तिका से ।

3 पत, साठ वर्ष . एक रेखाकन, पृ० 69 ।

'लोकायतन संस्कृति-केन्द्र' का स्वरूप अधिकाश मे वही है जो पाडिचेरी के श्री अरविन्द आश्रम का है।[1] अरविन्द आश्रम विशुद्ध रूप से अन्तश्चेतना के ऊर्ध्व विकास तथा दिव्य-चेतना के भू-अवतरण पर बल देता है और 'लोकायतन' सस्कृति-केन्द्र का भी प्रधान कार्य यही है। तथापि उसकी अपनी कुछ मौलिकता भी है। वह गांधीवादी दर्शन के अहिसा एवम् प्रेम तत्त्व का प्रचारक है, मार्क्सवाद के शारीरिक एवम् सामूहिक श्रम की महत्ता का उपासक है और सास्कृतिक आयोजनो द्वारा जन-रुचि को परिष्कृत करने तथा राग-भावना के परिष्कार का पक्षधर है। सक्षेप मे, वह मानव-जीवन के ऐसे सस्कार का आयोजक है जिससे युग-मानव, वर्तमान विभीषिकाओ की कारा से मुक्त होकर एक सम्पन्न और परिपूर्ण लोक के वातावरण मे सांस ले सके। 'कार्य' की इमसे बढ कर उदात्तता और क्या हो सकती है!

भाव का औदात्य

'लोकायतन' का मूल भाव प्राचीन रसाचार्यों द्वारा परिगणित स्थायी भावो की सूची मे से नही है। 'निर्वेद' वह इसलिये नही है कि 'लोकायतन' विश्व को उतना ही सत्य मानता है जितना ईश्वर को। यहाँ 'विरति' या 'वैराग्य' नाम की कोई वस्तु नही है। पृथ्वी पर सब कुछ सुन्दर है और यदि मानव-जीवन पूर्णतया सुन्दर नही है तो उसे सुन्दर बनाना होगा और ऐसा करने के लिए जीवन मे प्रवृत्त होना होगा। 'लोकायतन' का 'अगी रस' वस्तुत वह आनन्द है जो सम्पूर्ण जीवन के सतुलित सामरस्य से उत्पन्न होता है। मानव-जीवन को सर्वांग सम्पन्न पाकर उसमे प्रवृत्त होने का आनद ही प्रस्तुत कृति का प्रधान रस है जिसे 'महारस या आनदरस'[2] भी कहा जा सकता है।

चारित्र्य का औदात्य

'लोकायतन' महाकाव्य के प्रमुख पात्र हैं गांधी, वशी, हरि, श्री तथा माधो गुरु। इनमे से गांधी के अतिरिक्त शेप सारे पात्र कल्पित है और "केवल मानव-

---

1 यह अनुकरण इस सीमा तक है कि वशी ने, वानप्रस्थ अगीकार करने से पूर्व केन्द्र का सचालन एक ऐसी महिला को सौंप दिया है जो विदेशी है—यही इसलिये तो नही कि अरविन्द आश्रम की स्वामिनी भी एक विदेशी महिला है। और चूँकि उस महिला के नाम को बदल कर श्री अरविन्द ने उसे 'श्री मा' का नया नाम दिया है, द्रष्टा कवि वशी ने भी उसे नवीन नाम—सयुक्ता—देना आवश्यक समझा है।

2 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृ० 541।

चेतना के पालकी-वाहक भर है।"[1] वशी सृजन-चेतना का, हरि कर्म-शक्ति का तथा श्री भाव-प्रेरणा के प्रतीक भर है।[2] तथापि महाकाव्य का नायक तो वशी ही है जिसमे धीरोदात्त नायक के लगभग सभी गुण विद्यमान है। केवल वह अहंकारवान् नही है अन्यथा महासत्त्व, अतिगांभीर्य, क्षमा, अविकत्थन (झूठी आत्म-प्रशंसा से रहित), स्थैर्य और दृढसंकल्प मे वह बेजोड है। उसका गाँधीवादी दर्शन से प्रभावित मित्र हरि एवम् हरि की अनुजा 'श्री' जो केन्द्र का मृत्यु-पर्यन्त संचालन करती है, प्रकृति से ही औदार्य-पूर्ण है। माधो गुरु खलनायक की भूमिका निभाते है क्योकि वे वशी के ही विलोम रूप के प्रतीक है।[3] जिस प्रकार रामचरित मे, राम के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये 'रावण' का प्रतिरूप कल्पित किया जाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रबंध मे वशी के आत्मरूप को प्रकट करने के लिए 'माधो गुरु' का चरित्र खडा किया गया है। डा० रामविलास शर्मा का विश्वास है[4] कि अपने प्रतिस्पर्द्धी कवि 'निराला' को ही पंत जी ने 'माधो गुरु' के रूप मे चित्रित किया है और यह सच भी हो सकता है।

शैली का औदात्य

उदात्त शैली, पंत-काव्य की अपनी निज की विशेषता है। 'वीणा' काल की प्रारंभिक रचनाओ को छोड दे, तो पंत काव्य मे सर्वत्र इस औदात्य के दर्शन किये जा सकते है। 'लोकायतन' मे आकर तो यह एक असाधारण लोकोत्तर स्थिति तक उठ आई है। इसमे संदेह नही कि शैली का औदात्य बहुत अंशो तक, कथ्य और भाव के औदात्य पर निर्भर करता है। मिल्टन के काव्य मे वह उदात्त शैली न होती, यदि उसका कथ्य महान् एवम् अतिशायी न होता। 'कामायनी' के कवि के लिए भी यही बात कही जा सकती है। पर जहाँ 'कामायनी' मे अति प्राचुर्य के कारण यह गुण, दोष बन गया है और

---

1. पंत, लोकायतन का 'ज्ञातव्य'।
2. सृजन-चेतना भर था कवि वशी
   कर्म शक्ति का था हरि स्रोत महत्
   भाव-प्रेरणा थी हरि के हित श्री
   जन-भू मंगल, निष्ठा तप व्रत रत! —पृ० 499।
3. धूम छँट गया युग-कवि के मन का
   वशी के ही थे विलोम माधव
   जान सका जिनसे वह अपने को! —प्रथम सं०, पृ० 534।
4. निराला की साहित्य-साधना।

महाकाव्य के प्रबंधत्व को क्षति पहुँचाने लगा है[1], वहाँ 'लोकायतन' मे कवि ने सामान्य प्रसंगों मे शैली की उदात्तता को एक आपेक्षिक निम्न स्तर पर लाकर प्रबन्धत्व को सुरक्षित रखा है। 'लोकायतन' मे शैली का परम उदात्त रूप 'पूर्व स्मृति', 'ज्योति द्वार' तथा 'उत्तर स्वप्न' मे देखा जा सकता है जहाँ कवि कल्पना की अद्भुत समृद्धि एवम् ऐश्वर्य के कारण बिम्ब-योजना की आढ्यता पाठक को मुग्ध किये रहती है

> नभ से झरते नव प्रकाश के नभ
> मन श्रेणियों पर चढ़ता नित मन,
> शोभाएँ ढल सुषमाएँ बनतीं
> सत्य महत्तर, शिव शिवतर प्रतिक्षण!
> स्वर्ग-सम्पदा लोट धरा-रज पर
> जीवन-सर्जन मे होती कुसुमित,
> स्वप्न-शिराओं मे रस-चेतन् की
> ज्योति-रुधिर गाता प्रहर्ष झंकृत।[2]

इन पाँच तत्त्वों के अतिरिक्त, महाकाव्य के और भी तीन तत्व गिनाये जाते है [3] (1) महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा, (2) गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व तथा (3) अनवरुद्ध जीवनी-शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता। पर इन तीनों का समाहार उपरिविवेचित तत्त्वों के अन्तर्गत हो जाता है। प्रथम का समाहार 'उदात्त कार्य' के अन्तर्गत तथा द्वितीय का 'उदात्त कथानक' और 'उदात्त पात्र' के अन्तर्गत संयुक्त रूप से हो जाता है। तीसरा तत्त्व अर्थात् 'अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता' वस्तुतः महाकाव्य का तत्त्व न होकर, तत्त्वों की समग्र परिणति है। यदि पाँचों तत्त्व उदात्त है, तो यह परिणति अवश्यंभावी है।

निष्कर्ष

इस प्रकार 'लोकायतन' का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है।[4] उसमे महाकाव्य की आत्मा है। कमी केवल एक ही खटकती है और वह है कथानक की स्वल्पता।

---

1 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, पृ० 542।

2 'लोकायतन', प्रथम संस्करण, पृष्ठ 543।

3 डा० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, प्रथम सं०, पृष्ठ 579।

4 लोकायतन वर्तमान हिन्दी साहित्य का एक अद्वितीय महाकाव्य है।
—डा० शंकर राजू नायडू, सुमित्रानंदन पंत और लोकायतन, पृ० 3।

कथानक यद्यपि सुसघटित अवश्य है, पर घटनाएँ जिस क्षिप्रता से गतिशील होनी चाहिए, होती नही है। कारण इसका शायद यही है कि कवि नवचेतना के स्वरूप-विश्लेषण मे जितना प्रवृत्त है, उतना कथा कहने मे नही। मात्र कथा कहना, किसी भी युग अथवा देश मे महाकाव्य का लक्ष्य नही रहा है। फिर भला पत जी का ही क्या दोप है ? हमारा विश्वास है कि यदि नव-चेतनात्मक प्रसगो के वर्णन इतने दीर्घ न किए जाते, जितने वे किए गए है और उनकी वारम्वार आवृत्ति न की जाती, तो कथानक के इसी ताने-वाने से महाकाव्य अधिक प्रभावशाली वन सकता था और अनपेक्षित चर्वित-चर्वण से भी वचा जा सकता था।

नवचेतनात्मक दृष्टि

युग-त्रास

अपने अन्य काव्यो की भाँति, पत जी ने नवचेतना-तत्त्वो को 'लोकायतन' मे भी वर्तमान की विपम स्थिति की पृष्ठभूमि पर अकित किया है। साम्प्रतिक जीवन की विभीपिका, यद्यपि अपने आप मे, नवचेतना का काई तत्त्व नही है तथापि वह भावी की सम्पन्न जीवन-रेखा का प्रस्थान-विन्दु अवश्य है और इसी दृष्टि से कवि ने युग-त्रास का विशद चित्रण किया है।

आर्थिक-राजनीतिक दुर्दशा

लगभग डेढ सौ वर्पो के साम्राज्यवादी शोषण से पिस कर देश की अधिकाश जनता अन्न एवम् वस्त्र की दृष्टि से भी अत्यन्त विपन्न हो गई है और जाडे मे तो वह पशु की भाँति दया का आलम्वन वन जाती है।[1] देश-वासियो की यही विपन्नावस्था, लोक-सेवी हरि को, माता-पिता के वारम्वार के आग्रह के वाद भी, विवाह-वधन मे वँध जाने से विरत करती रहती है।[2]

---

1. सुलभ नही भर पेट अन्न कण
   फटे देह पर चिथडे लत्ते
   जाडे मे हिल हड्डी वजती
   कँपते तन के पीले पत्ते। —लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 48।

2 कीड़ो से पिसते हो पग पग
   जव जन निर्धन दुख के नीचे
   तव आँसू के खारे जल से
   वश-वेल कोई क्या सीचे। —पृ० 47।

युग-द्रष्टा कवि वंशी देश के आक्षितिज फैले दारिद्रय[1] का अवलोकन कर कर्त्तव्य-विमूढ़ है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व, जनता सोचा करती थी कि देश मे स्वराज्य की स्थापना के साथ ही हमे भौतिक कष्टो से मुक्ति प्राप्त हो जायगी। और जनता ही क्यों, राजनेताओ मे से भी अधिकाश का ऐसा ही विश्वास था। पर राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होने के चौदह वर्ष बाद भी जन-साधारण के जीवन मे किसी प्रकार का परिवर्तन न आया[2] और रामराज्य के स्वप्न तिरोहित होने लगे।[3] उन्ही परिस्थितियो मे हरि को यह चेतना प्राप्त हुई कि स्वतन्त्रता साध्य नही, साधन ही है।[4]

गोरो के द्वारा होने वाला शोषण अब कालो के द्वारा होने लगा। देश की पचवर्षीय योजनाएँ क्या आई, धनी अधिक धनाढ्य तथा निर्धन निर्धनतर होते चले गए।[5] वंशी को परम आश्चर्य है कि स्वतन्त्र भारत मे नाप बदले, तौल

---

1. दारिद्रय मनो के भीतर
   दारिद्रय जनो मे बाहर
   त्वच, रक्त, मास, मज्जा मे
   दारिद्रय घुला अति दुस्तर ! —पृ० 157।

2. कर्दम कदन्न मे पलते
   मलते कर जन साधारण
   परतत्र देश से दुष्कर
   स्वाधीन धरा का जीवन ! —पृ० 159।

3. महँगी ही मात्र प्रगति पर
   हाँ अनाचार भी निश्चित,
   प्रिय राम राज्य के सपने
   मन से हो रहे तिरोहित ! —पृ० 159।

4. स्वातन्त्र्या न सिद्धि स्वय मे
   कहता उनका सर्जक मन,
   वह रक्त-स्वेद अभिषेकित
   भू-जीवन-रचना-साधन ! — पृ० 146।

5. ऋण-पर्वत कधो पर धर
   कैसे उठता जीवन-स्तर
   तीसरी योजना चलती

(शेष अगले पृष्ठ पर)

बदले, मुद्रा बदली, यहाँ तक कि नगरों और मार्गों के नाम तो बदल गए पर देश का दारिद्रय न बदला। उसे समझ नहीं आता कि इसे प्रगति कहे, अगति कहे या दुर्गति कहे। उसके शब्दों में पंत जी ने एक अद्भुत व्यंजकता भर दी है और व्यंग्य अत्यन्त चुटीला हो गया है।[1]

देश के वर्तमान राजनेताओं एवम् राजनीति पर भी 'लोकायतन' के कवि ने मार्मिक व्यंग्य किए हैं। नेताओं के चारित्रिक पतन को विम्बयोजित करने वाले शब्द जो सुसंस्कृत एवम् शीलवान 'वंशी' के मुख से न कहलाए जा सके, कवि ने 'माधो गुरु' के मुख में रख दिए हैं।[2]

धर्म का ह्रास-प्राप्त रूप

मध्य युगों से चले आ रहे धर्म के खोखले रूप की ओर भी कवि का ध्यान गया है। आज धर्म का चेतना-तत्त्व लुप्त हो चुका है और वह छिलका मात्र रह गया है।[3] समाज में आज भी साधु-संत गुह्य शक्तियों के पूँजीपति बने, सरल-

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

जन-भू हड्डी का पंजर
संचित समस्त युग-सम्पद्
धनपतियों में मुट्ठी भर
अब मध्य निम्न वर्गों के
जन निर्धन से निर्धनतर! —पृ० 167।

1 गत नाप, तोल, मुद्राएँ
बदली, पुर पथ पुरातन
बदली न दृष्टि, चेतनता
बदले न मूल्य, मत चिन्तन
यह प्रगति, अगति या दुर्गति
कुछ समझ नहीं पाता मन! —पृ० 167।

2 खादी मढे घड़े पापों के
देशी नेता, लोग न परिचित
अँट न सकेगा महलों में भी
उनका पद-मद जानो निश्चित! —पृ० 78।

3 चेतना तत्त्व हो चुका लुप्त
धर्म का छिलका भर अब शेष
खोखले शब्दों को निःसार
मध्य युग से पकड़े था देश! —पृ० 317।

निश्छल मन का शोषण करने मे लगे है। जगत् को माया का प्रसार बताकर और यह उपदेश देकर कि मनुष्य इस ससार मे 'मुट्ठी बांधे आता है और हाथ पसारे जाता है', वे ऋण-मूल्यों की सृष्टि करने मे लगे है। घृणित पाखण्डो एवम् खोखले कर्मकाडो[1] की भूलभुलैया मे लोक-चेतना को भटका कर वे अपना उल्लू सीधा करने मे लगे है। धर्म के ह्रास-प्राप्त रूप का दिग्दर्शन कराने ही के उद्देश्य से कवि ने 'वशी' के सास्कृतिक केन्द्र के विलोम रूप मे, 'माधो गुरु' के आश्रम की प्रतिष्ठा करवाई है जहाँ अनेक भ्रष्ट धर्माचार्यो का सगम है, जो अपनी भ्रष्टधर्मिता का विष, सामाजिक रगो मे उपदर्शित करते रहते है। अधेड मौनाचार्य पर 'बाल-भाव' उतरता है,[2] तो बाबा हरिपाद पर 'पत्नी-भाव'।[3] एक और भी अनाम आचार्य है जो वध्याओ की हस्त रेखाएँ देखते है और उनकी गोद भी भर देते है।[4]

---

1. घृणित पाखडो की कर सृष्टि
धर्म के ये लोभी वक्काल
वेच खा गये धर्म का दाय
खडे कर कर्मकाड ककाल। —पृ० 319।

2 स्त्रियो की गोदी पर धर शीश
स्तन्य करते वे अकलुप पान
सहज रह बाल-भाव मे लीन
भक्त महिमा जाने भगवान। —पृ० 320।

3 आरती करते नित हरिपाद
कास्य के घण्टे पर दे चोट
नाचते कीर्तन गा उन्मुक्त
छिपा मुख को घूँघट की ओट।
उतरता उन पर पत्नी भाव
भक्त जन करते जय-जयकार
स्त्रियो मे छिप जाते वे बैठ
पुरुप-तन को कर अस्वीकार। — पृ० 322।

4. बताते मन की गोपन बात
देखकर वध्याओ के हाथ
सिद्धि फल दे भर देते गोद
नवाते जन चरणो पर माथ।

—पृ० 351।

व्यक्तिगत मोक्ष का आदर्श

व्यक्तिगत मोक्ष के आदर्श ने भगवत् जीवन को भू-जीवन से विच्छिन्न कर दिया है।[1] परिणामस्वरूप कर्म पगु हो गया है और जातिगत जीवन मृत-प्राय। सामाजिक जीवन रिक्त कंचुल सा निष्प्राण हो रहा है। इसीलिए लोकायतन का कवि वीणापाणि से प्रार्थना करता है

भारत-चेतस् को कर लोक समन्वित
भू-जीवन की ओर करो रत, अविरत।[2]

कर्म को बंधन बताने वाले दर्शन से भारत के जातीय जीवन को जितनी हानि पहुँची है, उतनी अन्य किसी विचारधारा से नही। व्यक्ति की मुक्ति वस्तुत सार्वजनिक मुक्ति से बँधी है और सार्वजनिक मुक्ति का मार्ग है लोक-जीवन को सम्पन्न एवम् सुन्दर बनाना। लोक ही भगवच्चेतना का मूर्त पीठ बने और सामूहिक श्रम बने उसकी आराधना-पद्धति। तभी भगवत् जीवन और भू-जीवन का सामरस्य स्थापित हो सकता है। 'लोकायतन' का कवि इसीलिए 'कामायनी' के कवि से सहमत नही हो पाता

कैसे कह दूँ इडा-लुब्ध युग मनु से
श्रद्धा सँग वह करे मेरु-नग रोहण,
आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन-भू-पथ पर करना सक्रिय विचरण!
आज सर्प-मुख से मणि छीन, अधोमुख
अवचेतन पथ करो, चेतने, ज्योतित
चित्रकूट से नीचे धरा-कुहर मे
उतर, अचेतन तिमिर जहाँ चिर निद्रित।[3]

भूत और अध्यात्म का विच्छेद

भूत और अध्यात्म का विच्छेद युग-त्रास का सबसे बडा कारण है। विशुद्ध अध्यात्म जिस तरह पलायन है, विशुद्ध भूत भी उसी तरह जीवन के

---

1 भगवज्जीवन भू-जीवन मे कब से
भित्ति खडी दुर्बोध भेद की दुर्गम —पृ० 20।

2. लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 6।

3. लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 7।

के सूचक है। भारत-विभाजन के अवसर पर हुए साम्प्रदायिक दगो के पीछे भी कवि ने मध्यकालीन खडित सस्कृति की प्रेरणा देखी है, जो ठीक भी है।[1] उस समय जातिगत विद्वेष की जो होली जली, तो लोगो ने मनुष्यता को उतार कर खूँटी पर यो रख दिया जैसे वह ऊपर से ओढा जाने वाला कोई लबादा हो।

नवमानवता का स्वप्न

इसी व्यापक युग-विभीषिका की पृष्ठभूमि पर कविर्मनीषी पत ने नवीन मानवता का वह स्वप्न (विजन) देखा है जो भू-जीवन पर मन स्वर्ग-शिखरो का सौन्दर्य विखेर कर उसे जीने योग्य बना सकता है। यह न शेखचिल्ली का दिवा-स्वप्न है, न किसी प्रकार का पलायन। यह तो वर्तमान युग के सम्मुख उपस्थित किया गया 'आदर्श' है जो समुचित प्रयत्नो द्वारा 'यथार्थ' मे परिणत किया जा सकता है। उसे यथार्थ बनाकर दिखाना और लोगो का दायित्व है, स्वय कवि का दायित्व नही। कवि का कर्त्तव्य तो अपने स्वप्न (विजन) को दिखा देना भर है, जो अपने आप मे, शब्दो की सीमित शक्ति के कारण, कोई बहुत सरल कार्य नही है।[2] पर यदि वह इतना ही कर सकने मे समर्थ हो जाता है तो हम उसका कर्त्तव्य पूरा हुआ मान लेने को तैयार है।

बाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता

'लोकायतन' महाकाव्य मे अभिव्यक्त नवचेतना का प्रथम तत्त्व है बाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता। इसके बिना, उच्च आध्यात्मिक जीवन की धारणा खोखली और रीढ-हीन है। लोक जीवन की सम्पन्नता का यह तत्त्व पत जी ने मार्क्सवादी दर्शन से ग्रहण किया है। इस सम्पन्नता को प्राप्त करने

---

1 इस रक्त-काण्ड के पीछे
थे मध्य युगो के खँडहर
उच्छिष्ट जीर्ण सस्कृति के
स्वार्थो के कट्टर पत्थर! —पृ० 122।

2 कैसे व्यक्त करूँ शब्दो के मन से
किस प्रकाश से आदोलित कवि-अन्तर
टूट रही भावी विद्युत्-पर्वत सी
फूट रहे क्षितिजो से स्वर्गिक निर्भर! —पृ० 30।

का सबसे बड़ा साधन है लोक-श्रम या सामूहिक श्रम[1] जिसे 'लोकायतन' में स्थान-स्थान पर पंत जी रेखांकित करते चले हैं। पंत जी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि नवीन मनुष्य वही है जो रचनात्मक श्रम में आस्था रखता है।[2] कृषि सामूहिक तो हो पर यत्र भी उसके विकसित वैज्ञानिक यन्त्र होने चाहिएँ।[3] कवि का अटल विश्वास है कि सामूहिक जीवन-रचना के द्वारा ही व्यक्ति का उद्धार सम्भव है। सारे देश के साथ व्यक्ति के हिताहित बँधे हैं।[4] इसीलिए पंत जी समग्र लोक-जीवन को ईश्वर का मूर्त पीठ तथा लोक-रचना-कर्म को भगवत् पूजा मानते हैं।[5] श्रम का महत्त्व स्थापित करने वाले, वर्गहीन समाज की

---

1. लोक-श्रम ही सपद्-सिद्धान्त
   जगाता कर्म-प्रेरणा सिद्धि
   धरा जन श्रम जल से अभिषिक्त
   उगलती रज से स्वर्ण-समृद्धि! —पृ० 208।

   o o o o

   अमिट अभीप्सा तुम श्रम-रत भू-मन की
   जिसकी स्वर्गिम पूर्ति लोक-रूपान्तर —पृ० 13।

2. जो नहीं मनुज प्रेमी रचना श्रम साधक
   वह नया मनुष्य नहीं, विकास-पथ-बाधक! —पृ० 243।

3. वैज्ञानिक यन्त्रों से हो
   भारत में कृषि-फल अर्जन
   सामूहिक कृषि में युगपत्
   वर्धित हो सस्य हरित धन! —पृ० 174।

4. सामूहिक जीवन-रचना कर
   तर सकते दुख-सागर जनगण
   मुक्त देश के संग ही होंगे
   गाँव मुक्त, गाँवों के संग जन
   साथ कटेंगे सबके बंधन
   होंगे संग ही कष्ट निवारण! —पृ० 50।

5. वैयक्तिक मुक्ति निरर्थक
   वह आंशिक आत्मिक स्तर पर
   सामूहिक गरिमा में ही
   मुक्ति जग जीवन ईश्वर

(शेष अगले पृष्ठ पर)

प्रतिष्ठा करने वाले तथा भावी लोक-जीवन की मशाल वहन करने वाले साम्य-वादी देश रूस[1] के प्रति कवि के मन मे सम्मान का भाव है।

बाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता न केवल तन और मन की दृष्टि से ही उपयोगी है, अपितु आत्मा की दृष्टि से भी उपादेय है क्योकि तब कलाओ की आराधना एव सास्कृतिक आयोजनो के लिए भी मनुष्य के पास पर्याप्त समय बच जाता है।[2]

हरि ने सुन्दरपुर ग्राम मे 'लोकायन' नाम से जिस लोक-शिविर की स्थापना की है और जिसे आगे चल कर 'लोकायतन' नाम दे दिया गया है, वहाँ

(पिछले पृष्ठ का शेष)

आनन्द मधुरिमा मगल
भू-मानस शतदल मे भर
आलोक प्रीति शोभा का
भू-स्वर्ग रचे जन सुखकर।

—पृ० 180।

1 विश्व की एक महत्तम शक्ति
सोवियत भू का यह जन राज
अमित सामूहिक बल का सिन्धु
धरा पर वर्ग-विहीन समाज।
लोक-जीवन की भावी ज्योति
असशय आज रूस के पास
स्वस्थ स्पर्धा से हो चरितार्थ
साम्य का भू पर भव्य विकास।

—पृ० 401-402।

2. यहाँ सह कृषि से श्यामल खेत
प्ररोहित शत मुख जन-भू शक्ति
वृहत् सह उद्योगो का लाभ
भोगते सम वितरण प्रिय व्यक्ति
सभी को स्वर्णिम अवसर प्राप्त
करें निज क्षमता का उपयोग
स्थूल श्रम अवधि यहाँ अब स्वल्प
कला सस्कृति साधक हो लोग।

—पृ० 399।

भी लोक-श्रम को, शैक्षणिक कार्यक्रम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग मान कर प्रतिष्ठित किया गया है।[1]

आध्यात्मिक उन्नति या ऊर्ध्व संचरण

नवचेतना का दूसरा तत्त्व है आध्यात्मिक उन्नति या ऊर्ध्व संचरण। भौतिक सम्पन्नता मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए अनिवार्य तत्त्व है पर वह सब कुछ नहीं है।[2] मनुष्य केवल तन और मन नहीं है, वह आत्मा भी है। भूतवाद तन और मन की भूख मिटा सकता है पर आत्मा की तीसरी भूख तो अध्यात्म द्वारा ही शान्त होती है।[3] ऊर्ध्व दृष्टि के अभाव मे मनुष्य निरा पशु रह जाता है और सम्पूर्ण भौतिक समृद्धि अन्तत विश्व-युद्धो का आयोजन करने लगती है। सारा जीवन एक विस्तीर्ण मरुस्थल-सा प्रतीत होने लगता है जिसमे 'चिति' की कोई धारा नही बहती। अध्यात्म का स्पर्श पाकर भौतिक

---

1 प्रथम शिक्षा, हरि कहता, बाह्य
कर्म पर हो निष्ठा विश्वास
कर्म का प्राण-स्पर्श पा गूढ
जनो का सम्भव मनोविकास ! —पृ० 257।

० ० ० ०

नित्य कर्मों से हो द्रुत मुक्त
गाँव मे करते छात्र प्रवेश
लोक-श्रम पहिले तब निज शुद्धि
यही था हरि का ध्रुव आदेश !

—पृ० 266।

2 बाह्य वैभव संचय ही मात्र
रोग का होता यदि उपचार
न होते सबसे अधिक क्षुधार्त
धरा के धनपति जन-भू भार !

—पृ० 258।

3 मानव के केवल तन मन
भौतिक युग मे संवर्द्धित
सक्रिय हो मानव आत्मा
हृद दीप स्वर्ग लौ दीपित
सर्वांग समन्वित निखरे
नव मनुजत्व अनिन्दित ! —पृ० 179।

सम्पन्नता का सुन्दर जीवन, सुन्दरतर हो उठता है।[1] युग का अश्वत्थ 'ऊर्ध्व-मूलमध. शाखम्' होकर जैसे अन्तश्चैतन्य का प्रतीक बना कहता है कि 'चित्' का रस खीच कर नीचे के भू-जीवन का नवीन रूपान्तर किया जा सकता है।[2]

राजनयिक-आर्थिक स्पर्द्धाओ को समाप्त करने के लिये मानसिक क्षितिजो का विस्तार अपेक्षित है[3] जो मात्र आध्यात्मिक उन्नयन ही से सभव है। ऐसा हो जाने पर मनुष्य, यत्रो का दास नही रह जायेगा अपितु स्वामी हो सकेगा और भौतिक मद के अश्वो का वल्गा-सचालन कर सकेगा। वैज्ञानिक अनुसधानो की उपलब्धियाँ तब विध्वस के लिये नही, निर्माण के लिये प्रयुक्त की जा सकेगी और मानव-जीवन नवीन वैभव से पूर्ण हो सकेगा।[4] मनुष्य की पाशविक वृत्तियो का जब तक क्षय नही होगा और उसके अन्तर्मन मे सुप्त मानवी एवम् अतिमानवी प्रवृत्तियाँ जब तक जाग्रत न होगी तब तक विश्व पर युद्धो की घटा छाई रहेगी। अत आवश्यकता उन अतिमानवीय प्रवृत्तियो के ऊर्ध्व शिखरो[5] की ओर जाने की है, मन से 'अधिमन' तथा अधिमन से

---

1. आध्यात्मिक सयोजन मे बँधकर
   जन-भू जीवन होगा सुन्दरतर
   आत्मिक समता, लोक-एकता का
   सत्य महत्तर रे अन्तर्निर्भर ! —पृ० 556।
2. ऊर्ध्व मूल हो अध शाख युग-तरु
   अतर्मानस का प्रतीक बनकर
   कहता हो ज्यो खीच ऊर्ध्व चित् रस
   सम्भव भू-जीवन का रूपान्तर ! —पृ० 571।
3. राजनयिक आर्थिक स्पर्धाएँ भी
   सामाजिक चेतस् मे होगी लय !
   विस्तृत हो जो भू जीवन-मानस
   भेद भाव भय, राग-द्वेष हो क्षय ! —पृ० 576।
4. विज्ञान ध्वस के बदले
   युग-रचना मे हो योजित
   हो मानवीय निष्ठुर भू
   नव प्रकृति-विभव सपोषित ! —पृ० 173।
5. जन रक्तपात, बर्बर रण
   होगे तब तक न समापन
   जब तक विकास-शिखरों पर
   भू-मन न करेगा रोहण ! —पृ० 178।

वहिर्जग सत्य है या अन्तर्जग और कि पहले लोकोन्नति की जाय या अन्त शुद्धि, वशी उत्तर देता है :

साधक, चितक का जग भीतर
हरि, विषयी, कर्मी का बाहर
इससे ऊँची वह अन्त. स्थिति
जो आस्था रख कर ईश्वर पर
बाहर-भीतर मे समत्व भर
रहती शुभ मे निरत निरतर ।[1]

एक स्थान पर तो कवि ने भौतिक तथा आध्यात्मिक पक्षो के बीच वही सम्बन्ध स्थापित किया है जो वाणी तथा अर्थ के बीच है ।[2] मनुष्य की द्वन्द्व-पीडित बुद्धि अकारण दोनो मे भेद करके चलती है । हमारी आज की भौतिक स्थिति वस्तुत हमारे बीते हुए कल के आध्यात्मिक आदर्शों या मूल्यो का प्रतिफलन मात्र है ।

अन्य युग्मों मे समन्वय-स्थापना

कवि ने जिस प्रकार भूत और अध्यात्म के द्वन्द्व का समाधान किया है, उसी प्रकार जड-चेतन,[3] आदर्श-यथार्थ,[4] प्रवृत्ति-निवृत्ति[5] आदि युग्मो मे भी समन्वय की स्थापना की है । अरविन्द-दर्शन, या कहना चाहिये भारतीय वेदान्त

---

1. लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 57-58
2. आध्यात्मिक भौतिक अविरत
   वागर्थ तुल्य सयोजित । —पृ० 124 ।
3. मानना जड़-चेतन को भिन्न
   भेद-मति का भ्रम, द्वन्द्वाभास । —पृ० 399 ।
4. विरोधी यदि आदर्श यथार्थ
   व्यर्थ दोनो तव अशुभ अपूर्ण
   उभय को विकसित होना आज
   मध्य अवरोधो को कर चूर्ण । —पृ० 384 ।
5. पीत विरति सित रति के पुलिनो मे
   वहता अक्षय चित् जीवन-सागर
   तिरता कवि रस मे सर्जन-प्रेरित
   आत्मिक सुख से भर इन्द्रिय-गागर । —पृ० 563 ।

से प्रभावित होने के कारण पत जी 'जड-भू से चिन्मय विभु तक'[1] एक ही सत्ता के दर्शन करते है। अत. अन्तर्विरोध या द्वन्द्व का प्रश्न ही नही उठता।

अरविन्द-दर्शन का व्यापक प्रभाव

वस्तुत उपरिवर्णित नवचेतना के द्वितीय तथा तृतीय तत्त्व, नवचेतना के सास्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत आते है और इन दोनो तत्त्वो के स्पप्ट निरूपण की दृष्टि से पत जी पर अरविन्द-दर्शन का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। इस कथन का यह आशय लेना भ्रामक होगा कि सास्कृतिक चेतना के ये तत्त्व, पूर्व-नवचेतना काव्य मे वीज रूप से भी उपलब्ध नही थे। पीछे हम देख आये है कि पूर्ववर्ती काव्य, विशेषत. 'ज्योत्स्ना' मे ये बीज प्रचुर परिमाण मे बिखरे हुए है और उनमे से कुछ तो पर्याप्त रूप से स्फुट-अकुरित भी है। हम तनिक विस्तार मे जाकर देखना चाहेगे कि पत जी के 'लोकायतन' पर अरविन्द-दर्शन का कितना-कुछ प्रभाव है।

पाडिचेरी आश्रम मे जाकर द्रप्टा एवम् मनीषी कवि श्री अरविन्द के दर्शन करने पर 'लोकायतन' काव्य के नायक वशी पर उस दिव्य व्यक्तित्व का जो प्रभाव पडा,[2] वह वस्तुत पत जी पर पडा प्रभाव ही है। पत जी पर अरविन्द के न केवल व्यक्तित्व का, अपितु विकासवादी दर्शन का भी प्रभाव पडा। ब्रह्म, ब्रह्म की चिच्छक्ति, आत्मा तथा जगत् के सम्बन्ध मे पत जी के वही विचार है, जो अरविन्द के है।

परब्रह्म का स्वरूप

परब्रह्म सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वगत और शाश्वत है तथा वह एक और अखडित होकर भी नाना रूपो मे व्यक्त होता है।[3] वह स्वेच्छा से 'एकोऽहम्

---

1 लोकायतन, प्रथम सं०, पृ० 180।

2 शुभ्र पद्मासन पर ध्यानस्थ
स्वर्ण प्रतिभा ने अपलक देख
जगा कवि-तन्त्री मे झकार
खीच दी सम्मुख भावी रेख! —पृ० 418।

3. प्रिये, दाशरथि वैदेही ही क्या हम
परब्रह्म मैं, पराशक्ति तुम सुविदित
सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वगत, शाश्वत
वहुरूपो मे भी हम एक अखडित! —पृ० 17।

वहुस्याम्' के आधार पर नाना चित्-अचित् स्थितियो मे प्रकट होता है ।[1] समुद्र से उत्पन्न होने वाली लहरो ही के समान ब्रह्म से उद्‌भूत होते अनेक दीप्त ग्रह-पिंडो एवम् जीव-योनियो का दृश्य ऋषि वाल्मीकि को दिखाई पड़ता है ।[2] वह सर्वव्यापी[3] है पर वुद्धि से अतिशय[4] भी है । उसे यदि जाना जा सकता है तो तदाकारता या तादात्म्य (आइडेंटिटी) से ही ।[5] कही-कही कवि ने प्राचीन ऋषियो की आर्षवाणी यथा 'पूर्णमद पूर्णमिदम् पूर्णात्पूर्णमुदच्यते,' 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' और 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के क्रमश अनुवाद करके रख दिये है ।[6] पर वहाँ भी दर्शन की शुष्कता के स्थान पर काव्य की रमणीयता वनी हुई है ।

ब्रह्म की परा शक्ति

ब्रह्म की सर्जना शक्ति, जिसे परा शक्ति भी कहा जाता है स्वय ब्रह्म ही के समान निखिल भुवन मे व्याप्त है ।[7] वह जगद्धात्री है और परम कलामयी

---

1 मै स्वत. एक से वहु वन कर
इन्द्रिय मासल भू-जीवन मे
रस मूर्त्त सत्य, शिव से सुन्दर ! —पृ० 628 ।

2. देखा ऋषि ने तप्त कनक गोलक
हरित शक्ति के अमित सिन्धु से परिवृत,
रजत तिमिर से निखर रहे शत रवि-शशि
सुर-किन्नर मुनि नर मृग खग कृमि अगणित ! —पृ० 29 ।

3 सर्वत्र ब्रह्म जग मे व्यापक
वह सचराचरमय जड चेतन ! —पृ० 615 ।

4 वह सर्व विश्व का सार वुद्धि से अतिशय ! —पृ० 229 ।

5 मन तदाकार वन करता जिसके दर्शन
शब्दो मे अँटता उसका गुह्य न वर्णन ! —पृ० 230 ।

6 (क) सुनहले गगन मे गूँज रहे अश्रुत स्वर
वह पूर्ण, पूर्ण यह, पूर्ण पूर्ण से लेकर
अवशेष पूर्ण ही . पूर्ण पूर्ण का आकर
ईश्वर अखड, दीपो का दीपक भास्वर ! —पृ० 236 ।

(ख) वह इन्द्रिय प्राण मनोजव से अतिगति मय
वह दूर निकट, वाहर भीतर, गति स्थिति लय ! —वही पृष्ठ ।

(ग) अणु से अणुतर महतो से अधिक महत्तर —पृ० 239 ।

7. परा शक्ति तुम निखिल भुवन मे व्यापक ! —पृ० 28 ।

है । उसी की कला से अणु के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माड निहित रहता है ।[1] काल-प्रवाह तो उसके कधो से झूलता हुआ आँचल है और विकास का क्रम उसका लीला-विलास है ।[2]

आत्मा

आत्मा, जिसे पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी तक जान नही पाया है[3] और जो मनुष्य को घट-मनस इकाई (बॉडी-माइण्ड यूनिट) समझता आया है, वस्तुत ईश्वर ही का अश है और इसीलिए वह उन्ही गुणो से युक्त है जो ईश्वर मे विद्यमान है ।[4] वह शरीर-रूपी रथ का सचालन करने वाला सारथी है ।[5] उसका अँगूठे के बराबर निर्धूम ज्योति का सा स्वरूप है और वह देह, प्राण तथा मन को शासित रखती है ।[6]

---

1 रहस कलामयि महाशक्ति जग धात्री
अणु मे जो करती अनत भव धारण । —पृ० 24 ।

2 आदि शक्ति अशो से स्वर्णाचल सा
झरता काल-प्रवाह अकूल तरगित
धूप छाँह सूत्रो मे मानव-जग का
क्रम-विकास लीला-विलास मे गुम्फित । —पृ० 14 ।

3 सत्य ही की रे सत्ता एक
वही चर-अचरो का सस्थान
मनुज निश्चय ईश्वर का अश
भले जाने न मनोविज्ञान । —पृ० 422 ।

4 आनद सूर्य रे भीतर स्वय प्रकाशित
मगलमय शाश्वत एकाकी आत्मस्थित
अनुपम अनत शोभा समुद्र अतरगित
अगणित स्वर्गो मे सर्जित, एक अखडित । —पृ० 225 ।

5 यह आत्मा अमर रथी, नर तन जीवन-रथ
सारथि सद्‌बुद्धि, मनस प्रग्रह भू-असि-पथ । —पृ० 239 ।

6. अगुष्ठ मात्र, निर्धूम ज्योतिवत् वह स्थित
उस शुभ्र पुरुष से देह प्राण मन शासित
वह अक्षर भूत भविष्य सद्य का ईश्वर
जिसके प्रकाश से दीपित बाहर भीतर । —वही पृ० ।

जगत्

चूंकि ब्रह्म सत्य है, अतः उससे उद्भूत जगत् भी सत्य है।[1] अरविन्द ने भी जगत् की सत्यता प्रतिपादित करने के लिए यही तर्क दिया है। ब्रह्म जगत् की रचना नही करता अपितु स्वय सृष्टि रूप मे व्यक्त होता है।[2] मायावादियो की भाँति अरविन्द ने जगत् को मिथ्या नही माना है अपितु ईश्वर की लीला-स्थली समझा है। पत जी ने भी ऐसी ही मान्यता प्रकट की है।[3]

चक्रसोपानमूलक विकासवाद

इन मान्यताओ के अतिरिक्त, पंत जी ने अरविन्द के चक्रसोपानमूलक विकासवाद के सिद्धान्त को ज्यो का त्यो अपना लिया है, पर अपनी कृतियो मे, विशेषत 'लोकायतन' मे, उन्होने अवरोहण पर अधिक ध्यान न देकर, आरोहण क्रम को ही अधिक महत्त्व दिया है। आरोहण-क्रम के वर्णन मे भी पत जी ने विशेष रस लिया है 'मानस' दशा से ऊपर की स्थितियो के चित्रण मे अर्थात् प्राणी को मिलने वाले दिव्य करुणा के स्पर्शो तथा अतिमानसिक स्थितियो की राशि-राशि भाव-सम्पदा के वर्णन मे।

इस विस्तीर्ण ब्रह्माड मे ऊपर से नीचे तक एक ही सृजन के सोपान फैले हुए है।[4] अवरोहण क्रम मे चित् सत्ता हर सोपान पर अधिकाधिक आवरित होती हुई अन्तत. जाड्यावस्था को प्राप्त होती है पर उस अवस्था मे भी चैतन्य का तिरोभाव नही हो जाता। वह सुप्तावस्था मे बना रहता है और

---

1 यदि ब्रह्म सत्य तो जग भी सत्य असशय
मिथ्या से मिल सकता न सत्य का परिचय!

—पृ० 231।

2. प्रभु सृष्टि न रचते, स्वय सृष्टि बन जाते
निज से ही निज मे अभिव्यक्ति वह पाते!

—पृ० 233।

3. मिथ्या न जगत, वह ईश्वर का घर आँगन!
क्षण के लघु पग धर करता शाश्वत विचरण!

—पृ० 234।

4 ऊपर ज्योति अरूप, अंध नीचे तम
रश्मि सेतु दिव मे शत अज हरि हर स्थित
जड़ से तृण, कृमि, खग, पशु, नर, सुर वर तक
छहरा दीप्त सृजन सोपान अपरिमित!

—पृ० 17।

आरोहण-क्रम मे क्रमश प्रकट होने लगता है। पर यह प्रकटीकरण ईश्वर की इच्छा के बिना नही हो सकता, वैसे ही जैसे पुष्टि-सम्प्रदाय मे हरि की पुष्टि प्राप्त होने पर ही जीव, मोक्ष की दिशा मे अग्रसर हो सकता है। पत जी भी, अरविन्द-दर्शन के आधार पर ऐसा ही विश्वास प्रकट करते है।[1]

विकास-क्रम मे पूर्ण ब्रह्म को हर सोपान पर पूर्ण ब्रह्म ही का अतिक्रमण करना होता है क्योकि सोपान-विशेष का अविकसित अथवा अल्पविकसित सत्य उसी का रूप होता है।[2] और चूँकि किसी भी सोपान पर वह अश रूप मे ही व्यक्त रहता है, अत. मनुष्य उसको आशिक रूप मे ही जान सकता है, पूर्ण रूप मे नही और यदि कोई उसे सर्वाश मे जानने का दावा करता है, तो वह उसे बिल्कुल नही जानता।[3]

विकास का क्रम अन्तर्विरोधो के द्वारा गतिशील होता है, अन्तर्विरोध, विकास की पद्धति है। वशी पहले तो आश्चर्यचकित रहता है कि क्यो माधो गुरु हर बार उसके सास्कृतिक मार्ग का रोडा बन जाता है पर जब उसे ज्ञान होता है कि चिति के जिस रूप का मै प्रतिनिधित्व करता हूँ, माधव उसी का विलोम रूप है[4] और कि युग जीवन को नवीन गति प्रदान करने ही की

---

1 जड मे चेतन ही स्वप्न-शयित अविनश्वर
जागेगा वह प्रभु की इच्छा सार्थक कर !

—पृ० 234।

2 व्यक्त सत्य का अश मात्र प्रति युग मे
बाह्य बोध मे स्वाभाविक किंचित् भ्रम
विश्व-सृजन की क्रम-विकास श्रेणी मे
पूर्ण पूर्ण को करता प्रति पग अतिक्रम !

—पृ० 21।

3 वह अविज्ञात पूर्णत. ज्ञात भर किंचित्
वह ज्ञात जिन्हे उनको न ज्ञात, यह सुविदित
वह चिद् विकास सोपान-अखण्ड अपरिमित
भू-जीवन मे होना शाश्वत को विकसित !

—पृ० 237।

4 धूम छँट गया युग कवि के मन का
वशी के ही थे विलोम माधव
जान सका जिनमे वह अपने को
साथ खड़े थे प्राक्तन नव मानव !

—पृ० 534।

दृष्टि से हम दोनों का अवतरण हुआ है, तो मायो के प्रति, जिनकी मृत्यु हो चुकती है, उसका मन श्रद्धा से भर आता है।

अभ्युत्थान सिद्धान्त

'लोकायतन' में अरविन्द के विकास-दर्शन के अभ्युत्थान-सिद्धान्त (प्रिंसिपल ऑव सोलिडेरिटी) की भी झलक मिलती है[1] जिसका आशय यह है कि दिव्य चेतना के प्रत्येक अवतरण या आरोहण के प्रत्येक सोपान पर न केवल ऊर्ध्वतम चेतना विकसित होती है, अपितु चेतना के सभी निम्नतर स्तरों में भी उत्क्रान्ति होती है। उदाहरण के लिए, मानव के अतिमानव स्तर पर पहुँचने की स्थिति में, उससे निम्नतर चेतनाओं अर्थात् प्राण और पुद्गल भी उत्क्रान्त हो जाते हैं, वैसे ही नहीं रह जाते, जैसे पहले थे। पर ऐसे स्थल 'लोकायतन' में अनेक नहीं हैं।

दिव्य करुणा के स्पर्श

वंशी को भगवत्प्रेरणा से भगवत्करुणा के प्रारम्भिक स्पर्श मिले[2] तो वह पता नहीं, कितने दिन आनन्द-सिन्धु में गोते खाता रहा और उसे नित्य नवीन अनुभूतियाँ होने लगीं जैसे उसका कायाकल्प हो गया हो। उसके चित्त में ज्योति का गवाक्ष खुल गया[3] जिसमें होकर उसे सत्य का नितान्त ही नव्य

---

1 मानव के सँग पशु-पक्षी जग भी
लगता नवचेतन सुषमा मण्डित
मूक वनस्पतियों का सुप्त भवन
गुह्य अभीप्सा से लगता प्रेरित
रंग गंध मधु पत्र पुष्प फल में
ऊर्ध्व प्राण आकांक्षा हो प्रहसित ! —पृ० 537।

2. स्पर्श मिलते वंशी को दीप्त
o o
रहा जाने कितने दिन मुग्ध
आत्म-मज्जित वह हर्ष निमग्न
प्रीति आनन्द-सिन्धु में दीप्त
डूबती स्मृति अन्तः संलग्न ! —पृ० 332

3. चित्त में कवि के ज्योति गवाक्ष
खुला रहता शोभा अनिमेष ! —पृ० 333।

रूप दिखाई पडा। अभी तक पृथ्वी पर जो चरम मूल्य और मान प्रचलित थे, आदर्शों के जो शिखर उन्नत-मस्तक थे वे जैसे ध्वस्त होकर समुद्र-फेन मे परिवर्तित हो गए थे और सिन्धु के रजत-प्रसारो पर जैसे नवीन चैतन्य का प्रभात उतर आया था।[1] व्योम के अनन्त नील विस्तार मे फैली दीप्त ब्रह्माड रचना मे कवि को दिव्य उपस्थिति की अनुभूति हुई।[2] यो प्रसाद जी ने भी 'कामायनी' मे दिव्य सत्ता की इस अनुभूति का चित्रण किया है पर गहनता मे, गरिमा मे, भव्यता मे वह पत जी की अनुभूति तक नही पहुँच सके है।[3] ऐसा भी नही है कि ऐसे स्थल 'लोकायतन' मे दो ही चार हो, 'उत्तर स्वप्न' का पूरा सर्ग इन दिव्यानुभूतियो से भरा पडा है और पढते-पढते पाठक आत्म-विस्मृत हो जाता है।

---

1 पार कर देश-काल की दृष्टि
जगा विस्मित मानस मे चेत
धरा के थे जो कीर्तिस्तभ
मात्र वे सिन्धु-फेन दिक् श्वेत
विगत आदर्शों के शुचि शृ ग
हुए हो विधि गति से भू-सात्
प्रसारो पर रुपहले अलघ्य
उदित हो नवचैतन्य प्रभात !

—पृ० 364।

2 राशि ग्रह उपग्रह उडु नक्षत्र
शून्य मे करते मौनालाप
रचा हो महाशक्ति ने चारु
मोतियो से कच नील कलाप
टूटते तारे ज्योति किरीट
खिसकते हो स्तन से मणि-हार
व्याप्त थी महाव्योम मे दिव्य
उपस्थिति निराकार साकार !

—पृ० 369।

3 महानील इस परम व्योम मे
अन्तरिक्ष मे ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते-से सन्धान !

—दगम स०, पृ० 26।

अध्यात्म-दृष्टि उद्घाटित हो जाने से वशी, जो पहले मात्र कवि था, अब द्रष्टा हो जाता है, कविर्मनीषी हो जाता है। उसे जड मे चेतन्य के दर्शन होने लगते हैं[1] और ब्रह्माड का सचालन करने वाले आन्तरिक विधान का ज्ञान प्राप्त कर वह आश्चर्य-चकित और हतमूढ बना रहता है।[2] इतना ही नही, ऊपर के द्युलोक मे, जो अन्तरिक्ष के पार बसा है,कवि वायवी शरीर वाले स्वर्ग-दूतो को प्रकाश के पखो पर विहार करते भी देखता है।[3]

लोकायतन के श्रेष्ठ काव्यात्मक प्रसंग

जिन आध्यात्मिक अनुभूतियो के वर्णनो की चर्चा यहाँ चल रही है, वे 'लोकायतन' के श्रेष्ठ काव्यात्मक अश हैं, जिनका जोड हिन्दी के आधुनिक कवियो मे, किसी का भी काव्य प्रस्तुत नही करता । यहाँ पहुँच कर पाठक समझ पाता है कि कवि के लिए 'द्रष्टा' होना कितना आवश्यक है। इसमे

---

1 धूलि से भर कर अपनी मूठ
सोचता युग-कवि हर्षित प्राण
इसी रज मे सोया चैतन्य
जगाता जिसको जड विज्ञान !

—पृ० 379।

2. गुह्य निश्चेतन से नभ-व्याप्त
दिव्य अतिचेतन तक सोपान
योग सक्रिय था, दिखा निगूढ
विश्व का अन्तर्दीप्त विधान !
कोटि सूर्यो सा हो जाज्वल्य
ऊर्ध्व चिद् विद्युल्लोक विशाल
रहा आश्चर्य चकित हत वाक्
ज्योति-तन्मय कवि-उर कुछ काल !

—पृ० 417।

3 अर्धगोचर छायाकृति चारु
विचरती नभ पथ मे चुपचाप
दिखा ऊपर स्वर्णिम द्यौ लोक
निर्निमिप अन्तरिक्ष के पार
प्रभा पखो पर उड स्वर्दूत
स्वप्न वपु करते समुद विहार !

—पृ० 366

सदेह नही कि इन वर्णनो मे विभोर होने के लिए पाठक की कुछ आध्यात्मिक पृष्ठभूमि होनी आवश्यक है। तभी वह पत जी के नवचेतना-काव्य मे रस-मग्न हो सकता है। अग्रेजी मे जो कहावत है कि मिल्टन को मिल्टन ही समझ सकता है, वह कुछ-कुछ पत जी के सम्बन्ध मे भी सत्य है। वे अपने पाठक से अपेक्षा रखते है कि वह अध्यात्म-ग्रहण की कुछ तो क्षमता लेकर आये। उसके बाद तो वे अपने नवचेतना काव्य मे उसे इतना रस-मग्न कर देगे कि वह उनके पल्लव-ग्राम्या-काल के काव्य को पत जी का शिखर-काव्य नही कहेगा।

मध्यकालीन सतो को परम तत्त्व की अनुभूति नाना रूपो मे होती थी, किसी को प्रकाश-रूप मे तो किसी को गन्ध रूप मे, किसी को सुमधुर सगीत के रूप मे तो किसी को कोमल स्पर्श-रूप मे। पत जी को यह अनुभूति, आलोक[1] और सुरभि[2] रूप मे अर्थात् चक्षु और घ्राण की सूक्ष्मेन्द्रियो के माध्यम से होती है पर हर स्थिति मे वह आनन्द-प्रदायिनी होती है। वशी, जो पत जी का ही प्रतिरूप है, घ्राण की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय से ही करुणा-स्पर्श अधिक प्राप्त करता है। उसके अन्तनेत्रो के सम्मुख एक के बाद एक प्रकाश के तोरण खुलते जाते है और अनुक्षण झरते हुए माणिक्य-प्रकाश मे उसकी आत्मा नहा जाती है।[3]

---

1 अनिमेष दृष्टि के सम्मुख झरने नि.स्वर
किरणो के फालसई प्रकाश के निर्झर
आती स्वर्दूती क्षितिज पार से उडकर
उर मे आनन्द, मधुरिमा श्री शोभा भर ! —पृ० 216।

o o

स्वप्नो को अपलक बरस रही शोभा-झर
आनन्द-तडित-हत सुलग उठा मन का घर ! —पृ० 215।

2 रहस-सुरभि जाने किन सुमनो की
अन्तर भुवनो से उडकर आती
अमृत चेतना के रस-स्पर्शो से
प्राणो को आलोकित कर जाती ! —पृ० 431।

3 मैं देख रहा हूँ शुभ्र ज्योति दिग् तोरण
अन्तर के स्वर्ण-कपाट खुल रहे अनुक्षण
लो, बरस रहा माणिक-प्रकाश का प्लावन
आनन्द मधुरिमा शोभा मज्जित भू-मन !

—पृ० 227।

आरोहण मे अतिमानस के सोपान पर पहुँचने के बाद न केवल मानस स्वय को उच्चावस्था मे पाता है, अपितु चेतना के ऊर्ध्व शिखरो से भी एक दिव्य और अलौकिक शान्ति, शुभ्र पख फैलाये राजहस की भाँति भू-मानस पर उतरती है ।[1]

'लोकायतन' का 'उत्तर स्वप्न' सर्ग इस प्रकार के जीवत बिम्बात्मक दृश्यो की परिदर्शनशाला है । पर इसका यह आशय नही कि शेप सर्ग अन्य नव-चेतनात्मक प्रवृत्तियो के इतिवृत्तात्मक शुष्कागार है । वस्तुत' पत जी की रागात्मकता एवम् बिम्बवती कल्पना का स्पर्श पाकर दर्शन के शुष्कातिशुष्क मरुस्थलो मे भी हरीतिमा की आभा-शोभा छिटक जाती है । उनके प्रत्येक वर्णन के पीछे अनुभूति की रस-धारा है । यही कारण है कि मात्र सिद्धान्त-कथन, उनके नवचेतना-काव्य मे, ढूँढने पर कही-कही अपवाद-रूप मे भले ही मिल जाय,[2] सामान्यतया देखने को नही मिलता ।

अरविन्द-दर्शन के प्रभाव की मात्रा

इससे पूर्व कि पत जी के नवचेतना-काव्य के चौथे तत्त्व पर जाएँ, यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि पूर्व-लोकायतन कृतियो की भाँति 'लोकायतन' काव्य पर भी अरविन्द-दर्शन का भारी प्रभाव है क्योकि इस बीच जिन आध्यात्मिक-सास्कृतिक प्रवृत्तियो की चर्चा हुई है, उन सब की प्रेरणा पंत जी को अरविन्द-दर्शन से ही प्राप्त हुई है । तथापि यह आश्चर्य की बात है कि विकास के अवरोहण-क्रम तथा सर्वाग योग का इस महाकाव्य मे कही वर्णन नही आया है । यह अपने आप मे इस बात का प्रमाण है कि कवि ने अरविन्द-दर्शन को भी यथावत्, समग्र रूप मे ग्रहण नही किया है । जान पड़ता है, कवि की अपनी भी कोई दृष्टि है, निज का कोई 'विजन' है जिसके

---

1 शुचि राज हस सी श्रेयस् के फैला पर
नि.स्वर गति शान्ति उतरती भू-मानस पर
नि शब्द हिमाद्रि शिखर-सी वह अत स्थित
क्षीरोदधि सी सित निस्तरग, दिग् विस्तृत !

—पृ० 218 ।

2 जिसमे, जिससे धारित जग
स्रष्टा ससृति मे मूर्त्तित
वह परे प्रकृति से, स्वाश्रित
वह स्वभू, सर्व जिसमे स्थित !

—पृ० 153 ।

अनुकूल होने पर ही पत जी जहाँ-तहाँ से—मार्क्सवाद से, गाँधीवाद से, अरविन्द-वाद से तथा अध्ययन-मनन के अपने विशाल क्षेत्र से उपयोगी उपकरण आकलित करते है।

राग-भावना का परिष्कार

सास्कृतिक पक्ष ही के अन्तर्गत आता है 'लोकायतन' मे व्यक्त नवचेतना का चतुर्थ तत्त्व —राग-भावना का परिष्कार। राग-शुद्धि विश्व-मगल का मूल[1] और मानवता के मन्दिर की दीपशिखा[2] है। उसके बिना मनुष्य, मनुष्य नही है[3] और पृथ्वी नरक-तुल्य है।[4] इसीलिए सीता, नर-नारी के मधुर रस से आपूर्ण घट महाकवि को यह कह कर सौपती है कि देखो, कही ऐसा न हो कि इसका अमृत मानवता के लिए विष बन जाय।[5]

पर अभी तक भारतीय जन-मानस ने 'राग' को देह ही का मूल्य बना रखा है। पर-दृष्टि, स्पर्श, इगित और वचन से भी उसके शरीर को कलक लग जाता है। सुन्दरपुर ग्राम के 'मधु' ने कल पत्नी को केवल इसलिए पीटा और रात भर के लिए घर से बाहर कर दिया कि वह मेले मे 'रामलला' को देवर कह कर उसके साथ हँस-बोल रही थी।[6] 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' का उदार

---

1 'लोकायतन', प्रथम स०, पृ० 461।

2 वही, पृ० 61।

3 मानव बन सकता न पूर्ण मानव
जब तक हो रस-शुद्ध न भू-प्रागण!

—पृ० 501।

4 न हो जो राग-भावना शुद्धि
रहेगी जन-भू नरक जघन्य!

—पृ० 309।

5 तुम्हे सौपती लो यह अमृत कनक-घट
नर-नारी के रस-मगल से पूरित
प्रकृति-पुरुष की शुभ्र प्रीति का पावक
सावधान, बन जाय न विप जन-भू हित!

—पृ० 34।

6 मधु ने कल पत्नी को पीटा
उसे रात भर रख घर बाहर
मले मे हँस बोल रही थी
रामलला को कह वह देवर!

—पृ० 66।

सिद्धान्त-वाक्य कहीं धर्मशास्त्र की पोथियों के बीच दब गया है और सद्य-विवाहिता वधू, सदा-सदा के लिए विधवा होकर कपड़ों की गठरी के समान घर के एक कोने में लुढ़की रहती है।[1] ये मध्यकालीन सकीर्ण राग-मूल्य नवमानवता के इस युग में 'अजायबघर में रखे फॉसिल्स' से अधिक मूल्य नहीं रखते।

'लोकायतन' का कवि राग-भावना को देह-मन के बोध से ऊपर उठा कर, समदिक् क्षेत्र में उसका विस्तार देखने का आकांक्षी है। प्रकृति-जगत् में जिस प्रकार अपने वृन्त में बँधा रहने वाला पुष्प, अपनी सुरभि का समदिक् प्रसार करता है, उसी प्रकार अपने परिवार एवम् कुल-शील में मर्यादित नारी भी आत्मिक उपभोग के लिए अपने सौन्दर्य का वितरण कर सकती है।[2] क्यों न नर-नारी निर्बाध रूप से मिलें और परस्पर के राग-सौरव्य तथा हाव-भाव का रस लूटे।[3]

हरि का सांस्कृतिक केन्द्र 'लोकायतन' राग-भावना के परिष्कार की दिशा में प्रवृत्त होता है और विधवाओं के लिए केन्द्र में 'करुणा-कक्ष' नाम का एक विभाग खोला जाता है जहाँ लोक-श्रम में निरन्तर रत रहने वाली वैधव्य-पीड़ित स्त्रियों के मन में फिर से रस सचरित होने लगता है और सुरुचिपूर्वक श्रृंगार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं रह जाती।[4]

---

1. लत्ते की गठरी-सी लुढ़की
   रहती सूने गृह-कोने पर
   ठूँठी पतझर की टहनी-सी
   जिसे न भेंटेगा कुसुमाकर ! —पृ० 66।
2. क्यों न देह से ऊपर उर का
   स्नेह-सचरण हो जन विस्तृत
   बँधा नाल से फूल, धरा में
   करता निज उर-सौरभ वितरित ! —पृ० 67।
3. युवक-युवती मिलते निर्बाध
   o o
   कोटि रति काम मुग्ध चरितार्थ
   हाव-भावों की मचती लूट ! —पृ० 295।
4. हृदय में होता रस-सचार
   एक अब भू-मानव-परिवार
   धरा-शोभा उनका प्रिय वेश
   सुरुचि से करतीं वे श्रृंगार ! —पृष्ठ 300।

श्रम के अतिरिक्त ललित कलाओ के आराधन द्वारा भी देह-मन पर सयम प्राप्त किया जा सकता है और केन्द्र के छात्र-छात्रा ऐसा करने मे सफल हो जाने के कारण मुक्त भाव से सौन्दर्य के ऐश्वर्य का भोग करते है[1] । आगे चलकर 'सयुक्ता' के तत्त्वावधान मे जब 'लोकायन' की 'लोकायतन' सज्ञा हो जाती है, केन्द्र के छात्र-छात्राओ के मध्य आत्मिक राग के सम्बन्ध स्थापित हो जाते है। 'सुदर' तथा 'आस्था' देह-बोध से ऊपर उठकर नवमानवता के सम्बन्धो मे बँध जाते है और बाँधने वाली रज्जु होती है परस्पर की श्रद्धा[2] । इसी प्रकार 'अजित' 'ज्योत्स्ना' की पारदर्शी देह, चम्पक वर्ण और चदन-गध से प्रेरित हो अपना वासना-मुक्त, निर्मल प्रेम उसके प्रति समर्पित कर देता है[3] ।

अतिमानसिक स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद तो केन्द्र की कुजवीथियो मे आलिगन-परिरभण आदि के अनेक दृश्य देखने को मिल जाते है जहाँ युवा युग्म कोयल के उन्मादक सगीत से प्रेरित हो अपनी मनोग्र थियाँ खोलते तथा

---

1 कलात्मक नित सयम कर प्राप्त
मुक्त फिरते मिल छात्रा-छात्र
भोगते भाव-स्वर्ग ऐश्वर्य
चेतना के सस्कृत रस-पात्र ! —पृष्ठ 280 ।

2 जाने कौन सुधा-स्रोतो को छू
देह लालसा हो जाती प्रशमित
काम-हृदय मे बन सगीत मधुर
मधु भावो मे हो उठता मुखरित
जाने कैसी प्रीति-पुरुष-स्त्री मे
नया हृदय कर रही सूक्ष्म सर्जित
बाँध युग्म को नव मानवता मे
श्रद्धा की कर स्वर्ण-रज्जु निर्मित ! —पृ० 465 ।

3 ओ विवसन अगो की प्रिय प्रतिमे
यह चदन-सौरभ का चम्पक तन
यौवन के मधु पावक मे निखरा
शुभ्र प्रीति का रस-प्रतप्त काचन !
ओ प्राणो के सुख की तन्मयते
आर-पार तुम दर्पण-सी उज्ज्वल,
अपने को कर तुम्हे प्रीति अर्पित
बन जाता मन पक-मुक्त निर्मल ! —पृ० 475 ।

राग-सम्बन्धी कुठाओं से मुक्त होते है ।[1] कहीं वे निर्वसन हो कर पुष्करिणी के निर्मल जल मे विहार करते है[2] तो कही हरी-भरी कुजो अथवा मजरित घाटियो मे आलिंगन-बद्ध हो लेटे रहते है[3] । पर प्रत्येक परिस्थिति मे वे प्राणों के मादक मधु से ही उन्मत्त रहते है और दैहिक-मानसिक वासना के कर्दम से बचे रहते है । इन वर्णनो मे फिर भाषा के गतिशील सौन्दर्य, कल्पना के पखो की उडान तथा भावना-प्रवाह के कारण श्रेष्ठ काव्यत्व का समावेश हो गया है । पर राग-भावना को किस प्रकार परिष्कृत किया जाय तथा परिष्कृत होने पर उसका क्या स्वरूप हो, इस सम्बन्ध मे पत जी का 'विजन' बहुत स्पष्ट और सुथरा नही प्रतीत होता क्योकि राग-भावना को देह-मन-बोध से ऊपर उठा देने पर उसकी व्यावहारिकता सदिग्ध हो जाती है । मनुष्य शायद ही कभी देह, मन और आत्मा की भिन्न-भिन्न इकाइयो मे विभक्त किया जा सके । वह देह-मन-आत्मा इकाई है और रहेगा ।

विराट् सांस्कृतिक समन्वय

'लोकायतन' काव्य मे व्यजित नवचेतना का पचम और अतिम तत्त्व है विराट् सास्कृतिक समन्वय । इस तत्त्व के अधिकाश घटक (कास्टिट्यूएट्स) कवि ने गाँधी-दर्शन के व्यावहारिक पक्ष से ग्रहण किये है । गाँधीवाद का

---

1. पुष्प-वीथियो मे एकात विचर
युवति-युवक करते पर्यालोचन
राग-ग्रंथियाँ खुलती मानस की
सुन वन मे उन्मुक्त पिकी कूजन । —पृ० 462 ।

2. वन-फूल नग्न शोभा देही
तिरते पुष्करिणी मे स्त्री-नर
वे पद्म-पत्रवत जल मे रह
रहते जल कर्दम से ऊपर । —पृ० 655 ।

3 जीवन-वसत के कुजो मे
मजरित घाटियो के भीतर
लेटे होते नव तरुणि-तरुण
श्री शोभा बाँहो मे बँध कर
रस-सुख विस्मृत रहते तन-मन
प्राणो की सौरभ पी मादन
वह यौन-गध से मुक्त प्रीति
अत. प्रतीत सुख थी पावन । —पृ० 656 ।

आर्थिक-राजनीतिक पक्ष वडा दुर्बल है और स्वयम् कवि इस सम्बन्ध मे निश्चित धारणा नही बना पाया है कि स्वराज्य की प्राप्ति गाँधी जी के अहिसात्मक आदोलन से हुई है या अन्य कारणो से[1]। तथापि लोक-जागरण की दृष्टि से गाँधी जी द्वारा चलाये गये आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम तथा आदोलन यथा विदेशी वस्त्रो का वहिष्कार, कुटीर-उद्योग द्वारा वस्त्र-निर्माण, नमक बनाने के लिये की गई दाडी यात्रा आदि भी कम महत्त्वपूर्ण नही। गाँधी की दाण्डी यात्रा ने शतियो से प्रसुप्त जनमानस को झकझोर दिया और राजनीतिक चेतना की लहर देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गई।[2]

गाँधीवाद का अहिंसा तत्त्व

गाँवीवाद का सास्कृतिक पक्ष बहुत सम्पन्न है और कवि ने मुक्त भाव से, अपनी नवचेतना को सर्वाग सम्पूर्ण बनाने की दृष्टि से, उसके अनेक सघटको का आकलन किया है। उनमे सवसे महत्त्वपूर्ण है अहिंसा। पत जी का विश्वास है कि हिंसा पर आधारित सस्कृति, और कुछ भी हो, मानवी सस्कृति नही हो

---

1. (क) स्वर्ग-खडवत् भारत-भू को
छोडा क्यो आग्लो ने परवश ?
कुटिल काल-गति, युग-भू स्थिति या
जग का मत, माथे का अपयश ?

—पृ० 114।

(ख) विजय अहिंसा की कहिये या
विश्व-युद्ध से घटित विपर्यय
चिदादर्श या जड यथार्थ का
आग्रह कहिये, युग का निर्णय !

—पृ० 111।

2 लवण उदधि मे, लवण अवनि मे
लवण गया था अवर मे भर
लवण वायु-पखो पर उडता
लवण छा गया था जन-मन पर,
स्वाभिमान सर्वस्व देश का
लवण-प्रेरणा का वन पर्वत
जड से चेतन शक्ति वन गया
राष्ट्र मुक्ति का वाहक शाश्वत !

—पृ० 91।

सकती[1]। तीसरे विश्व-युद्ध के कगार पर खड़ी हुई मानवता की रक्षा यदि हो सकती है तो अहिंसा और सत्य ही के सिद्धान्तों से[2]। आणविक अस्त्रों के माध्यम से तो शान्ति की संभावना, दुष्कल्पना मात्र है[3]।

पंत जी, गाँधी जी की भाँति ही, साध्य की श्रेष्ठता के साथ-साथ साधन की श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं[4]। इसलिये 'लोकायतन' काव्य में 'सत्याग्रह' तथा 'हृदय-परिवर्तन' वाले सिद्धान्त के प्रति पर्याप्त आस्था देखने को मिलती है[5]। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी द्वारा बोया गया अहिंसा का पावक-बीज अभी तक धधक रहा है, तब अहिंसा की शक्ति में अविश्वास कैसे किया जा सकता है? अन्याय और घृणा से लड़ने के लिए गाँधी जो सांस्कृतिक साधन दे गये हैं, विश्व को उनकी वही सर्वोत्तम देन है[6]।

---

1. घृणा, घृणा से नहीं मरेगी
   बल-प्रयोग पशु-साधन निर्दय
   हिंसा पर निर्मित भू-संस्कृति
   मानवीय होगी न, मुझे भय! —पृ० 69।
2. रण-प्रांगण बनता जाता जग
   बलि होते अगणित निरीह जन
   सत्य अहिंसा ही कर सकते
   विश्व-ध्वंस से जन-संरक्षण! —पृ० 71।
3. अणुबल से अणुबल पर पाना जय
   विश्व-ध्वंस को देना आमंत्रण! —पृ० 594।
4. शुभ शांति वही जो भू पर
   तप त्याग शुद्धि से अर्जित! —पृ० 143।
5. (क) सत्याग्रह तृण-अस्त्र छोड़ते
   वह सशक्त साम्राज्यवाद पर
   आसमुद्र पृथ्वी को जिसने
   चूस लिया जन-गो को दुहकर! —पृ० 52।
   (ख) लोक-जुगुप्सा के बन लक्ष्य अवांछित
   रक्त तृष्ण नर-हिंसक होंगे पद नत,
   धरा घृणा से थूकेगी जब मुख पर
   दशमुख भी तब होंगे लज्जित श्री-हत! —पृ० 23।
6. सामूहिक अस्त्र अहिंसा
   स्वातंत्र्य-युद्ध की निश्चय
   सर्वोत्तम देन जगत को! —पृ० 138।

अस्पृश्यता एवम् साम्प्रदायिकता का निराकरण

सामाजिक-धार्मिक क्षेत्रो मे अस्पृश्यता तथा साम्प्रदायिकता से गाँधी जीवन भर जूझते रहे। वह कैसा धर्म है जो मनुष्य ही का रक्तपान करे और मनुष्य ही के ककालो पर अपना सिंहासन स्थापित करे? स्नेहमयी धरित्री जिसकी माता हो और अत्यन्त करुणावान् प्रभु जिसका पिता हो, वह मानव सम्पूर्ण पृथ्वी तल के मानवो को वान्धव मानकर प्रेम और शातिपूर्वक क्यो नही रह सकता? नोआखाली मे फैले-आसुरी साम्प्रदायिक दावानल को शात करने की गाँधी की प्रतिज्ञा की अनुगूँज 'लोकायतन' मे विद्यमान है।[1]

विश्व-संस्कृति की स्थापना

गाँधीवादी विचार-धारा से आगे बढ कर 'लोकायतन' का कवि विश्व-मानवता का स्वप्न देखता है। अब मनुष्य का हित इसी मे है कि वह जाति, वर्ण, प्रान्त, देश, धर्म, भाषा, सस्कृति आदि की सीमाओ से ऊपर उठ कर एक विश्व-मानवता तथा विश्व-सस्कृति का निर्माण करे। वह सस्कृति ऐसी हो जो विश्व-भर की मानव जाति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नयन कर सके और जीवन के विषाद-तम को हर सके।[2] 'लोकायतन' के सास्कृतिक केन्द्र ने इसी ध्येय को लेकर अपने कार्यक्रम का प्रारूप स्थिर किया है।[3] अनाम माता-पिता

---

1 आत्माहुति देकर भी मैं
रोकूँगा यह नर-हत्या
सब मनुज एक, हो सकता
यह सत्य कभी क्या मिथ्या! —पृ० 123।

2 विश्व को होना अब सयुक्त
मनुजता के हित उसे विशाल
योजनाएँ रचनी अनुरूप
कर्म-गरिमा मे जीवन ढाल
सास्कृतिक, जैविक भौतिक मूल्य
समन्वित कर, हर दैन्य विषाद
मूर्त कर आत्मा का ऐश्वर्य
सँजोना भू-जीवन प्रासाद! —पृ० 407

3 धर्म का दे सस्कृति को स्थान
हृदि विधि मे कर मुक्त प्रकाश
विश्व मानवता का आदर्श

(शेष अगले पृष्ठ पर)

द्वारा परित्यक्त शिशु के पालन-पोषण का भार केन्द्र अपने ऊपर लेता है और वशी की दृष्टि मे वह शिशु, मनुष्य की कृति होने के कारण परम पावन है और गोत्र उसका भगवत् गोत्र ही है ।[1]

शिक्षा की व्यावहारिकता

शिक्षा, सस्कृति का एक आवश्यक उपादान है और 'लोकायतन' के कवि की धारणा है कि वह आज की शिक्षा की भाँति, जीवन से विच्छिन्न नही होनी चाहिए । शिक्षा, जो व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी न हो सके, वह सेमर के फूल की भाँति छूछी और व्यर्थ है । बाह्य जीवन को जो दिशा और गति न दे सके, वह शिक्षा नही, चर्वित-चर्वण का रोग है ।[2] शिक्षा वही सार्थक है जो समदिक् जीवन को सम्पन्नता की दिशा मे गतिशील करने के साथ-साथ व्यक्ति मन को नवीन अन्तर्दृष्टि से युक्त कर दे ।[3] पर जैसा कि कबीर ने कहा है, शिक्षक स्वय ही यदि अन्धमति हो, अन्तर्दृष्टि-विहीन हो तो शिक्षार्थियो को भला वे क्या दृष्टि-दान कर सकते है ? शिष्यो को लिये-दिये वे निरर्थकता के कूप मे जा गिरते है ।[4] अन्तर्दृष्टि-विहीन शिक्षक, शत शत ग्रन्थो के ज्ञान को

(पिछले पृष्ठ का शेष)

लोक समता मे हो साकार
वहिर्जग हो ईश्वर का रूप
केन्द्र ने किया ध्येय स्वीकार ! —पृ० 262 ।

1. शिशु का मुख अवलोक सोचता कवि
कौन भला उससे जग मे पावन ?
जाति वश कुल गोत्र मनुज की कृति
भगवत् गोत्र सनातन नर-लक्षण ! —पृ० 491 ।

2 न वह पाडित्य, गलस्तन मात्र
नही जिसका जन-हित उपयोग
न जो युग को दे नव गति ज्योति
व्यर्थ वह चर्वित चर्वण रोग ! —पृ० 274 ।

3. खोल आत्मा का तोरण दीप्त
शुभ्र चिद् शोभा का पा स्पर्श
वहन कर सके धरा की ओर
मनुज अन्तर्जग का सित हर्ष —पृ० 276 ।

4. जाका गुर भी अधला चेला खरा निरध ।
अन्धे अन्धा ठेलिया दोन्यूं कूप पड़त ॥ कबीर-साखी

कठस्थ किये बूढे तोते है जो ज्ञान का केवल बोझा ढोते है।[1] कबीर के शब्दो मे वे 'पडित भया न कोय' की कोटि मे आते है।

लोकायतन मे शिक्षा का आदर्श रूप

'लोकायतन' मे शिक्षार्थी न केवल शारीरिक श्रम द्वारा भू-जीवन का मुख उज्ज्वल करते हैं अपितु वर्तमान के ज्वलत-सार्थक प्रश्नो पर विचार भी करते है।[2] वहाँ की सारी शिक्षा स्वभाषा हिन्दी के माध्यम से होती है। पर इसका यह आशय नही कि केन्द्र मे प्रान्तीय भाषाओ की उपेक्षा होती है। विपरीत इसके, केन्द्र तो विभिन्न प्रान्तो की भाषाओ का एक सगम-स्थल है जहाँ नाना स्वरो मे चहकने वाले पक्षी मिलकर प्रभात के सुमधुर सगीत की सृष्टि करते है।[3] कवि ने वर्तमान शिक्षको एवम् शिक्षा-शास्त्रियो के अग्रेजी-मोह के प्रति खेद प्रकट किया है और उसी को विकास-अवरोध का कारण माना है।[4] पश्चिम का अन्धानुकरण करने वालो के प्रति कवि ने करारा व्यग्य किया है।[5]

---

1 वृद्ध शुकवत् वे विद्या चचु
जिन्हे हो प्राप्त न अन्तर्दृष्टि
ग्रन्थ मत भारवाह, दिग्भ्रात
ज्ञान उनका ऊसर की वृष्टि। —पृ० 274।

2 खोजते कहाँ सभ्यता यान ?
मनुज जीवन का क्या आदर्श ?
कहाँ असफल समदिक् इतिहास
कहाँ अधिदर्शन का उत्कर्ष ? —पृ० 272।

3 वह प्राती की वाणी का
जन-मानस हो रस-सगम
सास्कृतिक दैन्य की खाई
फिर पटे युगो की दुर्गम! —पृ० 166।

4 आकाश वेल अग्रेजी
छाई जन-मन-पादप पर
जीवन-विकास-क्रम जिससे
कु ठित हो रहा निरन्तर! —पृ० वही।

5 पश्चिम के रँग मे रँगकर
हम भूल गये अपनापन
० ०

(शेष अगले पृष्ठ पर)

निष्कर्ष

इस प्रकार 'लोकायतन' नवीन मूल्यो मे सृजन द्वारा एक ऐसी मानवता के विकास का प्रयत्न करता है जो भौतिक-आध्यात्मिक, सामाजिक-सास्कृतिक आदि सभी दृष्टियो से सम्पन्न हो। डा० शकर राजू नायडू के इस सारगर्भ कथन से मतान्तर नही हो सकता कि "लोकायतन महाकाव्य मे इस सक्रांतिकालीन युग की 'विकासकामी मानवता के जीवन-सत्य' की सुस्पष्ट झाँकी सहृदय पाठक को प्राप्त होती है।"[1] कवि ने नवमानवता का न केवल सवेदनाजन्य आदर्श उपस्थित किया है, अपितु कथा मे ढाल कर उसके व्यवहार्य होने की सभावनाओ पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उदात्त रस या आनन्द-रस मे अधिस्नात यह कृति अधुनातन हिन्दी महाकाव्यो मे एक विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी है। अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति के कारण यह 'कामायनी' से सादृश्य रखती है तो बहिर्मुखी वृत्ति के कारण 'रामचरित मानस' से। समग्र दृष्टि से देखे तो इसकी अपनी एक अलग ही कोटि है और इसे महाकाव्य के पूर्व-निर्धारित वर्गो मे से किसी एक मे ठूँस देना इसके साथ अन्याय करना है।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

पर-भाव-विभव मे लिपटे
कहते अपने को पडित
पर-कला-बोध लादे हम
दिखते बाहर से सस्कृत। —पृ० 163।

1 डा० शकर राजू नायडू, 'सुमित्रानदन पत और लोकायतन' लघुपुस्तिका से।

अध्याय 7

लोकायतनोत्तर काव्य

लोकायतनोत्तर कृतियाँ

'लोकायतन' महाकाव्य (1964 ई०) के बाद अब तक पत जी की तीन और काव्य-कृतियाँ प्रकाश मे आ चुकी है : 'किरणवीणा' (1966 ई०) 'पौ फटने से पहिले' (1967 ई०) और 'पतझर : एक भाव क्राति' (1969 ई०)। यो 'अभिषेकिता' तथा 'पुरुषोत्तम राम' शीर्षक से दो अन्य पुस्तके भी प्रकाशित हुई हैं, पर वे स्वतन्त्र कृतियाँ न होकर स्वतन्त्र प्रकाशन-भर है। पहली कृति, विदेशी भाषाओ मे अनुवादार्थ पत जी की कुछ श्रेष्ठ कविताओ का सकलन है और दूसरी, किरणवीणा की अन्तिम कविता ही का पुस्तकाकार प्रकाशन।

कृतियो मे भाव-बोध का धरातल

इन कृतियो मे 'विज्ञापन' के अन्तर्गत कवि ने अपनी काव्यचेतना या भाव-बोध के उस धरातल का सकेत देना आवश्यक समझा है जहाँ से ये कविताएँ उद्भूत हुई है। 'किरणवीणा' की कविताओ मे, कवि के अनुसार, विषय का वैचित्र्य तथा चेतनात्मक अनुभूतियाँ सचित है,[1] 'पौ फटने से पहिले' की रचनाओ मे 'प्रेमा के सचरण' को अर्थात् राग-भावना के परिष्कार को अभिव्यक्ति दी गई है[2] तथा 'पतझर . एक भाव क्राति' मे युग-सघर्ष के इस पक्ष को उजा-

1. इन रचनाओ के विषय मे पर्याप्त वैचित्र्य है—प्रस्तुत रचना इनके अतिरिक्त मेरी चेतनात्मक अनुभूतियो से भी सम्बन्ध रखती है।

—पत जी, 'किरणवीणा' का 'विज्ञापन'।

2 इन रागात्मक रचनाओ मे मैंने आज के युग की पृष्ठभूमि में प्रेमा के सचरण को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है,—इन रचनाओ मे आज के ह्रासयुगीन भावनात्मक सघर्ष का गहन अधकार तथा कल की सवेदना का असाधारण प्रकाश सग्रथित है, साथ ही राग चेतना के सामाजिक विकास की सूक्ष्म रूपरेखा भी इनमे अन्तर्हित है।

—पत जी, 'पौ फटने से पहिले' का 'विज्ञापन'।

गर किया गया है कि वाह्य भौतिक क्राति, आन्तरिक मूल्य-क्राति के अभाव मे अपूर्ण है ।[1] स्पष्ट है कि कवि द्वारा विज्ञापित चेतना के ये विन्दु, कवि की ज्योत्स्ना-युगात काल से चली आ रही नवचेतना के अग है और उसकी परम्परित काव्य चेतना की अविच्छिन्नता एव अखण्डता के द्योतक है ।

पर इससे यह निष्कर्ष निकालना सगत न होगा कि इन कृतियो मे कुछ भी नवीन नही है और जो कुछ है वह प्राचीन ही की आवृत्ति है । वस्तुत युगवोध के अनेक नवीन आयामो का इस उत्तर काव्य मे कवि ने स्पर्श किया है जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा । दूसरे, इस निष्कर्ष पर पहुँचना भी भ्रामक होगा कि इन उत्तर लोकायतन कृतियो मे कवि का नव मानवता का स्वप्न मात्र आशिक रूप मे व्यक्त हुआ है । यदि इन तीनो कृतियो मे विम्बित नवचेतनात्मक उपादानो का सावधानी से आकलन किया जाय तो पत जी का पूर्व परिचित नवमानवता का स्वप्न अपनी समग्रता मे उपस्थित हो जाता है । अत. प्रस्तुत अध्याय मे, पुनरावृत्ति से वचने की दृष्टि से नवचेतना के अन्य उपादानो का सामान्य. तथा 'राग वृत्ति के परिष्कार' एव 'भाव-क्राति के महत्त्व' का विशेष अध्ययन[2] प्रस्तुत करते हुए यह देखने की चेष्टा की जायगी कि कवि नवचेतना के इन दो तत्त्वो के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले कितने नवीन व्योरे दे पाया है । साथ ही युग-वोध के नवीन चेतना-विन्दुओ पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा ।

व्यापी युग-त्रास

इस उत्तर-काव्य मे भी कवि उस व्यापी युग-त्रास से संत्रस्त है जिसका

---

1. सग्रह का नाम 'पतझर : एक भाव क्राति' भी युगसघर्ष ही का द्योतक है । भाव क्राति मेरी दृष्टि मे, क्रातियो की क्राति है । आज की विषमताओ तथा जाति वर्गगत विभेदो का उन्मूलन करने के लिए, मनुष्य को रोटी के सघर्ष के साथ जन-मन मे घर किए विगत युगो के प्रेत-मूल्यो से भी लडना है । वाह्य क्रांति, आतर क्राति के विना अधूरी ही रहेगी—ऐसा मेरा आज के विश्व-जीवन तथा मन के यत्किंचित् सम्पर्क मे आने के कारण अनुमान है ।

—पत जी, 'पतझर : एक भाव क्राति' का 'विज्ञापन' ।

2 विशेप इसलिए कि इन प्रवृत्तियो को लेकर कवि ने स्वतन्त्र कविता-सकलन प्रस्तुत किए है : राग वृत्ति का परिष्कार (प्रेमा का सचरण) 'पौ फटने से पहिले' मे तथा भाव क्राति का महत्त्व 'पतझर . एक भाव क्राति' मे ।

रूप हम गत दो अध्यायो मे देख आये है। अर्थ की दृष्टि से मानव-समाज आज भी कम से कम तीन वर्गों मे विभाजित है : पहला वर्ग है राजाओ, सेठो तथा उच्च वेतनभोगी अधिकारियो का जो जन-श्रम से अर्जित राष्ट्रीय सम्पदा को सुरा-नालियो मे प्रवाहित कर रहा है, दूसरा है मध्यवित्त लोगो का जो प्रशासन और महँगाई के दुहरे पाटो मे पिस रहा है और तीसरा है निम्न लोगो का जो जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ से भी वचित है तथा भाग्य के भरोसे जीवन का भार ढोने के अतिरिक्त जिसका कोई चारा नही।[1] भू-जीवन आज भी रूढि-रीतियो का दास है[2] और आसन्न विश्वयुद्ध का सकट भी क्षितिज पर मँडरा रहा है।[3]

भावी मानवता का स्वप्न

इस पृष्ठभूमि पर कवि भविष्य की मानवता का स्वप्न देखता है जब अणु की असीम शक्ति का रचनात्मक प्रयोग भू-जीवन का कायाकल्प कर

---

1 राजाओ से रहते मत्री क्षुधित धरा के
उच्च पदस्थो के ऊँचे नभचुम्बी वेतन,
सुरा-नालियो मे बहती सम्पद् नगरो की
मध्यवर्ग पिस रहा शासको के कर-पद बन
शेष प्रजाजन अन्न, वस्त्र, गृह से भी वचित
भाग्य भरोसे बैठे कोसा करते विधि को
आज घास की रोटी भी न सुलभ जनता को !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 212।

2 रूढि-रीतियो मे पथराया
बदीजन-भू जीवन,
धरा धैर्य का बाँध टूटता
आने को युग प्लावन !

—पतझर : एक भाव क्राति, प्रथम स०, पृष्ठ 157।

3. अह यह अणुबम, वह उद्जन बम
छाया युग-मानस मे दिग्भ्रम !
अध गली मे धँसा बुद्धि-रथ
तन मन रक्त व्रणो से लथपथ,
व्यथा अकथ,
युग कथा अकथ !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 134।

देगा ।[1] न केवल वाह्य भौतिक जीवन सुविधा-सम्पन्न हो जायगा अपितु मनुष्य अपने आध्यात्मिक उन्नयन के फलस्वरूप देवताओ के समकक्ष प्रतिष्ठित हो सकेगा ।[2] पर विभक्त मानवता के वीच समता की प्रतिष्ठा अतरैक्य ही के आधार पर सम्भव हे ।[3] एकता के लिए वाहर भटकने वाले मनुष्य को अपने भीतर ही प्रकाश के दर्शन होगे ।[4]

वाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता

नवचेतना के उपादानो मे सर्वप्रथम है वाह्य भौतिक जीवन की सम्पन्नता जिस पर लोकायतनोत्तर काव्य मे कवि ने विशेष रूप से वल दिया है, यहाँ तक कि उसने आत्मिक उन्नयन को भू-जीवन पर प्रवाहित करने की वात

---

1 और शान्ति युग कामी जन-भू रचना के हित
जव प्रयुक्त होगी अणु शक्ति,—धरा जीवन का ।
मुख ही तव पहचान न पाएगा युग-मानव !
नये-नये परिवेशो, अभ्यासो मे ढलकर
हृदय, प्राण, मन सभी वदल जाएँगे जन के !
—पतझर एक भाव क्रांति, प्रथम स०, पृ० 63 ।

2. स्फुरित हो रहा मनोदृगो के सम्मुख वह युग
जव भौतिक सुविधा-सम्पन्न प्रसन्न धरा पर
पूर्ण सास्कृतिक शोभा मे कुसुमित नव मानव
विचरेगा श्री-सौम्य, कला-वैभव से सुरभित,—
मूर्तिमान अध्यात्म तत्त्व-सा,—विस्मित भू चर
समझ न पाएँगे, यह मनुज, देव या ईश्वर !
—वही, प्रथम स०, पृ० 64 ।

3 अत: समता ही की क्षमता
ला पाएगी
वाह्य लोक समता
वहु भेद भरी जन-भू पर !
—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 11 ।

4 वहिर्भ्रांत मानव को फिर
होना अन्त सयोजित !
—पतझर : एक भाव क्राति, पृ० 67 ।

कहकर उसको अप्रत्यक्ष रूप से साध्य की प्रतिष्ठा दे दी है।[1] यो व्यापक दृष्टि से, पत जी के नवचेतना-काव्य मे लोक पक्ष तथा अध्यात्म पक्ष समान महत्त्व ही के अधिकारी है उनमे से एक साध्य और दूसरा साधन नही है क्योकि वे परस्पर पूरक है और दोनो मिलकर ही जीवन को पूर्ण बनाते है। यदि कही पर वे एक को प्रधान तथा दूसरे को गौण, या एक को कारण तथा दूसरे को कार्य बता देते है तो समझना यही चाहिए कि अपने ही द्वारा इन दोनो के मध्य के खो दिये गए सन्तुलन की वे फिर से खोज कर रहे है। उदाहरण के लिए 'लोकायतन' तथा कुछ पूर्व-लोकायतन कृतियो मे वे अध्यात्म पक्ष पर ही बल देते रहे है जिसके फलस्वरूप लोक-पक्ष कुछ उपेक्षित रह गया। अत लोकायतनोत्तर काव्य मे वे बाह्य जीवन के महत्त्व की पुनर्प्रतिष्ठा करते हुए दिखाई देते है।[2]

पर यहाँ यदि यह समझ लिया जाए कि अब कवि पर आध्यात्मिक उन्नयन की व्यर्थता प्रकट हो गई है और कि वह अब मात्र जीवन-कर्म को

---

1 आत्मा का ही
आँगन ऊर्ध्वमुखी जप तप से बने न पावन,
भू-जीवन के स्तर पर भी सगठित हो सके
समदिक् आध्यात्मिकता, सामूहिक मगल हित—
मिटे क्षुद्र द रिद्रय हृदय, मन, तन, जीवन का !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 155।

2 केवल मन की भर उड़ान
छू बोध के शिखर
किसे लाभ ?
विचरे भू पर विविध सत
दार्शनिक, विचारक,
कवि, योगी,
आदर्शो के निष्काम प्रचारक—
श्री अरविन्द, रवीन्द्र
सभी अन्तर्नभचारी
जीवन कर्म न हो पाया
जन-भू सयोजित,
विविध मतो मे दीर्ण
हो सका मन न सगठित !

—पतझर : एक भाव क्राति, प्रथम सं०, पृ० 187-88।

ही सत्य मानने लगा है, तो पुन हम उसकी काव्य-चेतना से दूर जा पड़ेंगे और अपने नवीन भ्रम को उसी प्रकार पोषित करने लगेंगे जिस प्रकार 'युगवाणी' के काव्य[1] को पढ़कर तथाकथित प्रगतिशील साहित्यकार करने लगे थे। पर जैसे उनके भ्रम का निराकरण करते हुए कवि ने उसी कृति मे 'संकीर्ण भौतिकवादियो के प्रति'[2] कविता लिखकर अनायास ही सतुलन खोज लिया था, उसी प्रकार यहाँ भी, 'भाव-शक्ति'[3] रचना सम्मिलित कर असन्तुलन से बच लिया गया है। साराश यह है कि लोकपक्ष और अध्यात्म पक्ष, बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन, समदिक् सचरण और ऊर्ध्व सचरण के मध्य सम्यक् सन्तुलन मे ही कवि की नवीन चेतना सन्निहित है और इसी सदर्भ मे कवि द्वारा किये गए भाव और वस्तु-सत्य के समन्वय[4] को ग्रहण किया जाना चाहिए।

ऊर्ध्व एवं समतल संचरण का अभेद

भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष, कवि की दृष्टि मे, न केवल पूरक है अपितु एक-दूसरे की प्रगति मे सहायक भी। समदिक् प्रगति का लक्ष्य यदि ऊर्ध्व चेतन को रजत शिखरो की ओर अग्रसर करना है तो ऊर्ध्व चेतन को भी भू पर अवतरित होकर समदिक् जीवन के अभावो, रूढ़ि-रीतियो, वर्ण-भेदो के

---

1. स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन
   बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्त्तन !
   —युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 45।

2 आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम ?
   मानवता की मूर्ति गढोगे तुम सँवार कर चाम ?
   —वही, पृ० 48।

3. उमड घुमडने वाले वाष्पो मे भी निश्चय
   महत् शक्ति असि छिपी, ध्वस्त कर सकती क्षण मे
   जब चाहे, तरु, वन, पर्वत, जन-भू को रण मे !
   ० ० ० ०
   उच्च चेतना ही से भव-रूपातर सम्भव !
   —पतझर एक भाव क्राति, प्रथम स०, पृ० 57-58।

4 भाव-वस्तु नित
   शब्द अर्थ से युक्त परस्पर !
   —वही, पृ० 27।

कलुष-पक को धोकर दूर करना है।[1] अरविन्द के अद्वैत दर्शन से प्रभावित कवि इससे भी आगे बढकर अन्त और बाह्य, ऊर्ध्व और समदिक् को एक ही परम तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है और उनमे किसी प्रकार का भेद नही करता, प्रतीयमान भेद भी बुद्धि की क्रिया के कारण है।[2] "ऊर्ध्व और समतल सचरण मे कोई मौलिक विरोध नही है। आज का जो समतल है, उसमे भी बहुत सारा ऊर्ध्व मिला हुआ है। चाहे वे राम-राज्य के मूल्य हो, चाहे कृष्ण-युग के, चाहे वे क्रिश्चियनिटी के मूल्य हो चाहे अन्य सस्कृतियो के, वे ऊर्ध्व मूल्य ही है।"[3]

भाव की चरमोच्च रहस्यवादी भूमि

भाव की क्राति, चेतना के ऊर्ध्वारोहण से सीधा सम्बन्ध रखती है और कवि ने लोकायतनोत्तर काव्य मे भी चेतना के ऊर्ध्व-सचरण की न केवल आवश्यकता पर बल दिया है अपितु उसकी उच्चतर स्थितियो की अनुभूतियाँ भी बड़ी समर्थ शब्दावली मे सचित कर दी है। चेतना का अन्त गवाक्ष उद्घाटित होकर प्राणी अनन्त शोभा-सिन्धु की लहरो पर थिरकता हुआ आनन्द से उन्मत्त हो उठता है।[4] बरसते हुए कचनारी ऐश्वर्य से ऐसे अकथनीय

1 ओ ऊपर के सत्य अधूरे हो तुम निश्चित
भू का सत्य करेगा तुम को पूरा विकसित !
o o o
आओ भू पर नीड बसाओ सिमटा निज पर
ओ असग ! सेओ स्व-डिम्ब नव नव स्वरूप धर !
—पतझर · एक भाव क्राति, प्रथम सं०, पृ० 42-44।

2 ऊर्ध्व, गहन, व्यापक
यह प्रज्ञा का त्रिकोण भर
केन्द्र बिन्दु तुम
व्यक्त हो रहे
बाहर भीतर
नीचे ऊपर
स्वय निरन्तर !
—वही, पृ० 30।

3 सुमित्रानन्दन पत, धर्मयुग, 14 दिसम्बर, 1969, पृ० 12।

4 सचल उठता ज्वार
शोभा सिन्धु मे जग
नाचता आनन्द पागल
(शेष अगले पृष्ठ पर)

प्रभाव पडते है कि अन्तर भावाकुल हो उठता है[1] और कभी-कभी तो देहबोध विस्मृत हो जाता है और आत्मा का पृथक् अस्तित्व परम अस्तित्व मे घुलकर एकाकार हो जाता है।[2] भाव की यही वह चरमोच्च भूमि है जहाँ पहुँचने के लिए समस्त साधना, समस्त योग, समस्त कविता और समस्त कला व्यग्र रहती है। यदि इसी स्थिति को प्राप्त करने का नाम 'रहस्यवाद' है तो निश्चित रूप से वह काव्य के लिए कोई अशोभनकर वस्तु नही है, उल्टे, वह तो उसकी परम काम्य है। इस स्थिति तक न केवल स्वय उठने, बल्कि पाठको को भी उठाने के लिए पत जी भर्त्सना[3] के नही, साधुवाद के पात्र है। यदि बुद्धि एव तर्क ही का अवलम्ब लेकर आगे बढने वाले लोग उस अनुभूति तक न पहुँच पाये तो इसका यह आशय नही कि वह अनुभूति होती ही नही। वेदो के द्रष्टा कवियो, प्रेममार्गी सूफी कवियो, कबीर आदि निर्गुण कवियो तथा विश्व के अनेकानेक धार्मिक एव साहित्यिक सतो की अनुभूतियो को माननिक उत्ताप या उन्माद कहकर शायद ही टाला जा सके। वे न तो मिथ्यावादी थे, और न भूतवाद के विरुद्ध खडे किये गए किसी सार्वकालिक और सार्वदेशिक षड्यन्त्र के भागीदार थे।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

भाव-लहरो पर
थिरकते प्रेरणा–पग !
इन्द्र धनुष मरीचि-दीपित
चेतना के मर्म मे
खुलता गवाक्ष
रहस्य भास्वर !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 4।

1. ऐसे प्रभाव पडते गोपन
भावाकुल हो उठता अन्तर !

—वही, पृष्ठ 15।

2 विस्मृत हो जाता देह भाव
विस्मृत अस्मिता—नही विस्मय,
धुल जाते जड सस्कार मलिन
अस्तित्व पिघल होता तन्मय !

—वही, पृष्ठ 13।

3 श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 662।

रहस्यवादिता के आरोप की परीक्षा

स्वय अद्वैतवादी अनुभूति को नकारने का साहस तो शायद मार्क्सवादी आलोचना मे ही नही है पर पत जी की ऐसी अनुभूति को वह यह कहकर अस्वीकार कर देती है कि वह अनुभूति न होकर, कल्पना के आधार पर किया गया अनुभूति का चित्रण है।[1] पर यह आरोप, अपने आप मे मात्र आरोप ही है जैसे कला, कभी-कभी मात्र कला ही के लिए होती है और इस प्रकार कबीर या जायसी या किसी भी रहस्यदर्शी की अनुभूति को चुनौती दी जा सकती है। पन्त जी की रहस्यानुभूतियो के जो ऐश्वर्य एव वैभवपूर्ण चित्र गत पृष्ठो मे दिये गए है उनकी प्रभविष्णुता, उनका जीवन्त बिम्ब-विधान, उनकी भाषा की निर्दोष सटीकता आदि इस बात के प्रमाण है कि वे शत-प्रतिशत अनुभूतियाँ है। यदि मात्र कल्पना के आधार पर ऐसा अनुभूति-चित्रण हो सकता तो हम मे से अनेक, श्रेष्ठ कवि बन जाते। कल्पना कितनी ही उडान भरे, भावानुभूति के अभाव मे न तो सार्थक बिम्ब-विधान ही सम्भव है, न प्रभविष्णुता का उत्पादन ही।

प्रेमा का संचरण

अपने उत्तर-काव्य मे पत जी ने 'प्रेमा' के सचरण अर्थात् राग-भावना के परिष्कार पर विशेष प्रकाश डाला है। भू-जीवन के विकास को उसी पर अवलम्बित[2] बता कर उन्होने उसकी गौरव-वृद्धि भी की है। पर सम्प्रति तो नारी उसी चिर-परिचित देह-बोध के धरातल पर स्थित है।[3] काम की वेदी पर अर्पित बलि-पशु की सी उसकी स्थिति है[4] और इसमे अकेले नारी का नही,

---

1 श्री विश्वभर नाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 724।

2 राग-चेतना के विकास पर
भू-जीवन-विकास अवलम्बित! —पौ फटने से पहिले, प्रथम स०, पृष्ठ 3।

3. तुम स्वतत्र भारत की
नारी हो नि.सशय
पर धरती की नारी अब भी
देह-बन्दिनी निश्चय! —किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 108।

4 किन रज-मूल्यो ने प्राण-चेतना
स्त्री की युग युग से कल्पित!
बलि-पशु वह निश्चित, मात्र
काम-वेदी को अर्पित! —पौ फटने से पहिले, प्रथम स०, पृष्ठ 112।

नर का भी दोष है जो नारी के मूल्य को ठीक से आँक नही पाया है।[1] भय एवम् सशय के दुहरे कोष्ठको मे बद्ध पुरुष का प्रेम अभी तक पूर्णतया समर्पित होने मे सकोच मानता है।[2] कवि के मत मे, इस भय एवम् सशय का पूर्ण निराकरण तभी सभव है जब प्रेम व्यक्तिगत स्तर से उठकर सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाय।[3]

प्रेम का समाजीकृत रूप

प्रेम के समाजीकृत रूप को भी किसी सीमा तक स्पष्ट करने की चेष्टा कवि ने की है। वह नारी से अनुरोध करता है कि वह स्वय को मात्र शरीर या त्वचा का पर्याय न समझे अपितु हृदय के भीतर स्थित भाव-सौन्दर्य का रूप माने,[4] भाव, जो किसी व्यक्ति-विशेष की निधि न होकर मानव-मात्र की निधि

---

1 तुम्हारे सौम्य मूल्य को
आँक नही पाया
हेमागिनि,
वर्वर भू-नर।
—पौ फटने से पहिले, प्रथम स० पृष्ठ 8।

2 अभी प्यार के योग्य नही बन पाई धरती
तुम्हे प्यार दूँ भी तो ऐसी नही मन स्थिति
आधे मन का प्यार, प्यार क्या कहला सकता
भय सशय से घिरा अभी सित केन्द्र प्रीति का।
—पतझर . एक भाव क्राति, प्रथम सं०, पृष्ठ 81।

3 शत प्रतिशत भय संशय
तब होगा निर्वासित
जब सामाजिक स्तर पर
प्रेमा होगी स्थापित।
—पौ फटने से पहिले, प्रथम स०, पृष्ठ 82।

4. तन न रहो तुम,
त्वच न रहो तुम,
शोभा के छिलके के भीतर
भावामृत का हो रस सागर।
फूल देह मे
फले स्नेह-फल
इसमे ही भू-मगल। —वही, पृष्ठ 113।

है।[1] उसे मुक्त भाव से अपने प्रेम का वितरण करना चाहिए, वैसे ही, जैसे प्रकृति-क्षेत्र में पुष्प अपने सौन्दर्य से तितलियों, खगों और भ्रमरों के हृदय को आनन्द और उल्लास से भर देता है।[2] रति-क्रीडा भी शरीर को कलुषित नहीं कर सकती यदि उसके पीछे प्रेम की शुद्ध भावना हो।[3] नव युग की नारी को उस मध्यकालीन राग-भावना का केंचुल छोडना होगा जिसमे वह दैहिक पवित्रता को सतीत्व की कसौटी समझती थी। कवि का विश्वास है कि उसका आज का यह स्वप्न, भविष्य का सत्य बन कर रहेगा।[4]

राग-परिष्कार के स्वप्न का रूप

पर अपने उत्तर-लोकायतन काव्य मे, विशेष कर 'पौ फटने से पहिले' की कविताओं मे कवि का 'राग-भावना के परिष्कार' का स्वप्न उससे अधिक स्पष्ट नहीं हो सका है जितना वह 'लोकायतन', पूर्वलोकायतन या उससे भी पूर्व ज्योत्स्ना-युगांत काल के काव्य मे था। 'प्रेमा' के सचरण का घोषित उद्देश्य लेकर आने वाले नवीन कविता-सग्रह (पौ फटने से पहिले) से पाठक का यह आशा करना उचित ही है कि इसमे राग-भावना के परिष्कार सम्बन्धी कुछ और

---

1. व्यक्ति रूप को तजो, मोह वह,
मनुज हृदय को अभय वरो!

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 119।

2 हँसते फूल, चहकते खग,
अलि भरते गुजन,
सृजन-काम रस तन्मय हो
स्त्री नर-उर स्पदन!

—पौ फटने से पहिले, प्रथम स०, पृष्ठ 154।

3 देह न रति से होती कलुषित
हृदय प्रेम प्रति जो सित अर्पित!

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 119।

4 मनुज हृदय, उन्मुक्त अभय सशय भय विरहित
तन्मय हो पायेगा शोभा की समाधि मे—
तन मन प्राण बुद्धि आत्मा के ऐक्य मे बँधा
काम प्रेम बन जाएगा · सुन्दरता अक्षत
नील नुभग विचरेगी भू-प्रागण मे प्रति पग
यह भविष्य का सत्य,—स्वप्न भी कवि के उर का!

—पतझर . एक भाव क्रांति, प्रथम स०, पृष्ठ 82।

ब्योरे प्राप्त होगे, उसकी रग-रेखाएँ कुछ और निखरेगी। सभव है स्वय कवि भी इसी उद्देश्य को लेकर इस कृति की रचना मे प्रवृत्त हुआ हो, पर पत-काव्य के पुराने पाठक को इसमे ऐसा कुछ प्राप्त नही होता जो उनके 'प्रेमा' के स्वप्न को स्पष्ट से स्पष्टतर करने वाला हो। हमारी अपनी धारणा तो यह है कि राग-चेतना के परिष्कार के सम्बन्ध मे स्वय कवि का अपना स्वप्न उतना स्पष्ट नही है जितना नवचेतना के अन्य तत्वो का है।

पत जी के नवचेतना-काव्य से कुल मिलाकर राग-चेतना के परिष्कार का जो चित्र उभरता है, वह इस प्रकार है। नारी को देह-बोध की मध्यकालीन भावना से मुक्त होकर अपने भीतर की भाव-शोभा का सामाजिक स्तर पर, मुक्त भाव से वितरण करना चाहिए और अपने 'काम' को अत शुद्ध राग या 'प्रेम' मे परिणत कर उसे सामान्योन्मुख बनाना चाहिए। सतीत्व की धारणा तथा स्वकीया-परकीया का भेद मध्यकालीन मूल्य है। यदि नारी का 'काम' अन्त शुद्ध होकर 'प्रेम' मे परिणत हो जाय तो किसी भी पुरुप के साथ आलिगन, चुम्बन, एवम् रति-क्रीडा के आदान-प्रदान मे कोई अनौचित्य नही है। नर-नारी मुक्त भाव से, निर्भय और नि शक हो कर मिले, विहार करे, आमोद-प्रमोद करे, रति-क्रीडा करें और सामाजिक जीवन को राग की कु ठाओ से मुक्त कर जीवन को निसर्ग आनद एवम् उल्लास से भर दें।

स्वप्न की व्यवहार्यता

पर प्रश्न यह है कि क्या 'काम' को, जो युग्म-स्तर का प्रश्न है, सामाजिक प्रश्न बनाया जा सकता है ? पत जी का मत है कि ऐसा किया जाना असभव नही है क्योकि 'उदर-क्षुधा' जैसा नितान्त वैयक्तिक प्रश्न यदि आज की अर्थ-नीति और राजनीति का प्रश्न बन सकता है तो कोई कारण नही कि 'काम' कल की समाजनीति और सस्कृति का प्रश्न न बन जाय।[1] पर मेरे विचार मे यह समता दूर तक नही जाती क्योकि क्षुधा को निवृत्त करने वाली आधारभूत सामग्री अचेतन नही, तो कम से कम अ-मानवी होती है पर काम-वृत्ति की सतुष्टि तो मानवी-आधार की अपेक्षा रखती है। दूसरे शब्दो मे कहे तो जिस प्रकार आज हम सरकार से 'हमे अन्न दो, वस्त्र दो' की माँग कर सकते है उस प्रकार कल शायद ही माँग कर सके कि 'हमे पुरुष दो, स्त्री दो' और यदि ऐसा हो जाय तो कहाँ रहा हमारा राग का सस्कार और कहाँ रही हमारी सस्कृति !

---

1 चिदम्बरा, चरण-चिन्ह, द्वितीय स०, पृ० 26।

राग-परिष्कार के अन्तर्गत 'देह-वोध' से ऊपर उठने का आशय पत जी यदि यह लेते है कि दैहिक आवश्यकताओ का अस्तित्व ही न रहेगा, तो सब लोग उनसे शायद ही सहमत हो सके क्योकि जब तक देह रहेगी, देह की आवश्यकताएँ भी रहेगी। हमारे यहाँ विदेह' कहलाने की जो स्थिति है, वह सापेक्ष ही है। हाँ, योग की उच्चतर भूमि पर पहुँच कर 'विदेह' होने की निरपेक्ष स्थिति भले ही आ जाय पर तब 'काम ही क्यो, 'क्षुधा' की समस्या भी स्वत हल हो जायगी और मनुष्य को सामाजिकता के किसी भी रूप से कोई सरोकार नही रह जायगा। पर शायद पत जी का यह आशय नही है। राग के परिष्कार से उनका आशय है कि काम की सतुष्टि शरीर के स्तर पर कम, मन के स्तर पर अधिक तथा आत्मा के स्तर पर सर्वाधिक हो। इस धारणा से किसी भी ऐसे व्यक्ति को आपत्ति नही हो सकती जो राग-भावना को भविष्य मे परिष्कृत देखने का इच्छुक है। मनुष्य वस्तुत देह-मन-आत्मा इकाई है और जब तक उसमे देह की, इन्द्रियो की भूख स्वल्प मात्रा मे भी विद्यमान है, राग-भावना की सामाजिक स्तर पर सतुष्टि बिना अराजकता फैलाए सभव नही प्रतीत होती।

तथापि इस बारे मे दो मत नही हो सकते कि युगीन राग-भावना के परिष्कार की आवश्यकता उत्कट है। युग को आज जिस नवीन चेतना या दृष्टि की अपेक्षा है उसका एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है नर-नारी के मध्य की राग-भावना को पशुत्व के धरातल से उठाकर मानवी धरातल पर प्रतिष्ठित करना। पत जी ने युग का ध्यान इस बिन्दु की ओर आकृष्ट कर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वस्तुत पत जी व्यापक युग-बोध के कवि है और उनका सा विस्तृत युग-वोध कम से कम हिन्दी के किसी अन्य कवि मे लक्षित नही होता। अपने उत्तर-काव्य मे कवि ने वर्तमान की अनेक समस्याओ एवम् युग-जीवन की विद्रूपताओ पर प्रकाश डाला है जिनकी चर्चा यहाँ की जा सकती है।

वर्तमान की विद्रूपताओ पर व्यंग्य

कवि ने अपने युग की भ्रष्ट राजनीति एवम् स्वार्थ-रत नेताओ पर करारे व्यग्य किये है[1] और सुशासन कहलाने वाले 'प्रजातत्र' की ओजमयी वाणी मे

---

1 धिक् यह पद मद, शक्ति मोह ! काग्रेस नेता भी
मुक्त नही इससे,—कुत्तो से लडते कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 219।

भर्त्सना की है ।[1] यह तथ्य भी कवि-दृष्टि से वच नही पाया है कि किस प्रकार विकृत धार्मिकता की आड लेकर राजनीति शिकार खेलती है[2] और कि हाथ मे त्रिशूल धारण कर गोहत्या-विरोधी आन्दोलन मे आगे आने वाले साधु, मात्र उपचेतन की शक्तियो के साधक हैं ।[3] वे अव धर्मप्राण साधु नही, अध्यात्म के जल से रहित अध कूप हैं । कवि ने उनका अत्यन्त सवल एवम् समर्थ शब्दावली मे यथातथ्य चित्र अकित किया है ।[4]

पीढ़ी से पीढ़ी का विद्रोह

राजनीति मे ही नही, अन्य अनेक क्षेत्रो मे भी पुरानी पीढी और नवीन पीढी के बीच संवाद की स्थिति नही रह गई है । पुरानी पीढी मे अपने जड-मृतक

---

1. सत् शासन का अर्थ न यह, जनता के सेवक
   सम्राटो से रहे, उच्च वेतनभोगी वन !
   निखिल देश की सुख-सुविधाओ को अधिकृत कर
   राज्य करे जीवन्मृत हड्डी के ढाँचो पर
   घोर विपमता के पाटो से मर्दित जन की
   चूर्ण पसलियो का सगीत सुने वहरे वन !

   —किरणवीणा, प्रथम सं०, पृष्ठ 221 ।

2 हम गो हत्या रोक रहे क्यो ? यह चुनाव का
   विज्ञापन क्या ?...

   —वही, पृष्ठ 217 ।

3 गोहत्या प्रतिरोध हेतु जो आज सामने
   आया कर मे ले त्रिशूल ? वह मध्य युगो का
   वनजीवी वर्वर, अपरूप खडा पिशाच-सा
   ईश्वर इनके साथ नही—सशय न मुझे अव
   ये उपचेतन प्राण-शक्तियो के साधक भर !

   —वही, पृ० 218 ।

4 साधु रहे अव कहाँ साधु ? गैरिक ठठरी भर,
   रिक्त निखिल अध्यात्म-ज्योति से, अध कूपवत् !
   जीर्ण साधना पद्धतियो के ऊर्ण भरे त्वच
   भाँग, चरस, गाँजा पी रहते मदिर समाधित ।
   न्यस्त कर्म, वैराग्य ठूँठ, दायित्व विरत वे
   क्लीव दीमको के वल्मीक-चाटते जन-मन !

   —वही, पृष्ठ 215 ।

विचार नवीन पीढी पर थोप देने की व्यग्रता है[1] तो नवीन पीढी नवीन विचारो एव प्रेरणाओ से उद्वेलित है और विद्रोह की मुद्रा धारण किये है। पुरानी पीढी आज के विद्रोही स्वर को समझने मे असफल है क्योकि उसकी चारित्रिक हीनता के कारण उसका विवेक पथरा गया है।[2]

सांस्कृतिक विघटन

इस सास्कृतिक विघटन के युग मे देश का मार्ग-दर्शन करे भी कौन जब यहाँ के प्रबुद्ध कहलाने वाले जन, देशी समस्याओ से अनभिज्ञ बने विदेशी सभ्यता की चादर तान कर सोये हो।[3] और देखा जाय तो दोष उनका नही उस शिक्षा का है जो यहाँ के जीवन-वास्तव और सस्कृति से विच्छिन्न है।[4] विदेशी भाषा मे, विदेशी भावो को, विदेशी पद्धति से ग्रहण कराने वाली शिक्षा तथा अन्न एवम् धन की भिक्षा-वृत्ति भला देश का क्या उद्धार कर सकती

---

1 वे जिस अर्थहीन जीवन के
मृत प्रवाह को ढोते आए है, अब उसको
तरुणो पर भी लाद रहे, निज सुख-सुविधा हित !
—पतझर एक भाव क्राति, प्रथम स०, पृष्ठ 96।

2 समझ सकेंगी नही प्रौढ मति
युग मन का उद्वेलन,
पथरा गया चरित्रहीन मन
भ्रष्ट प्रौढि का !
—वही, पृष्ठ 170।

3 मुट्ठी भर बौद्धिक मयूर के पख लगाये
शिक्षा त्वच, सभ्यता चर्म ओढे विदेश का
का-का-का कर काक-बुद्धि का परिचय देते
निज भू-स्थितियो के प्रति अजान, भव-गति पारगत !
—किरणवीणा, प्रथम स०, पृष्ठ 213।

4. जो शिक्षा धरती की जीवन-वास्तवता से,
सबधित ही न हो, न जन-भू की सस्कृति से,
जिसे प्राप्त कर युवक न अपना घर सँजो सके
औ' न देश सेवा कर पाएँ—किसे लाभ
उस रिक्त ज्ञान से ? ·
—वही, पृष्ठ 221।

है ?[1] हमें देश के लिए निश्चित रूप से एक ऐसी शिक्षा-पद्धति विकसित करनी होगी जो कृषि, प्रविधि, विज्ञान और उद्योग के क्षेत्रों में उपयोगी होकर राष्ट्र-निर्माण में योगदे सके।[2]

साहित्य मे विघटन

साहित्य का क्षेत्र भी इस विघटनकारी प्रभाव से मुक्त नही है[3] और उसके दोनो पक्षो— सृजन एवम् आलोचन—को घुन लग गया है। जहाँ तक सृजन का सम्वन्ध है, वाणी अपनी अर्थवत्ता खो चुकी है और खण्डित विम्वो एवम् निरर्थक प्रतीको से युक्त नयी कविता घुणाक्षर न्याय की याद दिलाती है और लिखित रूप मे ऐसी दिखाई पडती है मानो रेत में वने हुए पक्षियो के पद चिन्ह हो।[4] दूसरी ओर आलोचना व्यक्तिगत राग-द्वेष से ग्रस्त तथा पश्चिमी चिन्तको के रटे-रटाये सिद्धान्तो पर आधृत है।[5] आत्म-चिन्तन के

---

1 छाई अव आकाश वेल अग्रेजी भाषा
प्राण शक्ति भू-जीवी तरु की जिससे शोषित,
देह अन्न से मन विदेश की मति से पोषित
कहाँ रहा अस्तित्व हमारा ? परान्न सेवी
पर विचार जीवी, निज भू-आत्मा से वचित !
—पतझर एक भाव क्राति, प्रथम स०, पृष्ठ 181।

2 शिक्षा-पद्धति निश्चय हमें वदलनी होगी
जिस शिक्षा से सुख-सुविधा दुह सके दक्ष कर
उसे वना कृषि, प्रविधि, अर्थ, उद्योग परक अव
हमें राष्ट्र रचना हित अगणित जन कर पद मन
प्रस्तुत करने होगे नए रक्त से दीपित !
—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 222।

3. मुक्त नही साहित्य-जगत भी ह्रास-धुन्ध से !
—वही, पृ० 225।

4 महत् प्रयोजन सत्य खो गया हो वाणी का,
आज घुणाक्षर सी अमूर्त्त सहृत शैली मे
विम्व प्रतीक उभरते खग-पग-चिन्ह चित्र से
क्षण की करतल रेती मे वन मिट नगण्य से ! —वही, पृ० 225।

5. राग द्वेष का तुच्छ मच वन रही समीक्षा,
छुटभैयो के साथ खडे कुछ चोटी के भी
शुक प्रातिभ विद्वान वाल की खाल खीचते ! —वही, पृ० 226।

अभाव मे, परोपजीवी आलोचको का विवेक इतना पथरा गया है कि उनकी यह धारणा हो गई है कि किर्कगार्ड, सार्त्र, यास्पर्स आदि ने जो नही कहा, वह सत्य कैसे हो सकता है ?[1] ऐसी विपम स्थिति मे इन आलोचको के हाथ पड जाना किसी अच्छे-भले कवि के लिए दुर्भाग्य नही, तो और क्या है ? चतुर्दिक् फैले दलवदी के इस कीचड़ से आशंकित, प्रतिष्ठित आचार्य कोटि के आलोचक या तो वोलते ही नहीं या फिर दोनो पक्षो के वीच सतुलन वनाए रखने वाली भाषा का व्यवहार करते हैं क्योकि उन्हे भी तो अपनी प्रतिष्ठा वचानी है ।[2] कला-क्षेत्र वाणी के युद्ध-क्षेत्र वन गए है जहाँ महिलाओ की आड़ लेकर वौने कलाकार, कला के प्रतिष्ठित आचार्यो पर निन्दा के वाण छोड़ते है ।[3] नाम-मोह एवम् आत्म-विज्ञापन का इतना वोलवाला हो गया है कि नम्रता एवम् सरलता अवगुण वन गए हैं और दाँव-पेच जानने वाला ही युग का सफल व्यक्ति माना जाता है ।[4]

---

1 आत्मवोध के दिवालिए वुध, तीतर वनकर
चुगो जिन्होने उगली विद्या,—वात-वात मे
उद्धृत करते व्रह्म वाक्य मृत विदेशियो के
कैसे हो सकता वह सत्य भला, हाइडेगर,
किर्कगार्ड, यास्पर्स, सात्र या रसल, वेल्स से
द्रप्टा जिसके वारे मे कह गए नही कुछ !
—किरण वीणा, प्रथम स०, पृ० 226 ।

2 कवि का कटु आलोचक के पजे मे फँसना
प्रतिभा के पृथु गज का दलदल मे गिरना है,
जहाँ मात्र दलवदी ही का तार्किक कीचड !
मौन सिद्ध आचार्य हिचकते कहने मे कुछ
या समझौते की भाषा का आश्रय लेते
कही न कोई उनकी भी पगडी उछाल दे ! —वही, पृ० 226 ।

3 कला क्षेत्र वाग्युद्ध क्षेत्र मे वदल अकारण
महिला की ले आड, छोडते शर युगधन्वी
आचार्यो पर, खडे शिखण्डी के हो पीछे,
और प्रार्थना करते, हम जव छोड़ें विप-शर
सीना ताने रहे आप,—तृणलक्ष्य न च्युत हो ! —वही, पृ० 227 ।

4 दाव पेच मे पारगत जो वही सफल नर,
सरल स्वभाव महान मूर्खता का अव लक्षण !
आत्म-प्रचार,—इसी पर मानव जीवन निर्भर, (शेष अगले पृष्ठ पर)

व्यापक युगबोध के कवि पंत

इस प्रकार पंत जी ने युग की अर्थनीति, राजनीति, समाज नीति, शिक्षा-नीति, सभ्यता, संस्कृति, आचार-व्यवहार, साहित्य, समालोचना आदि सभी क्षेत्रों की विसंगतियों एवम् विद्रूपताओं का सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण किया है। युग जीवन की धारा का विस्तीर्ण पाट उनकी दृष्टि के सम्मुख फैला है जिसमें उठने वाली छोटी से छोटी लहर भी कवि के लिए अदेखी नहीं रहती। दृष्टि की यह व्यापकता उत्तर-लोकायतन काव्य में ही आकर विकसित हुई हो, ऐसा नहीं समझना चाहिए। पंत जी प्रारम्भ ही से व्यापकतर दृष्टि के धनी रहे हैं, बल्कि कहना चाहिए, व्यापकता उनकी दृष्टि का धर्म रहा है, स्वभाव रहा है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, साहित्य, विज्ञान, राजनीति एवम् अर्थनीति के क्षेत्रों में होने वाली नूतनतम स्थापनाओं का रस निचोड कर, लोक-मंगल की प्रेरणा से एक नवीन समन्वित, सांस्कृतिक चेतना गढने वाले कवि से व्यापक युगबोध और किसका हो सकता है? पर इसे साहित्यिक विडम्बना ही समझना चाहिए, यदि ऐसे व्यापक युगबोध के कवि को 'पलायन-वादी' की संज्ञा दे दी जाय।[1] वस्तुतः पंत जी के काव्य में जिसे पलायन-वृत्ति के दर्शन होते हैं वह या तो 'युगबोध' शब्द का ग्रहण अत्यन्त संकुचित अर्थ में करता होगा या फिर कवि के प्रति मालिन्य या विद्वेष रखता होगा।

कवि की वैचारिक नमनीयता

पंत जी अपनी युगीन जीवन-स्थितियों के प्रति न केवल जागरूक हैं,[2] अपितु परिवर्तित जीवन-स्थितियों के अनुकूल अपनी चेतना को ढालने में उतने ही ईमानदार भी हैं। वय प्राप्ति के उपरान्त भी उनमें कठमुल्लापन नहीं आ

(पिछले पृष्ठ का शेष)

यही ख्याति, लोकप्रियता, संपद् का कारण,
दिग्ध्वनि यन्त्रों से बन नर राई का पर्वत
पिटा डुगडुगी बजा गाल, करता विज्ञापन !

—पतझर एक भाव क्रान्ति, पृ० 216।

1 विश्वम्भर 'मानव', सुमित्रानन्दन पंत, तृतीय सं०, पृ० 290।

2 पंत जी सचमुच व्यावहारिक और दुनियादार आदमी नहीं हैं, लेकिन युग के विचार-संघर्षों के प्रति वे जितने जागरूक हैं, उतने कम साहित्यकार हैं। युग-चिन्तन उनके कोमल स्वभाव का सहज गुण है।
—शिवदानसिंह चौहान, सुमित्रानन्दन पंत : स्मृति चित्र, पृ० 149।

पाया है और उनकी वैचारिक नमनीयता ज्यो की त्यो बनी हुई है ।[1] पंत जी सत्तर के होने आए पर आज भी उनकी काव्य-चेतना नवीन परिष्कारो के लिए अपने मानसिक द्वार उन्मुक्त रखती है । यह प्रसग अधूरा रह जायगा यदि उनके वैचारिक लचीलेपन की चर्चा न की जाय ।

युग-परिवर्तन के लिए वाह्य संघर्ष या युद्ध को साधन-रूप मे अपनाने के लिए पत जी अभी तक तैयार न थे, उनका विश्वास था कि वह अहिंसा एवम् हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही किया जाना चाहिए । पर इधर लोकायतनोत्तर काव्य मे आकर सकेत मिलने लगे है कि 'अहिंसा' के प्रति उनकी निष्ठा कुछ हिल गई है । वे शायद अनुभव करने लगे है कि अहिसा आज निहित स्वार्थो का पोषण करने लगी है और प्रकारान्तर से 'हिंसा' का ही पर्याय बन गई है । अत वह लोगो को चेतावनी देते है कि सघर्ष एवम् रक्त-स्नान के लिए उन्हे तत्पर हो जाना चाहिए ।[2] युग के पथराए चैतन्य को नष्ट करने के लिए सभवत युग-रण भी आयोजित करना पडे ।[3] नवीन भू-जीवन एवम् नव-मानवतावाद की प्रतिष्ठा के लिए, कवि युद्ध करने के लिए अपनी अहता को

1 एक वडा, वहुत वड़ा गुण पतजी मे यह है कि अब भी उनकी उम्र उन पर हावी नही है, वे अपनी उम्र पर हावी है । उनहत्तर-सत्तर बरस की उम्र मे दिमाग का यह लचीलापन, यह सहज ग्रहणशीलता, बिरलो मे ही देखने को मिलती है ।

—अमृतराय, धर्मयुग साप्ताहिक, 7 दिसम्बर, 1969 ।

2 सघर्षण अनिवार्य,
तोडने शृ खल दुष्कर,
अग्नि-परीक्षा, —रक्त-स्नान हित
हो जन तत्पर !
आज अहिंसा
स्थापित स्वार्थो का कर पोषण
हिंसा की पर्याय
गरल-रस-कचन-घट बन !

—पतझर : एक भाव क्रान्ति, प्रथम स०, पृ० 184 ।

3. सघर्षण अनिवार्य, और सभव, युग-रण भी
पथराया चैतन्य नष्ट होगा नि.सशय !

—वही, पृ० 106 ।

उद्‌बोधित करता है।[1] यह एक अलग प्रश्न है कि आगे चलकर यह प्रवृत्ति, कवि की काव्य-चेतना का अंग बन पाती है या नहीं, पर इतना इससे अवश्य स्पष्ट है कि पंत जी का मन अब भी निरन्तर संस्कारित होने की स्थिति में बना है और युग-बोध के प्रति वे पूरी तरह समर्पित हैं।

---

1 अंत लड़ो,
रो नहीं, अहते,
व्यक्ति व्यथे,
विगतज्वर होकर
युद्ध करो—
निर्भय होकर
भव युद्ध करो,
नव भू-जीवन
नव जन मानव हित !

—किरणवीणा, प्रथम सं०, पृ० 154।

अध्याय 8

कला-पक्ष

मानस-सृष्टि तथा काव्य सृष्टि

पीछे[1] यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कवि और कलाकार इन्द्रिय-बोध तथा मन बोध के धरातल से ऊपर उठकर सहजबोध द्वारा या अन्त चक्षुओ की सहायता से उस व्यापक विश्वसत्य का साक्षात्कार कर पाने मे समर्थ होता है जो दृश्यमान रूपो की पृष्ठभूमि मे निहित है। कवि या कलाकार द्वारा ग्रहण किया गया सत्य का यह रूप, भीतर ही भीतर उसके व्यक्तित्व के सम्पर्क मे आता है और उसके सुख-दु.ख, भय-विस्मय आदि भावो से मिलकर एक नवीन सस्कार ग्रहण करता है। इस नवीन सस्कृत रूप को कवि का 'स्वप्न' या 'मानस-सृष्टि' का नाम दिया जा सकता है। यह मानस-सृष्टि नष्ट नही होना चाहती, अपनी अभिव्यक्ति के लिए विकल रहती है। 'भाव' की यह प्रकृति है कि वह स्वय को अन्य हृदयो मे भावित करावे। इसीलिए स्त्रियाँ घाटो पर जमा होती है, बन्धु के पास बन्धु जाता है, चिट्ठियाँ आती जाती है सभा-समिति, तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद, यहाँ तक कि मारा-काटी भी हो जाती है। भाव अमरता पाने के लिए सदा सचेष्ट रहता है। वह अनत काल तक अनत हृदयो को प्रभावित करना चाहता है। काव्य, कला-कृतियाँ, भित्तिचित्र, शिलालेख आदि इसी के न केवल परिणाम, अपितु प्रमाण भी है।

मानस-सृष्टि की अभिव्यक्ति अनिवार्य होते हुए भी यह आवश्यक नही कि सम्पूर्ण मानस-सृष्टि, काव्य-सृष्टि हो सके। यह कवि की कला पर निर्भर करता है कि मानसिक जगत् का कितना अश अभिव्यक्त होता है। यदि सम्पूर्ण मानस-सृष्टि ज्यो की त्यो अभिव्यक्त हो सकने की क्षमता रखती, तो कला-पक्ष का विवेचन अनावश्यक हो जाता। पर जैसा कि सर्वविदित है, मानस-सृष्टि को उसके सम्पूर्ण वैशिष्ट्य मे अभिव्यक्त करने या पाठको तक उसे सप्रेषित करने का कार्य बडा दुस्तर है। कठिनाई यह है कि मानस-सृष्टि के

1 चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत।

भाविक सौन्दर्य मे वैशिष्ट्य की जो अनिर्वचनीयता होती है, वह अशक्त शब्दो की पकड मे पूरी-पूरी नही आती और उसका कुछ न कुछ अश भीतर ही रह जाता है। इसीलिए उसे व्यक्त करने का क्रम युग-युगान्तर से चला आ रहा है। कवि और कलाकार इस अखण्ड क्रम को बनाए रखने वाले उपलक्षण मात्र है।

भाषा की द्विविध परिसीमा

अनुभूति की वैयक्तिकता के ग्रहण मे भाषा की असमर्थता

कवि के पास अपनी विशिष्ट अनुभूति को अभिव्यक्ति देने या सप्रेषित करने के लिए एकमात्र साधन है भाषा का, जिसकी सामर्थ्य की अपनी सीमाएँ है। व्यक्तिवाचक सज्ञाओ को छोड दे, तो भाषा के जितने भी शब्द है वे सब के सब किसी न किसी वर्ग का भी बोध कराते है और कवि की विशिष्ट अनुभूति को व्यक्त करते हुए अपनी जडता प्रमाणित कर देते है। भाषा की यह रूढ जडता जितनी बाह्य पदार्थो का वर्णन करने मे सत्य है, उससे कही अधिक वह आन्तरिक दशाओ के सम्बन्ध मे प्रमाणित है। जब हम प्रेम अथवा घृणा की अनुभूति करते है या कि हम हर्ष अथवा अमर्ष की स्थिति मे होते है तो क्या वह अनुभूति ज्यो की त्यो अपने मूल रूप मे हमारी चेतना मे पहुँच पाती है ? वस्तुतः इनमे से प्रत्येक अनुभूति असंख्य गतिशील सवेद-नाओ तथा स्वर की गम्भीर अनुगूँजो से इतनी लदी-फदी रहती है कि वह हमारी और केवल हमारी ही अनुभूति कहला सकती है। यो व्यवहार मे जब कहा जाता है कि वह अमुक लडकी से 'प्रेम' करता है तो यहाँ प्रयुक्त शब्द 'प्रेम' उस अनुभूति के समस्त वैयक्तिक रगो को छोडकर केवल अत्यन्त सामान्य अर्थ ही द्योतित कर पाता है। बता यही सकता है कि जिस अनुभूति की चर्चा हो रही है, वह अमुक कोटि की है—प्रेम की या घृणा की या क्रोध की। मानव-हृदय के जितने भाव है, वे वर्ग या श्रेणी है। भाषा अनुभूति के केवल निर्वैय-क्तिक (इपर्सनल) पक्ष को ही पकड सकती है, उसका आत्मगत या वैयक्तिक रूप सहज ही इसकी पकड मे नही आता। कला की सार्थकता इसी मे है कि वह अनुभूति के वैयक्तिक रूप को अधिक से अधिक मात्रा मे व्यक्त करे।

शब्द शक्ति का क्रमिक क्षरण

भाषा की दूसरी परिसीमा यह है कि उसके अधिकाश शब्द अति-प्रयोग के कारण घिस-घिस कर खोटे सिक्को की भाँति अनुपयोगी हो जाते हैं। इसमे सदेह नही कि अपने प्रथम निर्माण के समय, भाषा का प्रत्येक शब्द एक जीवत

प्रतीक होता है। वह अपने भीतर कवि-हृदय का कोई शक्तिशाली स्फुरण अथवा सूक्ष्म सवेदन सँजोये होता है पर धीरे-धीरे उसके भीतर का समस्त दृश्य-बिम्ब लुप्त हो जाता है और वह एक रिक्त, छूछा, अर्थहीन ककाल मात्र रह जाता है। सस्कृत का 'वृक' (चीर डालने वाला) शब्द प्रारम्भ मे, मनुष्य और भेडिये के बीच के सवेदनात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करता था और ऐसा, शब्द के एक निश्चित उच्चारण द्वारा होता था जो चीर डालने के सवेदन को सहज ही प्रकट कर देता था। पर धीरे-धीरे वह एक प्राणी-विशेष का ही बोध कराने लगा और उसके भीतर का सवेदन का अश मर गया। उसी का समानार्थक हिन्दी का 'भेडिया' शब्द भी आज वैसा ही निर्जीव हो गया है पर अपने प्रारम्भिक उपयोग के समय, उस पशु-विशेष द्वारा भेड को उठा ले जाने के दृश्य से गडरिये के मन मे उत्पन्न भय एवम् आश्चर्य के मिश्रित सवेदन को वह व्यक्त करता रहा होगा, इसमे सदेह नही। पर प्रयोग की अधिकता के कारण, शब्दो की बिम्बात्मकता एवम् विशिष्ट अर्थ देने की उनकी क्षमता नष्ट हो जाती है। आत्मा उन्हे छोड जाती है। 'अज्ञेय' के शब्दो मे उनके देवता कूच कर जाते है।[1] पद्य के लिए अनुपयोगी होकर ये शब्द गद्य के भण्डार मे चले जाते है। गद्य वस्तुत वह सग्रहालय है जहाँ कवियो की बिम्बवती अनुभूतियो के जीवत प्रतीक जडत्व को प्राप्त कर सदा के लिए सग्रहीत हो जाते है। कविता, एक प्रकार से पीछे लौट कर यथाशक्ति शब्द के इस मूलभूत तत्त्व—सवेदन—को प्राप्त करती है, कभी नए शब्द गढ कर तो कभी पुराने शब्दो को नए अर्थ से भर कर।

काव्य को, भाषा की उपरिसकेतित द्विविध परिसीमा से ऊपर उठने मे, कला-पक्ष के जिन उपकरणो से सहायता प्राप्त होती है उनमे प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है बिम्ब-विधान।

बिम्ब-विधान

सामान्य बिम्ब और काव्य-बिम्ब

हिन्दी आलोचना मे 'बिम्ब' शब्द का आगम अभी हाल की चीज है। वह अग्रेजी के शब्द 'इमेज' का हिन्दी रूपान्तर है और लगभग उसी अर्थ

---

1 देवता इन प्रतीको के कर गए है कूच
कभी वासन अधिक घिसने से
मुलम्मा छूट जाता है!

—पूर्वा, प्रथम स०, पृ० 244।

(कोनोटेशन) मे प्रयुक्त भी होता है। अग्रेजी भाषा एवम् पाश्चात्य मनोविज्ञान मे 'इमेज' शब्द का अर्थ है 'मस्तिष्क पर अकित उद्दीपन पदार्थ की प्रतिच्छवि।'[1] यह प्रतिच्छवि सामान्य विम्ब है। इसमे और काव्य-विम्ब मे थोडा अन्तर है। "सामान्य विम्ब से काव्य-विम्ब मे यह भेद होता है कि (1) इसका निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, और (2) इसके मूल मे राग की प्रेरणा अनिवार्यतः रहती है।"[2] हिन्दी-आलोचना अभी तक विम्ब-रचना की प्रक्रिया मे राग-भावना का कोई सस्पर्श नही मानती थी और यही धारणा लेकर चलती थी कि भाव-पक्ष और कला-पक्ष के क्षेत्र आपस मे नितान्त कटे हुए हैं और विम्ब-रचना, चूंकि कला-पक्ष के अन्तर्गत आती है, अत. उसका राग से क्या लेना-देना ? पर वास्तव मे उत्कृष्ट काव्य-विम्ब वे ही होते हैं जिनके पीछे राग की प्रेरणा होती है। इस सत्य की ओर हिन्दी आलोचना का ध्यान आकृष्ट कर डा० नगेन्द्र ने निश्चय ही महत्त्व का कार्य किया है।[3]

काव्य-विम्ब के सृजन मे कल्पना का योग

पर पृथक्करण के प्रथम तत्त्व अर्थात् काव्य-विम्ब की सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना द्वारा निर्मिति को लेकर थोडी-सी असहमति भी हो सकती है। कुछ काव्य-विम्ब ऐसे भी हो सकते हैं जिनकी निर्मिति मे कल्पना का कोई योग नही होता, न स्मृत कल्पना का और न सर्जनात्मक कल्पना का। उदाहरण के लिए सहजबोधात्मक (इट्यूटिव) काव्य-विम्बो को लिया जा सकता है। सहजानुभूति मनुष्य को विम्ब रूप मे होती है। अत विम्ब-रचना के लिए कल्पना की कही आवश्यकता नही रह जाती। डा० नगेन्द्र स्वय सहजानुभूति

1 वैब्सटर्स थर्ड न्यू इटरनेशनल डिक्शनरी।

2 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 135।

3 (क) इसीलिए मेरा यह विश्वास है कि केवल विम्ब कविता नही है और इसीलिए मेरा यह निश्चित मत है कि विम्बो के निर्माण मे निपुण होने पर भी भावना की आन्तरिक ऊष्मा के अभाव मे 'अज्ञेय' अपने विम्बो को कविता मे नही ढाल पाते।

—वही, पृ० 171।

(ख) काव्य-विम्ब का प्रेरक तत्त्व है भाव। भाव के सस्पर्श के विना काव्य-विम्ब का अस्तित्व सभव नही है लीविस ने उसे अनिवार्य माना है और ठीक ही माना है।

—वही, पृ० 135।

और विम्व मे क्रिया की दृष्टि से अभेद मानते है तथापि मूलत वे उनमे उत्पादन-उत्पाद्य सम्वन्ध स्थिर करते है यह कह कर कि "सहजानुभूति वास्तव मे आत्मा की वह क्रिया है जो विम्व का उत्पादन करती है।"[1] इस सम्वन्ध मे हमारी अपनी धारणा यह है कि सहजानुभूति की जो क्रिया या अनुभूति होती है वह स्वय ही विम्ववती होती है, विम्व-रहित सहजानुभूति की कल्पना तो शशक-शृ ग कल्पना है। दूसरे शब्दो मे, यह सोचना भ्रामक प्रतीत होता है कि सहजानुभूति की क्रिया हो चुके, या होती रहे और फिर बिम्ब का उदय हो। ऐसी स्थिति मे, विम्व-निर्माण के लिए कल्पना की कोई अपेक्षा नही रह जाती। हमारी दृष्टि मे, श्रेष्ठ काव्य-विम्व वे है जो सहजानुभूति की क्रिया है, वे नही जो कल्पना के योग द्वारा निर्मित होते है—फिर चाहे वह स्मृत कल्पना हो, चाहे सर्जनात्मक कल्पना। कल्पना के प्रयोग द्वारा खडे किए जाने वाले काव्य-विम्ब द्वितीय स्थान के ही अधिकारी हो सकते है। प्रथम श्रेणी के काव्य-विम्ब वे है जहाँ सहजानुभूति को ज्यो का त्यो सहेज लिया जाता है, यथा .

उसके रूपो के सौ-सौ आवर्तो मे पड
वहते हुए कमल सा मेरा मन जाने कब
एक लहर के बाहु-पाश से छूट, दूसरी
लहरी के चचल अचल मे बँध जाता है
घोर अराजकता है प्राणो के प्रदेश मे!
दत कथा के राजकुँवर सा मोहित हो मैं
भटक गया हूँ किसी शप्त अप्सरा-लोक मे![2]

यहाँ सहजानुभूति और विम्व-रचना-प्रक्रिया मे न केवल काल का व्यवधान नही है, अपितु पूर्ण अद्वैत स्थिति है और इसीलिए कल्पना के समावेश के लिए स्थान नही रह गया है। पर यह सत्य है कि अनुभूति के ऐसे क्षण अत्यन्त विरल होते है और बिम्व-रचना मे सामान्यतया सर्जक कल्पना का योग रहता है। काव्य-विम्व की डा० नगेन्द्र द्वारा दी गई परिभाषा[3] मे यदि 'सामान्यतया' शब्द का समावेश कर दिया जाए तो उसका रूप यो हो जाता

---

1 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 137।

2 सुमित्रानन्दन पत, शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 95।

3 इस प्रकार काव्य-विम्व शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल मे भाव की प्रेरणा रहती है।
—आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 135।

है 'काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से सामान्यतया कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल मे भाव की प्रेरणा रहती है।

ऐन्द्रिय आधार की दृष्टि से बिम्ब के प्रकार

काव्य-बिम्ब का प्रेरक तत्त्व तो भाव ही है पर सामग्री या उपादान की दृष्टि से उसमे ऐन्द्रिय आधार की प्रमुखता रहती है। इस प्रकार ऐन्द्रियता की दृष्टि से बिम्ब के पाँच भेद किये जा सकते हैं—दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य और आस्वाद्य। चूँकि इनमे से चाक्षुप या दृश्य बिम्ब ही सर्वाधिक मूर्त्त एवम् साकार होता है, अत काव्य मे भी उसी के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे मिलते है। श्रव्य या नादात्मक बिम्ब वे होते है जिनका ग्रहण कर्णेन्द्रिय के द्वारा होता है और चूँकि इनका कोई रूपात्मक या भौतिक आकार नही होता, अत परिमाण की दृष्टि से, काव्य मे इनका प्रयोग दृश्य-बिम्बो की तुलना मे कम ही होता है। हाँ, कवि यदि जन्मान्ध हो तो बात दूसरी है। कहा जाता है कि अन्धे हो जाने के बाद अंग्रेज कवि मिल्टन के काव्य मे नाद-बिम्बो का प्राचुर्य हो गया था। फिर, यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि प्रकृति ने कवि की किस इन्द्रिय को विशेष क्षमता-सम्पन्न बनाया है। जहाँ तक हमारे विवेच्य कवि का सम्बन्ध है, उसकी चक्षु एवम् श्रवण की इन्द्रियाँ विशिष्ट सक्षम है और उसके काव्य मे दृश्य एवम् श्रव्य बिम्ब के जैसे श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध है, वैसे साम्प्रतिक हिन्दी कवियो के काव्य मे अत्यन्त विरल है। दोनो प्रकारो के दो-दो उदाहरण देखिये :

दृश्य बिम्ब

1. अभी गिरा रवि ताम्र कलश सा
   गगा के उस पार
   क्लान्त पाथ जिह्वा विलोल
   जल मे रक्ताभ पसार!

   —युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 37।

2. मोड सुघर घुटने बैठी वह निश्चल
   शुभ्र श्रोणि जघनो से धन्य कुशासन
   कनक कौश पट बाँधे कृश कटि तट पर
   धरे चिबुक करतल पर स्थिर-नत आनन!

   —लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 9।

श्रव्य बिम्ब

1. उड रहा ढोल धाधिन धातिन

औ हुड़ुक घुड़ुकता ढिम ढिम ढिन
मजीर खनकते खिन खिन खिन
मदमस्त रजक होली का दिन
लो छन छन छन छन
छन छन छन छन
थिरक गुजरिया हरती मन।

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृष्ठ 31।

2 खनक उठते मजीर अमद
ताल देते तन्मय तृण-पत्र
ठनकते कास्य गमकते ढोल
नाद का खुलता नभ मे छत्र
झाँझ डफ चग मुरज वज सग
हृदय मे भरते मुक्त उमग
थिरकते लतिका से लच अग
ठुमकते पद वन नृत्य-तरग।

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 283।

ऊपर दिये गये दृश्य-बिम्ब के प्रथम उदाहरण मे वर्ण-समृद्धि देखने योग्य है। आधुनिक कवियो मे रग-संभार एवम् वर्ण-वैविध्य को काव्य मे मूर्त्त कर देने वाले अकेले कवि पंत हैं। 'ग्राम्या' की 'मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम, जिस पर नीलम नभ आच्छादन' तथा 'वाणी' की 'नवोन्मेष' कविता की पंक्तियाँ[1] भी उदाहरण-स्वरूप रखी जा सकती हैं। दृश्य-बिम्ब का द्वितीय उदाहरण सीता की स्थिर विचार-मग्न मुद्रा का जीवत चित्र है। श्रव्य बिम्ब के दोनो ही उदाहरण ध्वनि-प्रतीको यथा नाना वाद्य-यत्रो की सगीतात्मक ध्वनि पर आधारित है और वर्णित-प्रसग दोनो ही वार नृत्य का आयोजन है। प्रथम बिम्ब मे कवि ने ढोल की 'धाधिन धातिन', हुडुक की 'ढिम ढिम ढिन' तथा मजीरो की 'खिन खिन खिन' के नपे-तुले ध्वनि-भार द्वारा नृत्य-रता नर्त्तकी के

---

1 खुलते स्तर पर स्तर, दल पर दल,
सूक्ष्म सूक्ष्मतर,—नील, बैंगनी, फालसई,
कासनी, अँगूरी, हरित पीत पाटल
दल पर दल
कोमल, शीतल, उज्ज्वल।

—प्रथम स०, पृ० 39।

त्वरित, लाघवपूर्ण अग-सचालन को मूर्तिमान कर दिया है। 'हुडुक' तथा 'घुड़ुकता' के दो-दो ह्रस्व उकारो ने मिल कर वाद्य की यथार्थ ध्वनि को शब्दो मे समेट लिया है। चित्र का एक-एक शब्द सजीव होकर अपने स्थान पर अपलक, निष्कम्प खडा है। यही कौशल द्वितीय उद्धरण मे भी द्रष्टव्य है। नृत्येतर प्रसगो के वर्णन मे भी पत जी सफल नाद विम्वो की सृष्टि कर सके है[1] पर वे उनके द्वितीय कोटि के नाद-विम्व है।

गध-विम्व काव्य मे अत्यन्त विरल होते है "विश्व के काव्य से ऐसे उदाहरण एकत्र करना कठिन है जिनमे सश्लिष्ट घ्रातव्य विम्व प्रस्तुत किये गये हो। कीट्स जैसे कवि के काव्य मे भी, जिसका ऐन्द्रिय सवेदन अत्यन्त प्रखर था, इस प्रकार के उदाहरण दो चार ही मिलते है और उनका ग्रहण भी सर्व-सुलभ नही है।"[2] पर पत जी के नव चेतना काव्य मे, सश्लिष्ट भले ही नही, दो चार उदाहरण मिल ही जाते है

1 रहस-सुरभि जाने किन सुमनो की
अन्तर भुवनो से उड कर आती
अमृत चेतना के रस-स्पर्शो से
प्राणो को आलोकित कर जाती!

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 431।

2 ओ विवसन अगो की प्रिय प्रतिमे
यह चदन-सौरभ का चम्पक तन!

—वही, पृ० 475।

उपरिलिखित उदाहरणो मे घ्रातव्य विम्व अपने विशुद्ध रूप मे उपस्थित नही होता। जहाँ प्रथम मे वह स्पृश्य विम्व के साथ सयुक्त है, वहाँ द्वितीय मे दृश्य-विम्व के साथ। इस प्रकार इनमे 'मिश्र' विम्व निर्मित हुए है। स्पृश्य एवम् आस्वाद्य विम्वो के सश्लिष्ट चित्र पत जी के नवचेतना काव्य मे नही मिलते।

---

1 वालाएँ गजरा काट काट
कुछ कह गुपचुप हँसती किन किन
चाँदी की सी घटियाँ तरल
वजती रहती रह रह खिन खिन!

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृ० 36।

2 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, 138।

सर्जक कल्पना के आधार पर बिम्ब के प्रकार

सर्जक कल्पना के आधार पर भी बिम्बो का दो वर्गो मे विभाजन किया जा सकता है—लक्षित और उपलक्षित ।[1] जब पूर्वानुभूत दृश्यो या घटनाओ की स्मृति के आधार पर, बिना सर्जक कल्पना का सहयोग लिये बिम्ब-रचना की जाय तो उसे 'स्मृत' या 'लक्षित' बिम्ब की सज्ञा दी जाती है और जहाँ कवि की सर्जक कल्पना सक्रिय होकर अननुभूत बिम्ब खडा करती है वहाँ विम्ब 'उपलक्षित' होता है । लक्षित बिम्ब का आधार प्रस्तुत और उपलक्षित का आधार अप्रस्तुत होता है । पत जी के नवचेतना काव्य से दोनो के श्रेष्ठ उदाहरण ढूँढे जा सकते है .

लक्षित बिम्ब

सुलभ नही भर पेट अन्न कण
फटे देह पर चिथडे लत्ते
जाडे मे हिल हड्डी बजती
कँपते तन के पीले पत्ते ।

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 48 ।

उपलक्षित बिम्ब

गगा तट, कँप उठता थर थर
ठिठुरा-सा श्लथ वीचि पख जल
उडने को छटपटा क्रौच सा
सटा मूक रेती पर घायल ।

—वही, पृष्ठ 41 ।

द्वितीय उदाहरण मे 'गगा तट' के लिये कवि की सर्जनात्मक कल्पना ने घायल, दम तोडते हुए क्रौच पक्षी का जो अप्रस्तुत जुटाया है वह कितना सटीक एवम् मनोहारी है । राम की गोदी मे प्राण त्यागते हुए जटायु का चित्र भी पाठक की कल्पना मे वरवस घूम जाता है ।

प्रेरक अनुभूति की दृष्टि से बिम्ब के प्रकार

यदि प्रेरक अनुभूति की दृष्टि से विम्वो का वर्गीकरण किया जाय तो उसकी चार कोटियाँ निर्धारित होती है सरल, जटिल, खडित और पूर्ण या समाकलित ।[2] सरल बिम्ब की पृष्ठभूमि मे सरल और इकहरी अनुभूति होती

1 डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 138 ।

2 वही, पृष्ठ 138 ।

है तथा बिम्ब की रेखाएँ और रंग भी स्पष्ट होते है पर जटिल बिम्ब के पीछे एकाधिक अनुभूतियाँ होती है और बिम्ब की रेखाएँ भी परस्पर गुँथी-उलझी होती है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो बिम्ब की समग्रता को हृदयंगम करने मे प्रमाता को अपनी निज की कल्पना का भी उपयोग करना होता है। दोनो का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है

सरल बिम्ब

स्वर्ग-धेनुएँ पूँछ उठाकर
रँभा रही सुन मर्म मौन स्वर
अन्त सलिला स्वर्गंगा के
तीर विचर रस-कातर।

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 3।

जटिल बिम्ब

गालो के स्वर्णोज्ज्वल जल मे
लहराता माधुर्य हृदय का
उठती गिरती लाज-वीचियाँ
कँपता धूप-छाँह विस्मय का।

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 63।

प्रथम बिम्ब मे अतिमानसिक चेतना-स्थितियो का निम्नतर मानसी चेतना के प्रति 'वात्सल्य' भाव वर्णित है। इस इकहरे भाव के साथ बिम्ब की रेखाएँ यथा 'अतश्चेतना के तट पर कातर भाव से विचरण' तथा 'वत्स-स्वर के उत्तर मे पूँछ उठाकर रँभाना' भी स्पष्ट है। 'वात्सल्य' को बिम्बित करने के लिये 'धेनु-वत्स' का प्रतीक यद्यपि भारतीय वाङ्मय के लिये अपरिचित नही है तथापि कवि ने उसका प्रयोग लौकिक क्षेत्र मे न कर आध्यात्मिक क्षेत्र मे किया है जिसके परिमाणस्वरूप पुराने प्रतीक मे नवीन अर्थवत्ता एवम् बिम्ब-शक्ति भर गई है।

दूसरे बिम्ब की पृष्ठभूमि मे एक साथ तीन अनुभूतियो—माधुर्य (रति), लज्जा और विस्मय की क्रीडा है। नायिका के स्वर्णिम कपोलो पर उनकी समकालिक दौड-धूप के कारण बिम्ब की रग-रेखाएँ परस्पर गुँथ गई है पर प्रमाता तनिक से आयास द्वारा उनके धागो को सुलझा सकता है। पत जी के जटिल बिम्ब भी अपूर्ण नही होते, अत प्रमाता, विना अपनी कल्पना पर जोर डाले उन्हे समग्रत. ग्रहण कर सकता है। यह कठिनाई तो उन कवियो के काव्य के साथ

रहती है जो या तो आत्मा मे निर्मित होने वाले बिम्ब को पूरी स्पष्टता मे देख नही पाते और देख पाते है तो व्यक्त नही कर पाते । पत जी की यह विशेषता है कि वे बिम्ब को, न केवल उसके सम्पूर्ण ब्योरो सहित स्पष्ट रूप मे देखते है, अपितु भाषा पर अपने असाधारण अधिकार द्वारा उसे ज्यो का त्यो कविता मे सहेज भी लेते है ।

बिम्ब की पृष्ठभूमि मे अनुभूति यदि खडित है तो 'खडित' बिम्ब की, और अनुभूति यदि बिखरी-फैली है तो 'विकीर्ण' बिम्ब की सृष्टि होती है । आज की नयी कविता मे इसी प्रकार के बिम्बो की सर्जना हो रही है जिसके प्रति पत जी ने न केवल अरुचि प्रदर्शित की है,[1] अपितु स्थान-स्थान पर उस पर व्यग्य भी किये है ।[2] अत. उनके नवचेतना काव्य मे इन बिम्बो के उदाहरण खोजना व्यर्थ होगा । वे तो अनुभूति की पूर्णता मे विश्वास रखते है और इसीलिए उनके काव्य मे जो बिम्ब उभरते है वे 'पूर्ण' या 'समाकलित' बिम्ब ही होते है । इन बिम्बो मे सर्जक अनुभूतियो का समजस रूप देखने को मिलता है और ये बिम्ब काव्य के वास्तविक गौरव होते है । पत जी के नवचेतना काव्य मे सैकडो की सख्या मे वे उपलब्ध है । एक दो उदाहरण देखिये

समाकलित बिम्ब

(1) साधु रहे अब कहाँ साधु ? गैरिक ठठरी भर
रिक्त निखिल अध्यात्म ज्योति से, अधकूपवत्
जीर्ण साधना पद्धतियो के ऊर्ण भरे त्वच
भाँग, चरस, गाँजा पी रहते मदिर समाधित !
न्यस्त कर्म, वैराग्य ठूंठ, दायित्व-विरत वे
क्लीव दीमको के बल्मीक, चाटते जन-मन !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 275 ।

---

1. प्रयोगवादी कविता की भविष्य मे क्या सभावनाएँ हैं, यह अभी नही कहा जा सकता । अभी तक तो उसमे असपृक्त खण्ड-बिम्बो तथा भग्न प्रतिमाओ के खँडहरो मे इधर-उधर क्षण-सौन्दर्य की झाँकी के साथ चकाचौध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है ।

—चिदम्बरा, चरण-चिह्न, द्वितीय स०, पृ० 18 ।

2 चित्रो, बिम्ब-प्रतीको की वह होगी शैली
कथ्य-शून्य, रसहीन, मुक्त छदो की थैली
कौओ के हो चरण-चिह्न भू-रज पर अकित
सवेदन भरते कविता मे विद्युत् इगित !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 137 ।

(2) ओ विवसन अगो की प्रिय प्रतिमे
यह चदन-सौरभ का चम्पक तन
यौवन के मधु पावक मे निखरा
शुभ्र प्रीति का रस-प्रतप्त काचन !
ओ प्राणो के सुख की तन्मयते
आर-पार तुम दर्पण-सी उज्ज्वल,
अपने को कर तुम्हे प्रीति अर्पित
बन जाता मन पक-मुक्त निर्मल !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 475 ।

काव्य-दृष्टि के आधार पर बिम्ब के प्रकार

अब तक आये बिम्ब-प्रकारो के अतिरिक्त काव्य-दृष्टि के आधार पर और भी दो प्रकार के बिम्बो की कल्पना की जा सकती है :

(1) यथार्थ या वस्तुपरक, और (2) रोमानी या स्वच्छन्द । यथार्थ बिम्ब मे, कवि की जीवन-वास्तव के प्रति यथातथ्यवादी दृष्टि उभरती है और उसमे सर्जक कल्पना की क्रीडा के लिये अधिक अवकाश नही रहता । 'निराला' की 'वह तोडती पत्थर' कविता मे यही बिम्ब उभरता है । दूसरी ओर 'रोमानी' बिम्ब मे सर्जक कल्पना की मुक्त उडान होती है और यह तनिक भी आवश्यक नही कि वह जीवन-यथार्थ के खूंटे से बँधा रहे । पत के नवचेतना काव्य मे दोनों ही प्रकार के राशि-राशि बिम्ब विद्यमान है । प्रत्येक का एक-एक उदाहरण देखिये :

यथार्थ बिम्ब

घोषित करता घन वज्र-स्वन
व्यर्थ विचारो का सघर्षण
अविरत श्रम ही जीवन-साधन
लौह काष्ठ मय, रक्त मास मय,
वस्तु रूप ही सत्य चिरन्तन !

—युगवाणी, षष्ठ स०, पृ० 53 ।

रोमानी बिम्ब

सुर धनु जल-कवरी मे बाँधे
शत फेन-वेणि झरते निर्झर
गिरि-धेनु दुग्ध-धाराओ से

भाते मोती के उत्स मुखर !
जीवन-तरंगिनी बह अजस्र
क्या कुछ गोपन गाती कल-कल
वह कान लगा तट-जघनो पर
सुनता भू-गाथा रस-विह्वल !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 616 ।

सामान्यतया बिम्बो के ये ही भेद होते है, पर कोई चाहे तो अन्य अनेक दृष्टिकोणो से इनके चाहे जितने भेदोपभेद कर सकता है। मगर वैसा करने पर अतिव्याप्ति दोष से बचना सम्भव न होगा और वही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जो बिम्ब-वर्गीकरण को लेकर पाश्चात्य समालोचना मे तथा नायिका-भेद को लेकर हमारी रीतिकालीन समालोचना मे हुई थी। स्मरण रखने की बात है कि ऊपर जिन बिम्ब-वर्गो की चर्चा हुई है, वे भी परस्पर असम्बद्ध नही है उदाहरण के लिए दृश्य बिम्ब, सरल बिम्ब भी हो सकता है और यथार्थ बिम्ब भी। एकाधिक आधारो को लेकर वर्गीकरण करने पर अतिव्याप्ति से बचा नही जा सकता। केवल विश्लेषण की सुविधा पर दृष्टि रख कर ही ऐसा किया गया है।

भाषा एवम् अभिव्यक्ति को चित्रमयी एवम् प्रभावशाली बनाने मे, कला-पक्ष के अन्तर्गत 'बिम्ब-विधान' के बाद 'प्रतीक-विधान' का स्थान है। यदि देखा जाय तो 'प्रतीक-विधान' का लक्ष्य 'बिम्ब' ही को समृद्ध बनाना है। यदि ऐसा न होता तो प्राचीन प्रतीको के घिस जाने पर, बार-बार कवियो द्वारा नवीन प्रतीको के प्रति उत्साह क्यो दिखाया जाता ? अतः यहाँ भी मात्र विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से उसका पृथक् से विवेचन किया जा सकता है।

प्रतीक-विधान

प्रतीक तथा उपमान का अन्तर

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र मे 'प्रतीक' को शिल्प-विधि के एक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप मे मान्यता दी गई है। यद्यपि ज्ञान एवम् अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रो मे 'प्रतीक' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो एवम् सदर्भो मे हुआ है, तथापि साहित्य मे तो 'किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु'[1] को ही प्रतीक माना गया है। इस प्रकार

1 हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, प्रथम स०, पृ० 471।

'प्रतीक' तथा 'उपमान' एक ही अर्थ को द्योतित करने वाले शब्द हैं। अन्तर यदि है तो इतना ही कि 'उपमान' या 'अप्रस्तुत' प्रतीक की अपेक्षा कुछ व्यापक है। किसी निश्चित अर्थ के लिए रूढ हो जाने वाले 'उपमान' को 'प्रतीक' कहा जाने लगा है।[1] पर व्यवहार में, दोनों के इस सूक्ष्म भेद की अवहेलना कर, उन्हें समानार्थक एवम् एक दूसरे का पर्याय मान लिया जाता है।

बिम्ब-ग्रहण के लिए जीर्ण प्रतीकों की अनुपयुक्तता

काव्य में प्रतीकों के उपयोग की आवश्यकता इसलिए रहती है कि मात्र अर्थ-ग्रहण कराने से कवि का काम नहीं चलता, उसे अपने द्वारा अनुभूत भाव का बिम्ब-ग्रहण कराना होता है। जैसा कि पीछे विस्तार से दिखाया जा चुका है, सामान्य एवम् अति-प्रयुक्त शब्दों में बिम्ब-सृजन की क्षमता नहीं रह जाती, अत अपनी विशिष्ट अनुभूति को साधारणीकृत करके प्रमाता तक प्रेषित करने के लिए कवि को नवीन क्षेत्रों से ताजा और टटके प्रतीक चुन लाने होते हैं। लगभग हर युग के कवि को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है और अध्यात्म के अपेक्षाकृत अपरिचित क्षेत्र का उद्घाटन करने वाले को तो और भी अधिक। कवि पंत भी इस कठिनाई का अनुभव कर कुछ काल के लिए कर्त्तव्य-मूढ रहते हैं,[2] पर शीघ्र ही नये से नये प्रतीक उनके काव्य की समृद्धि बढ़ाने लगते हैं।

प्रतीक-चयन और अनुभूति

प्रतीकों की नवीनता अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। आज की 'नयी कविता' में नये से नये और विचित्र से विचित्र उपमान जुटाये जाते हैं जो न तो बिम्ब को समृद्ध करते हैं न भाव को तीव्र, प्रतीक-योजना केवल प्रतीक-

---

1 प्रतीक एक प्रकार से रूढ उपमान का ही दूसरा नाम है, जब उपमान स्वतन्त्र न रह कर पदार्थ-विशेष के लिए रूढ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में उपमान होता है। ० ० अत प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है जिसके आयाम सिमट कर अपने भीतर बन्द हो जाते हैं।

—डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 139।

2 कैसे व्यक्त करूँ शब्दों के मन से
किस प्रकाश से आन्दोलित कवि-अन्तर,
टूट रही भावी विद्युत्-पर्वत-सी
फूट रहे क्षितिजों से स्वर्गिक निर्झर! —लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 30।

योजना ही के लिए की जाती है । 'कवि का ध्यान बिम्ब अथवा उपमान की नूतनता पर इतना अधिक केन्द्रित रहता है कि उसके अन्य अनिवार्य गुण—औचित्य, चारुत्व आदि उपेक्षित हो जाते है ।'[1] पर श्रेष्ठ कवि कभी इस वाणी-व्यर्थता मे नही पडता, उसकी दृष्टि अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति पर केन्द्रित रहती है ।[2] पत जी की दृष्टि भी, जैसा कि हम अभी देखेगे; 'प्रतीक' पर न रह कर अनुभूति पर रहती है और यही कारण है कि उनका प्रतीक एव बिम्ब-विधान श्रेष्ठ कोटि का है ।[3] दो उदाहरण देखिए :

(1) प्रलय बलाहक सा घिर-घिर कर विश्व-क्षितिज मे
गरज रहा सहार घोर मथित कर नभ को
महाकाल का वक्ष चीर निज अट्टहास्य से
शत-शत दारुण निर्घोषो मे प्रतिध्वनित हो
अगणित भीषण वज्र कडक उठते अम्बर मे
लप-लप तडित शिखाएँ टूट रही धरती पर
महानाश किटकिटा रहा कटु लौह-दत निज
विकट धूम्र वाष्पो के श्वासोच्छ्वास छोड कर !

—शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 58 ।

(2) घूम रही है धरा समर के घोर भँवर मे
दम साधे है खडा भयकर अणु का दानव
भू व्यापी सहार प्रलय हुकार छेडने !

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 92 ।

1. डा० नगेन्द्र, आस्था के चरण, प्रथम स०, पृ० 174 ।
2 मैंने 'सावित्री' मे मात्र चित्रात्मकता के लिए कही भी और कुछ भी नही लिखा है, न मात्र आलंकारिकता का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही लिखा है । मैंने जो कुछ देखा या अनुभव किया है उसी की यथातथ्य अभिव्यक्ति की चेष्टा मैं सर्वत्र इस कविता मे करता रहा हूँ । —श्री अरविन्द, 'सावित्री', सावित्री पर पत्राचार, पृ० 909 ।
3 प्रतीको के नवीन प्रयोग मे पंत जी (आधुनिक कवियो मे) सर्वाधिक सफल हुए है । पत जी की रचनाओ मे लाक्षणिक प्रयोगो के कारण, रूढिगत प्रतीको मे यद्यपि वाच्यार्थ द्वारा अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने मे कठिनाई होती है, फिर भी उपमान और उपमेय का सम्बन्ध सादृश्य, धर्म, गुण अथवा ध्वनि आदि की समानता द्वारा स्पष्ट हो जाता है ।
—डा० कैलाश वाजपेयी, आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प, प्रथम स०, पृ० 143-44 ।

दोनो उदाहरणो मे एक ही अनुभूति को सप्रेषित करने पर कवि की दृष्टि है और वह है तृतीय विश्व-युद्ध की रोमाचक भयकरता। इस अनुभूति के साधारणीकरण के लिए, प्रथम उदाहरण मे कवि ने जो अप्रस्तुत सामने किया है, वह है प्रलय-मेघ का, जो भारतीय पुरा-कथा से उठाये जाने के कारण पहले से ही राग-सवलित है, पर कवि ने नवीन सदर्भ मे उसका प्रयोग कर, उसे नवीन भगिमा से दीप्त कर दिया है। अप्रस्तुत के उस समस्त क्रिया व्यापार को भी कवि ने उपस्थित किया है जो भय के सचार मे योग देने वाला है यथा 'घोर-गर्जन', 'आकाश का मथन', 'अट्टहास द्वारा काल का वक्ष चीरना', 'वज्र का कडकना', विद्युत् शिखाओ का लपलपा कर पृथ्वी पर टूटना', 'लौह-दत किटकिटाना' और दीर्घ उच्छ्वास छोडना,' परिणाम-स्वरूप विम्व भी 'समाकलित' हो गया है और सादृश्य के कारण 'कामायनी' के प्रलय-वर्णन की याद दिलाता है। दूसरे उदाहरण मे 'जलावर्त मे पडी नौका' तथा 'प्रलय की हुकार छेडने वाला दानव' प्रतीक रूप मे उपस्थित किए गए है। 'दम साधे' खडे होने का प्रयोग, अपने आप मे, सविम्व होने के अतिरिक्त वहुत अर्थपूर्ण भी है। यह 'वार' करने के ठीक पहले का 'सांस रोकना' है और प्रस्तुत सदर्भ मे, आसन्न युद्ध के किसी भी क्षण विस्फोटित होने का व्यजक है। यह प्रतीको एवम् शब्दो का उपयुक्त चयन ही है जो कवि को गिनी-चुनी पक्तियो मे, ईप्सित चित्र उपस्थित करने मे सफल वनाता है।

पंत जी का प्रतीक-चयन का क्षेत्र

कवि के लिए यह आवश्यक नही कि वह अपने प्रतीक प्रकृति ही के क्षेत्र से चुने, वह इतिहास, पुराण, दर्शन, विज्ञान, धर्म, जीवन, आदि कही से भी उन्हे उठा सकता है। यद्यपि यह सच है कि प्राकृतिक जगत् से उठाये गये प्रतीक पहले से राग-सवलित होने के कारण अधिक सटीक रहते है तथापि उनमे खतरा भी रहता है कि कही वे वहुत घिसे-घिसाये न हो। किसी दिए गए सदर्भ मे, कौन से क्षेत्र से उठाया गया प्रतीक अधिक उपयुक्त रहेगा, इसका निर्णय स्वयं कवि की सौन्दर्य वृत्ति ही कर सकती है, पहले से ही इस वारे मे कोई नियम नही निर्धारित किए जा सकते।

जहाँ तक हमारे विवेच्य कवि का सम्वन्ध है, वह अपने अधिकाश प्रतीको का चयन प्रकृति के ही क्षेत्र से करता है और इसके कारण भी है। पहला तो यह कि कौसानी के चारो ओर के रम्य प्राकृतिक दृश्यो के वीच कवि-मानस के प्राथमिक सस्कार हुए। दूसरे, जन्म-काल ही से मातृ-स्नेह वचित वालक द्वारा

प्रकृति मे ही ममतामयी माँ का रूप देखने के कारण उससे कवि के हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया। तीसरे, घटो वैठकर सूक्ष्मता से प्राकृतिक वस्तुओ एवम् व्यापारो का पर्यवेक्षण करने के फलस्वरूप प्रकृति की स्थिर एवम् गतिमती छवियाँ अपनी समस्त विशिष्टताओ एवम् विभाजक रेखाओ के साथ उसके मानस मे सचित हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य-सृजन के क्षणो मे प्रसगानुकूल छवियाँ कवि की चेतना-सतह पर तैर आती है जिनमे से वह कुछ को चुन लेता है, शेष पुन भीतर डूब जाती है। द्वितीय कोटि के कवियो की भाँति उसकी वुद्धि को अप्रस्तुतो के लिए भटकना नही पडता और लगता है कि यह क्रिया उसके मानस की सहज क्रिया बन गई है। प्रकृति-क्षेत्र से आये हुए प्रतीको के दो उदाहरण देखिये

(1) दूर, वहाँ उस पार मर्मरित अन्तरिक्ष के
ऊपर, नभ का नील चीरते, शुभ्र रजत के—
शिखर दिखाई पडते, जो स्थिर ज्योति-ज्वार से
तडित चकित जलदो के खुलते अन्तराल से,—
मौन अटल उल्लंग, आत्म-गरिमा मे जागृत
शाश्वत अमर असीम,—परम आनन्द-लोक से,
जहाँ चेतना का प्रकाश हँसता दिक् विस्तृत
स्वच्छ हिमानी सा शशि की किरणो से प्रहसित!

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 6।

(2) अन्तर आभाओ के पथ से
उडता नीरव मन ध्यान चरण
स्वप्नो की कलियाँ रोओ मे
हँसती भर सौरभ सुर-मादन!
कँपता उर लगते तडित स्पर्श
चेतना-जलधि के हर्ष-चपल,
वरसाती शत ऊषा लाली
स्वर्गिक वातायन से उज्ज्वल!

—उत्तरा, द्वितीय सस्करण, पृ० 73।

प्रथम उदाहरण मे मानसिक चेतना-स्तर के ऊपर के चेतना-स्तरो यथा उच्च मानस, दीप्त मानस, सहजज्ञान मानस, अधिमानस और अति-मानस का वर्णन किया गया है और सारे प्रतीक प्रकृति के ही क्षेत्र से आकलित है। यहाँ 'मर्मरित अन्तरिक्ष' इच्छाओ के कलरव-युक्त मन का, 'नभ का नील' ऊर्ध्व चेतना-क्षेत्र का, 'रजत शिखर' चेतना की ऊँचाइयो का, 'ज्योति-

ज्वार' अन्तश्चेतना के प्लावन का, 'तडित' अन्तश्चेतना का और 'शशि-किरणो से प्रहसित हिमानी' चेतना के प्रकाश का प्रतीक है। द्वितीय उदाहरण मे उन दिव्यानुभूतियो का वर्णन है जिन्हे ध्यानयुक्त मन चेतना के रजत शिखरो पर आरोहण करते हुए प्राप्त करता है। यहाँ भी सारे प्रतीक यथा कलियाँ, सौरभ, तडित, जलधि, उषा-लाली आदि प्रकृति ही के क्षेत्र से उठाए गए है। मुख्य बात यह है कि इन प्रतीको की सहायता से अन्तर्मन मे चलने वाला क्रिया-व्यापार स्पष्ट हो गया है।

प्रतीको द्वारा क्रिया-व्यापार की योजना

पत जी के नवचेतना काव्य मे प्रयुक्त प्रतीको को लेकर आरोप लगाया गया है कि वे केवल सत्य की व्यजना करते है, कोई क्रिया-व्यापार सामने नही लाते और कविता को उलटवाँसी मे परिवर्तित कर देते है।[1] यह आरोप नितात अप्रत्याशित है और बिम्ब-विधान तथा प्रतीक-विधान के अन्तर्गत दिए गए उद्धरण उसके खोखलेपन को प्रकट कर देते है। वस्तुत. इस आरोप का विलोम ही सत्य है। चाहे वह नवचेतना काव्य हो, चाहे इतर काव्य, क्रिया-व्यापार के चित्रण मे पत जी अद्वितीय है और यह चित्रण जीवत, सबिम्ब प्रतीको द्वारा ही होता है। कुछ और उदाहरण देखिये

(1) लो आज झरोखो से उड कर
फिर देवदूत आते भीतर,
सुरधनुओ के स्मित पख खोल
नव स्वप्न विचरते जन-भू पर
रँग रँग के छाया-जलदो सी
आभा पखडियाँ पडती झर
फिर मनोलहरियो पर तिरती
बिम्बित सुर-अप्सरियाँ नि स्वर!

—उत्तरा, द्वितीय स०, पृ० 61।

(2) नभ से झरते नव प्रकाश के नभ
मन श्रेणियो पर चढता सित मन
शोभाएँ ढल सुषमाएँ बनती
सत्य महत्तर, शिव शिवतर प्रतिक्षण!
स्वर्ग-सम्पदा लोट धरा-रज पर

1. विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृ० 582।

जीवन-मर्जन मे होती कुसुमित,
स्वप्न-शिराओ मे रस-चेतस् की
ज्योति-रुधिर गाता प्रहर्ष झकृत !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 543 ।

(3) यहाँ वनैले फूलो की मासल सुगध पी
मारुत उन्मद लोटा करता हरीतिमा के
घने उभारो मे, गर्तो मे, इन्द्रिय-मादन !
मुग्ध स्वर्ण प्रभ भृ ग गूँजते वीरुध जग की
कुसुम योनियाँ चूम गध रज, गर्भ-दान दे !
यहाँ तितलियाँ रग-अग भगिमा दिखाती
वन अप्सरियो सी फिरती शोभा इगित कर
मौन ज्योतिरिंगण निशीथ के अधकार मे
चमक झमक उठते प्रकाश के सकेतो से !

—रजतशिखर, प्रथम स०, पृ० 5-6 ।

ये उदाहरण जान बूझ कर उस काव्य से दिये गए है जो आलोचको की दृष्टि मे 'नवचेतना काव्य' है अर्थात् श्री अरविन्द-दर्शन के प्रभाव मे आकर लिखा गया काव्य । ऐसा इसलिए किया गया है कि आरोप विशेषत अरविन्द-दर्शन की अभिव्यक्ति को ही लेकर किया गया है । ध्यान मे रखने की बात यह है कि तीसरे उदाहरण मे वाह्य भौतिक प्रकृति का वर्णन नही है । अवतरण प्रसग से कटा होने के कारण ऐसा आभास हो सकता है पर वस्तुत जिस रम्य घाटी का यहाँ वर्णन है, वह मानस की घाटी है ।

प्रथम उद्धरण मे उच्चतर आध्यात्मिक- चेतना का मानस-रन्ध्रो से होकर प्रवेश करना, नवीन आदर्शो का भू-जीवन को रूपान्तरित करना, चेतना-शिखरो से प्रकाश-कणो का वरसना और मन की एषणाओ का दैवी आकाक्षाओ मे परिवर्तित होना यदि क्रिया-व्यापार नही है तो क्या है ? इसी प्रकार दूसरे एवम् तीसरे उद्धरण का क्रिया-व्यापार भी सहज ही देखा जा सकता है । इसमे न कोई कठिनाई है, न उलटवासी । हाँ, सारा क्रिया-व्यापार मानसिक और चेतनात्मक है । यदि आलोचक अपने राजनीतिक विश्वासो के अनुकूल फावडे-हथौडे वाला क्रिया-व्यापार देखना चाहता है, तो वह इन वर्णनो मे निश्चित रूप से नही है ।

मानसिकता से भी निम्न स्तर के चेतना-धरातल पर, या अवचेतन की गहराइयो मे जीवन-यापन करने वाले मनुष्यो के लिए पत जी उन प्राणियो एवम् जीवो को प्रतीक रूप मे उपस्थित करते हैं जो या तो कर्दम मे निवास

करते है या फिर अन्धकार मे और स्वस्थ मानसिकता के प्रकाश से जो भयभीत रहते है। दो उदाहरण देखिए

(1) रुद्ध वासना के घोघे, केचुए, सरीसृप
रेग रहे निश्चेतन तम मे धरा नरक के
रूढि, रीति, आचार, अधविश्वास अनेको
पख छटपटाते विभीत गेदुर, उलूक से
गहन अँधेरी खोहो मे पैठे जन मन की !

—सौवर्ण, प्रथम स०, पृ० 44।

(2) अधोमुखी लघु स्वर्ग, सम्प्रदायो मे सीमित
लटके है अगणित त्रिशकु से, बहुमत पोषक,
कट्टरपथी आचारो के झीगुर झन-झन
जहाँ रेंगते दारुण धर्मोन्माद बढाकर !
जहाँ रूढि-जर्जर आस्था के झखाडो पर
क्षुद्र अहता के दिवाध है नीड बसाये !

—वही, पृष्ठ 101।

व्यंग्यानुकूल प्रतीक

पत जी व्यग्य करने की कला मे निष्णात है। उनके व्यग्य बडे पैने, चुटीले और मर्मभेदी होते है। जब किसी पर तीखा व्यग्य करना होता है तब वे अपने प्रतीक निम्न जैविक वर्ग से चुनते है। 'घोघे शंख' कविता मे आज की 'नयी कविता' और नये कवियो पर व्यग्य करते हुए जिन प्रतीको का उन्होने चयन किया है, वे बडे ही सटीक एवम् बिम्ब-गर्भित है

घोघे, शख, चॉद के टुकडे, सीप, कौडियाँ—
राज मरालो से उडते
भावो के पर छटपटा
रिक्त-कल्पना गगन मे !

—वाणी, प्रथम स०, पृ० 85।

तभी स्यार, भेडियो, गिरगिटो, भेडो मे जम,
छिपकलियो, बीछियो, केंचुवो, वर्रो मे रम
जीवन की कल्पना सिसकती
बन कडवाहट !

—वही, पृ० 89।

अपने व्यग्य-विम्वो को समृद्ध बनाने के लिए कवि कभी पुरा-कथा से और कभी नीति-कथा से भी प्रतीक उठा लेता है। दोनो का एक-एक उदाहरण देखिये

पुरा-कथा

कला क्षेत्र वाग्युद्ध क्षेत्र मे बदल अकारण
महिला की ले आड छोडते शर युगधन्वी—
आचार्यो पर, खडे शिखण्डी के हो पीछे
और प्रार्थना करते, हम जब छोडें विष-शर
सीना ताने रहे आप, तृण-लक्ष्य न च्युत हो !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 227।

नीति-कथा

मुट्ठी भर वौद्धिक मयूर के पख लगाए
शिक्षा त्वच, सभ्यता चर्म ओढे विदेश का
का-का-का कर काक-वुद्धि का परिचय देते !

—वही, पृ० 213।

नवीन प्रतीको की राग-संचार की क्षमता

कवि जब नवीन उपमानो की सृष्टि करता है तो उनमे राग का सचार करना अपेक्षाकृत कठिन होता है। केशव ने सूर्य के लिए 'वानर अरुण मुख' कह तो दिया पर इस नवीन प्रतीक मे वे राग का सचार न कर सके। इसी प्रकार 'अज्ञेय' भी नायिका के लिए 'विछली घास' तथा 'कलगी छरहरे वाजरे की' आदि प्रतीको का प्रयोग तो कर जाते है, पर उनमे विम्व भर नही पाते। पत जी की वात दूसरी है, वे अपनी तीव्र सवेदना से नवीन प्रतीको को भी विम्ववान वना देते है। उदाहरण लीजिए

(1) खादी मढ़े घड़े पापो के
देशी नेता, लोग न परिचित !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 78।

(2) धिक् यह पद-मद शक्ति मोह ! कांग्रेस नेता भी
मुक्त नही इससे,—कुत्तो से लडते कुत्सित
भारत माता की हड्डी हित !

—किरणवीणा, प्रथम स०, पृ० 219।

(3) साधु रहे अब कहाँ साधु ? गैरिक ठठरी भर !

—किरणवीणा, प्रथम म०, पृ० 215 ।

प्रथम उदाहरण मे 'खादी मढे घडे' कहने से नेताओ की तोद का बिम्ब उभर आया है, दूसरे उदाहरण मे 'हड्डी' शब्द के द्वारा नेताओ की पद-लोलुपता तो बिम्बित होती ही है, उनके देश-प्रेम के प्रति मार्मिक व्यग्य भी ध्वनित होता है । इसी प्रकार, तीसरे उदाहरण मे 'गैरिक ठठरी' का प्रतीक साधुओ की अध्यात्म-शून्यता को साकार कर देता है ।

निष्कर्ष

प्रतीक-विधान के क्षेत्र मे पत जी आज के हिन्दी कवियो मे अद्वितीय है । उनके प्रतीको की श्रेष्ठता के कारण ही उनका बिम्ब-विधान श्रेष्ठ कोटि का हो सका है । उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीको की सटीकता, बिम्ब-सम्पन्नता एवम् ध्वन्यात्मकता को देखते हुए उन्हे नि सकोच भाव से प्रतीक-सम्राट् कहा जा सकता है ।

छन्द-विधान

काव्य में छन्द की आवश्यकता

भाषागत अभावो की क्षति-पूर्ति करने वाला कला-पक्ष का तीसरा तत्त्व है छन्द-विधान । छन्द मे स्वभावत: निहित सगीत एवम् लय-ताल के द्वारा ही इन अभावो की पूर्ति होती है । काव्य मे लय-ताल का एक प्रकार से प्राथमिक महत्त्व है क्योकि उसके बिना वाग्देवी को सब कुछ अस्वीकार्य है । निर्दोष लय-ताल बहुधा अल्प या ईषत् दृष्टि वाली रचना को भी अमरत्व प्रदान कर देती है । यहाँ लय-ताल से आशय मात्र छन्द-गति से नही है बल्कि एक गहनतर और सूक्ष्मतर सगीत से—आत्मा के एक लय-ताल युक्त सचरण से है जो छन्द की परिधि मे भर उठता है और बहुधा छलक भी जाता है । हमारे भीतर एक और कर्णेन्द्रिय है और उसी को सन्तुष्ट करना स्वर-माधुर्य एवम् स्वर-सामजस्यकार का लक्ष्य है ।[1] शब्द और लय-ताल की इस आन्तरिक सगति की अवहेलना आज की 'नयी कविता' तक नही करती ।

तथापि छन्द, जिससे हमारा आशय ध्वनि के माप अर्थात् मात्रा की एक निश्चित और व्यवस्थित पद्धति से है, असदिग्ध रूप से काव्य-सचरण का उपयुक्त भौतिक आधार है । मुक्त छन्द का दृष्टिकोण अन्तत चल नही सकता

---

1 श्री अरविन्द, द फ्यूचर पोयट्री, प्रथम स०, पृ० 24 ।

क्योकि उसमे चलने की क्षमता नही है ।[1] भले ही कुछ काल के लिए, स्वाद वदलने की दृष्टि से छन्द-रहित काव्य की रचना होती रहे पर कविता को लौटना छन्द ही की ओर पडेगा क्योकि सगीत और लय का अपना निज का महत्त्व है—मनोवैज्ञानिक महत्त्व । प्राचीन भारतवासी जिसे दीर्घजीवी बनाना चाहते थे, उसे छन्दो मे ढाल दिया करते थे यहाँ तक कि दर्शन, विज्ञान, धर्म, अर्थ और विधि तक को छन्द-बद्ध कर दिया गया था । ऐसा वे केवल स्मृति की सहायता के लिए नही करते थे, वे जानते थे कि छन्द-बद्ध वाणी मे महान् प्राकृतिक शक्ति होती है । कहा जाता है कि सृष्टिकर्त्ता ने सृष्टि की भी रचना छन्दो मे की थी ।

पंत जी की छन्द सम्बन्धी धारणा का विकास

कविता मे छन्द की आवश्यकता के सम्बन्ध मे पत जी की धारणा मे विकास होता रहा है । पल्लव-काल तक वे दोनो मे बडा घनिष्ठ सम्बन्ध मानते थे[2] तथा सगीत-सर्जना की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास या तुक को बडा महत्त्व देते थे ।[3] 'युगवाणी' मे आते-आते कवि ने छन्द के बधन एवम् अत्यानुप्रास के 'पाश' से मुक्त हो जाने की घोषणा की[4] यद्यपि इस काव्य-सग्रह की

---

1 श्री अरविन्द, द फ्यूचर पोयट्री, प्रथम स०, पृ० 24-25 ।

2. कविता तथा छन्द के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छन्द हृत्कपन । कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है । जिस प्रकार नदी के तट अपने वधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते– उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पदन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हे सजीव वना देते है ।

—'पल्लव' का 'प्रवेश', सप्तम स०, पृ० 33-34 ।

3 तुक राग का हृदय है जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पडता है । राग की समस्त छोटी-वडी नाडियाँ मानो अत्यानुप्रास के नाडी चक्र मे केन्द्रित रहती है ।

—वही, पृ० 41 ।

4 खुल गए छद के वध
प्रास के रजत पाश
अव गीत मुक्त औ'
युग वाणी वहती अयास !

—युगवाणी, पष्ठ स०, पृ० 21 ।

अधिकाश कविताओ मे छन्द एव प्रास के नियमो का निर्वाह हुआ था। इसी प्रकार 'ग्राम्या' से 'उत्तरा' तक कवि बराबर दोनो का अकुश मानता रहा। 'रजत शिखर' मे आकर कवि पहली बार 'प्रास' से मुक्त हुआ है और इसके काव्य-रूपको मे उसने चौबीस मात्रा के 'रोला' छन्द[1] का प्रयोग किया है, जो कवि की दृष्टि मे, प्रासहीन कविता के लिए हिन्दी का विशिष्ट उपयुक्त छन्द है।[2] 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' के काव्य-रूपक भी इसी छन्द मे ढले है। 'अतिमा' मे कवि पुन. प्रास-युक्त कविता मे लौट आता है, छद का वधन तो ज्यो का त्यो है ही। फिर भी, इस काव्य-सग्रह की 'विज्ञापन' कविता मे वह प्रतिपादित करता है कि छद-रहित हो जाने पर भी कविता, कविता ही रहती है, गद्य नही हो जाती।[3] इसी प्रकार तुक-रहित होने पर भी उसके काव्यत्व का ह्रास नही होता, वह तो उल्टे मुक्त हो जाती है।[4] 'वाणी' मे

---

1 फिर फिर प्राणो की अभिलाषा कनक-भुजग-सी
लिपट वाँध देती उत्सुक वढते चरणो को
धीरे-धीरे झीगुर-सी फिर रेग कामना
जड विषाद को कँपा जगाती सुख की तृष्णा !

—प्रथम सस्करण, पृ० 10।

2 हिन्दी मे रोला छद अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पडता है, उसकी साँसो मे प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फडक उठते है। ऐसा जान पडता है, उसके राज-पथ मे मेला लगा है। प्रत्येक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपाना' तरह तरह के सकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे वढता है।

—'पल्लव' का 'प्रवेश', सप्तम स०, पृ० 42-43।

3 छद वध खुल गये
गद्य क्या वनी स्वरो की पाँते ?
सोना पिघल कभी क्या
पानी वनता ? कैसी वाते ?

—अतिमा, तृतीय स०, पृ० 102।

4 तुक ? शुक मुक्त हुआ
स्वर की रट के पिंजर से सहसा,
मन की डाल डाल पर गाता
वह किंशुक सा मुह वा—ा !

—अतिमा, तृतीय स०, पृ० 102।

भी कुछ कविताओ को छोडकर, छद और तुक का सर्वत्र पालन हुआ है। 'कला और बूढा चाँद' मे अवश्य कवि की छद-तुक की धारणा मे दूरव्यापी परिवर्तन लक्षित हुआ है। सग्रह की सारी कविताएँ छदहीन शैली मे, बिल्कुल गद्य ही मे लिखी हुई है, उनमे कविता के बाह्य परिधान अर्थात् लय-ताल की भी चिन्ता नही की गई है, यथा

इतिहास
दर्शन
विज्ञान,—
इनसे परे हो तुम
परे हूँ मैं
तुम और मैं—
काल शून्य है
वह—है
वह—तुम
वह—मैं !

—द्वितीय सस्करण, पृ० 109।

पर गद्य मे लिखी होने का यह आशय नही कि वे कविता नही है, वे काव्य-तत्त्व से लबालब है और कदाचित् इसीलिए कवि ने उन्हे छन्द का परिधान देना अनावश्यक समझा है।[1] 'कला और बूढा चाँद' छन्द एवम् तुकहीनता की दिशा मे शायद दूरस्थ बिन्दु है, जहाँ तक पत जी जा सकते थे क्योकि परवर्ती काव्यो मे, विशेषत 'लोकायतन' मे, वे पुन छद और तुक की परिचित भूमि पर लौट आए है। 'लोकायतन' महाकाव्य तो पूरा-पूरा मात्रिक अर्द्ध-सम छदो मे लिखा गया है पर शेप तीनो उत्तरवर्ती कृतियो मे भी ऐसी कोई कविता नही है जिसमे छद की अर्थात् लय-ताल की उपेक्षा की गई हो। निष्कर्ष यह कि पत जी का अधिकाश काव्य—अधिकाश नवचेतना काव्य भी, छद-बद्ध है। उसके छद-बधन यदि कही खुले भी है तो प्रयोग की

---

1 देखिए, 'कला और बूढा चाँद' मैंने बिल्कुल गद्य मे लिखा है, लेकिन मैं उसको बिल्कुल कविता मानता हूँ। मैंने उसको रश्मिपदी काव्य कहा है, रश्मिपदी माने जो कि एक बिल्कुल इ ट्यूशनल पोयट्री है। मैंने उसे छद भी देने की कोशिश नही की क्योकि उसमे इतना कवित्व का तत्त्व मेरे भीतर मुझे लगा कि मैंने सोचा उसे छद मे क्यो बाँधू ?

—सुमित्रानन्दन पत, धर्मयुग, 14 दिसम्बर, 1969।

ही दृष्टि से । 'कला और बूढा चाँद' उनका ऐसा ही साहसिक प्रयोग है और उसमे भी यदि काव्य-तत्त्व का प्राचुर्य और भाव की आढ्यता न होती तो कदाचित् वे छद का आँचल न छोडते ।

छंद और संगीत

भाषा को उसकी द्विविध परिसीमाओ से ऊपर उठाने मे छद-विधान जो सहायता पहुँचाता है वह अपने सगीत तत्त्व ही के कारण और सगीत की उत्पत्ति विना छद के हो नही सकती । इसीलिए हमने ऊपर कहा था कि कविता को अन्तत. छद की ओर लौटना ही पड़ेगा । पत जी इस सत्य से भली-भाँति अवगत है और उनकी पल्लवकालीन धारणा कि छद अपने सगीत के वेग से निर्जीव शब्दो के रोडो को भी सजीव वना देता है, उनकी छद-विपयक मूल-भूत धारणा प्रतीत होती है ।

हिन्दी भापा और मात्रिक छंद

पत जी की यह निश्चित धारणा रही है कि हिन्दी के निसर्ग सगीत को केवल मात्रिक छदो ही के माध्यम से विकसित किया जा सकता है और कि वर्ण-वृत्त, इस दृष्टि से, न केवल अनुपयोगी, अपितु बाधक भी है ।[1] सगीतोत्पत्ति की दृष्टि से मात्रिक छदो की विशिष्ट उपयुक्तता का कारण यह है कि 'काव्य-सगीत के मूल तन्तु स्वर है, न कि व्यजन ।'[2] पर इसका यह आशय नही कि व्यजन का अपना कोई सगीत नही होता है, और पत जी भी उसे स्वीकार करते हैं ।[3] पर व्यजन का सगीत स्थूल अत गौण होता है । प्रधान एवम् श्रेष्ठतर सगीत का अभिनिवेश स्वर के कलात्मक समायोजन द्वारा ही सभव है । कुछ उदाहरण देखिये .

---

1. हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छदो ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सपूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्ही के द्वारा उसमे सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है । वर्ण वृत्तो की नहरो मे उसकी धारा अपना चचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता खो वैठती है । हिन्दी का सगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कडो की तरह वडे भारी हो जाते है ।

—'पल्लव' का 'प्रवेश', सप्तम स०, पृ० 35 ।

2. वही, पृ० 39 ।
3. पत, साठ वर्ष : एक रेखाकन, प्रथम स०, पृ० 33 ।

(1) रूप-गर्विता राजस्थान-वधू
आभिजात्य गरिमा से मुख मण्डित
प्रीति-व्रता, मृदु-स्मिता, दीप्ति लतिका
गोरी, भोरी तन्वी, चित्राकित !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 448 ।

(2) धू धू करता ताम्र व्योम
धू धू जलती भू,
धू धू वलती दिशा
उवलता धू धू सागर !

—शिल्पी, प्रथम सं०, पृ० 59 ।

(3) धनि के पैरो मे घुंघरू कल
नट की कटि मे घटियाँ तरल
वह फिरकी सी फिरती चचल
नट की कटि खाती सौ सौ वल !

—ग्राम्या, षष्ठ स०, पृ० 31 ।

प्रथम छद के पूर्वार्द्ध मे 'गर्विता', 'राजस्थान', 'आभिजात्य' और 'गरिमा' इन चार शब्दो मे 'आ' की आवृत्ति सगीत उत्पन्न करती है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध के शब्दान्तो मे 'आ' तथा 'ई' की क्रमिक आवृत्ति से जहाँ नाद-सौन्दर्य की सृष्टि होती है, वहाँ शब्दान्तो की दीर्घ मात्राओ से मिलने वाला विराम, नायिका को चित्राकित भी करता चलता है । द्वितीय उदाहरण के प्रत्येक चरण मे 'ऊ' की आवृत्ति से अग्नि की विकरालता व्यजित हुई है, प्रथम पक्ति मे ताम्र का 'आ' तथा व्योम का 'ओ' आकाश की विशालता को अकित करने मे सहायक हुए है । तृतीय उद्धरण मे ह्रस्व 'इ' की आवृत्ति, विम्व को गत्यात्मक बनाने मे योग देती है ।

छद तो पत जी मात्रिक ही अपनाते हैं पर भाव के अनुकूल बनाने के लिए, उसमे सुविधानुसार काट-छाँट कर देते है । जैसे उनके कपडो की काट, उनकी अपनी परिष्कृत रुचि से शासित होने के कारण दूसरो से भिन्न होती है, वैसे ही उनके द्वारा अपनाए गए मात्रिक छदो के शास्त्रीय स्वरूप मे भी जहाँ तहाँ छोटे-वड़े परिवर्तन हो जाते हैं । वे भाव को छद के अनुसार नही ढालते, छद को ही भाव के अनुरूप ढाल लेते हैं और इस कला मे पत जी वहुत प्रवीण हैं । उनकी इस प्रवीणता को आलोचको ने मुक्त मन से स्वीकार किया है ।[1]

---

1 (क) 'वीणा' से लेकर 'वाणी' तक मात्रिक छदो का प्रयोग ही पत जी

(शेष अगले पृष्ठ पर)

निश्चय ही छदो के सम्बन्ध मे पत जी की सूझ-बूझ अद्वितीय है। 'पल्लव' के 'प्रवेश' मे उनके द्वारा विभिन्न छदो की विशिष्ट क्षमताओ का जो विवेचन किया गया है[1] उससे लगता है जैसे वे प्रत्येक छद की आत्मा से सीधा साक्षात्कार करने मे सफल है। छदो के साथ ऐसा अन्तरग परिचय हिन्दी के किसी भी अन्य कवि का नही है। जान पडता है, कवि का अन्तर्मन स्वय छद के साँचे मे ढला है और जिन भावनाओ को वह वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देता है वे इसी साँचे मे ढल कर आती है।

छंदोभग

पत जी के छद-विधान मे कही-कही गति-भग दोष के दर्शन हो जाते है, यह असत्य नही है। अकेले 'लोकायतन' महाकाव्य मे ही बीसियो उदाहरण मिल जाएँगे। यथा :

(1) बुध भूल विश्वमय ईश्वर को नि सशय
व्यक्ति से परात्पर आभा मे हो तन्मय
माया कह बहिर्जगत को—रहे प्रवचित
दारिद्रच-तमस मे जन-भू को कर मज्जित ! —पृ० 228।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ने अधिकतर किया है। भाव मे गति लाने के लिए इन छदो की थोडी काट-छाँट वे कभी-कभी कर देते है। सैकडो ही छदो का प्रयोग उन्होने आज तक किया होगा पर शायद ही कोई उदाहरण ऐसा मिले जहाँ छद का ढाँचा भाव की आत्मा के अनुकूल न हो।

—विश्वभर 'मानव', सुमित्रानन्दन पत, तृतीय स०, पृ० 366-67।

(ख) छदो को अपनी अभिव्यक्ति के अनुसार ढालना पत जी की कला की अपनी विशेषता है।

—विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृ० 527।

1 रोला और रूपमाला दोनो छद चौबीस मात्रा के है, पर इन दोनो की गति मे कितना अन्तर है ? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटो को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता मे डूबा हुआ, नीची दृष्टि किए, ढीले पाँवो से जैसे घर की ओर जाता है।

—सप्तम सस्करण, पृ० 43।

(2) राग-भावना द्वेष विष मुक्त
सहज विचरे जन भू पर आज,
हँसे तारा-पथ सा सोन्मेष
मर्त्य निशि मे स्त्री-पुरुष समाज ! —पृ० 308 ।

(3) जगाती मेरे मन मे शुभ्र
भाव-प्रेरणा पूर्णिमा शात,
महत् उनका जीवन दायित्व
स्वर्ग ही भू जिनका सिद्धान्त !

—पृ० 309 ।

पहले उद्धरण की दूसरी, दूसरे उद्धरण की पहली तथा तीसरे उद्धरण की दूसरी पक्ति मे गति-भग स्पष्ट है। इस दोष के और भी उद्धरण पत-काव्य से दिए जा सकते है जो आलोचक की दृष्टि मे क्षम्य नही हो सकते। इस दोष के आगम का एक कारण अधिक परिमाण मे काव्य-सृजन से स्वभावत उत्पन्न होने वाली असावधानी है, पर कभी-कभी तो पत जी शब्द-शक्ति की रक्षा के लिए उसे जान-बूझकर आमन्त्रित कर लेते है। उनकी दृष्टि छद की सम-विषम गति की अपेक्षा शब्दार्थ के सूक्ष्म ब्योरे पर अधिक रहती है और उसकी रक्षा के लिए छद की गति का बलिदान करते हुए वे सकोच नही करते।[1] वे मानते है कि इस प्रकार छद की सम-विषम गति मे परिवर्तन कर देने से कविता पर कोई अत्याचार नही होता, उल्टे उसके स्वरपात के सौन्दर्य मे वृद्धि हो जाती है।[2] पत जी के इस तर्क से असहमत होने वाले आलोचक

1. 'सुवर्ण किरणो का झरता निर्झर' मे 'सुवर्ण' के स्थान पर 'स्वर्णिम' कर देने से गति मे तो सगति आ जाती है पर सुवर्ण किरणो का प्रकाश मद पड जाता है। इसी प्रकार 'जल से भी कठोर धरती' मे 'कठोर' के स्थान पर 'निष्ठुर' हो सकता था। —किन्तु, मैंने सम-विषम गति से शब्द-शक्ति को ही अधिक महत्त्व देना उचित समझा है।

—उत्तरा, द्वितीय स०, पृ० 28 ।

2 इस युग मे जब हम ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक के पाश से मुक्त होकर अक्षर-मात्रिक तथा गद्यवत् मुक्त छन्द लिखने मे अधिक सौकर्य अनुभव करते हैं, मेरी दृष्टि मे, ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मे यति को मानते हुए सम-विषम की गति मे इधर-उधर परिवर्तन कर देना कविता पर किसी प्रकार का अत्याचार न होगा, बल्कि उससे ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक मे स्वर-पात का सौन्दर्य आ जाता है।

—वही पृ० ।

भी, उपरिनिर्दिष्ट छोटी-छोटी भूलों को अलग रख कर उनके विपुल सृजन को देखें तो यति-गति का निर्वाह तथा छंद का प्रवाह उन्हें मुग्ध किए बिना नहीं रहेगा। चाहे मात्रिक सम-विषम छंद हो चाहे मुक्त छंद, पाठक और आलोचक समान रूप से छन्द-प्रवाह में वह निकलेंगे। दोनों का एक-एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा :

मात्रिक

गत भू जीवन मन की माखन
अनुभूति हृदय में संचित कर
हिमगिरि अंचल में मेरी ने
जनलोक बसाया लोकोत्तर
शृंगों की आगी छाया में
फूलों की घाटी में सुन्दर
वह अधिष्ठान था शान्ति-पीठ
जीवन-सक्रिय, अन्तर-उर्वर !

—लोकायतन, प्रथम सं०, पृ० 614।

मुक्त

मचल उठता ज्वार
शोभा-सिन्धु में जग
नाचता आनन्द पागल
भाव लहरों पर
थिरकते प्रेरणा-पग
इन्द्रधनुष मरीचि दीपित
चेतना के मर्म में
खुलता गवाक्ष
रहस्य भास्वर !

—किरणवीणा, प्रथम सं०, पृष्ठ 4।

निष्कर्ष

बिम्ब-विधान एवम् प्रतीक-विधान ही की भाँति, पंत जी का छन्द-विधान भी अप्रतिम है। चाहे प्रवाह की दृष्टि से विचार करें चाहे स्वर-प्रस्तार के द्वारा उत्पन्न होने वाली बिम्ब-सम्पन्नता की दृष्टि से, चाहे छन्दों के नानाविध प्रयोगों की दृष्टि से, चाहे छन्द की आत्मा के साथ अंतरंग परिचय की दृष्टि से,

वे हर वार अद्युनातन हिन्दी काव्य के श्रेष्ठ छन्दकार के रूप मे सामने आते है ।

शैली-संरचना

शैली और उसके निर्मायक तत्त्व

भापा को उसकी द्विविव परिसीमा से ऊपर उठाकर सामर्थ्यवती वनाने वाला कला-पक्ष का चतुर्थ और अन्तिम तत्त्व है शैली-सरचना। 'शैली' से हमारा आशय अभिव्यक्ति की भगिमा से है। यह भगिमा कवि के व्यक्तित्व, प्रतिपाद्य की प्रकृति तथा भाषा की निजी क्षमता द्वारा संयुक्त रूप से निर्धारित होती है ।

हमारे यहाँ 'शैली' से मिलता-जुलता अर्थ रखने वाला प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'रीति' है जिसकी व्याख्या आचार्य वामन ने 'विशिष्ट पद रचना' कह कर की है।[1] वामन के अनुसार 'विशिष्ट' शब्द का अर्थ 'गुणयुक्त' है[2] और उन्होने क्रमश प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण के प्राधान्य की दृष्टि से काव्य-रीति के तीन भेद किए है : वैंदर्भी, गौडी और पाचाली। इस प्रकार रीति का सीधा सम्वन्ध यद्यपि भाषा के गुण से है तथापि अप्रत्यक्ष रूप से वह विषय-वस्तु या प्रतिपाद्य की प्रकृति से भी सम्वद्ध है क्योकि वर्णित भाव मे परिवर्तन आने पर, भापा के गुण मे भी परिवर्तन करना वाछनीय हो जाता है ।

'शैली' का मूलाधार भी कथ्य की प्रकृति तथा भाषा की अपनी निजी क्षमता है। करुण रस का वर्णन करने की जैसी क्षमता हिन्दी मे है वैसी उर्दू मे नही और 'आशिकी' को व्यक्त करने की जैसी क्षमता उर्दू मे है, वैसी हिन्दी मे नही। भाषा का भी अपना एक 'जुमला' होता है, एक व्यक्तित्व होता है जिसके पीछे सैकडो वर्षो के सृजन का इतिहास होता है। यह होते हुए भी शैली का स्वरूप पूर्ण नही होता जव तक कि उस पर कवि के व्यक्तित्व की मुहर नही लग जाती। कवि के व्यक्तित्व के साँचे मे ढलकर भाषा का सामान्य 'जुमला' एक विशिष्ट भगिमा से दीपित हो उठता है। "इस दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि शैली न तो केवल अनुभूत विषय-वस्तु का धर्म है और न

---

1 विशिष्ट पद रचना रीतिः

—वामन, काव्यालकार सूत्र, 1/2/7 ।

2 विशेषो गुणात्मा

वही, 1/2/8 ।

कहने के तरीके का ही । शैली की आत्मा मुख्यत: वे सम्बन्ध है जिनके ढाँचे मे अनुभूत विषय-वस्तु को समाहित या व्यवस्थित किया जाता है ।"[1]

पंत जी की काव्य-शैली की विविध भंगिमाएँ

प्रतिपाद्य की प्रकृति के अनुसार पत जी के नवचेतना काव्य मे अभिव्यक्ति की तीनो भगिमाओ के दर्शन करने को मिल जाते है पर प्रधानता उसकी मधुर सुकुमार भगिमा ही की है । इसका कारण है उनके व्यक्तित्व की अपनी मधु-रता-सुकुमारता जिसका जीवत स्पर्श बराबर उनके काव्य मे मिलता रहा है । भाव के माधुर्य के साथ भाषा का माधुर्य मिलकर एक निरुपम मधुर सृष्टि खडी कर देता है । उच्चतर आध्यात्मिक प्रसगो के जटिल स्वरूप को सामान्य भाव-भूमि पर उतार लाने के लिए कवि अभिव्यक्ति की इसी भगिमा का आश्रय लेता है । निम्न पक्तियो मे अपने स्वामी—ईश्वर—के प्रति चिच्छक्ति की आकाक्षा चित्रित है

ऊर्ध्व, शुभ्र, एकाग्र शिखर पर खड़े चिरन्तन
देख रहे है जग के स्वामी भू के उर्वर
इस बहुमुख फैले प्रसार मे, सतजल कम्पित
अपनी ही आनन्द तरगित रहस प्रकृति को !
फूलो की चोली पहने, लहरा हरिताचल
चूर्ण नील कुतल छहरा दिक् सौरभ विश्लथ
घुटनो के बल बैठ, उच्छ्वसित हृदय-सिन्धु ले
अपलक आयत दृग जो देख रही ऊपर को
अमृत प्रीति वरदान हेतु जीवन-साथी से !

—रजतशिखर, प्रथम सं०, पृ० 37 ।

प्रकृति के रम्य रूप का वर्णन करते समय भी कवि पत की अभिव्यक्ति यही भगिमा लिए रहती है । केवल एक उदाहरण हिमाद्रि की रूप-शोभा का प्रस्तुत है .

निश्चल लगता वह शुभ्र पंख
सौन्दर्य हस उड्डीयमान
निज सित गति के आलिगन से
स्वर्गिक दिगत पथ रच महान
देवो सी लगती शिखर-पक्ति

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग—1, प्रथम स०, पृ० 773 ।

रवि रश्मि-किरीटो से मंडित
ज्योत्स्ना मे लगता हिम-प्रान्तर
स्वप्नो के ज्वारो से स्तम्भित !

—लोकायतन, प्रथम स०, पृ० 317 ।

शैली सम्बन्धी कुछ आरोप तथा उनका निराकरण

पत जी के काव्य पर सामान्यतया, और नवचेतना-काव्य पर विशेषतया यह आरोप बरावर लगता रहा है कि उसमे अभिव्यक्ति की मधुर-सुकुमार भगिमा ही के दर्शन होते है, शैली का ऊर्जस्वी रूप नही दिखाई पडता। यह आरोप किसी सीमा तक सत्य भी है। वस्तुत न तो कवि का व्यक्तित्व और न नवचेतना काव्य की विषय-वस्तु ओजपूर्ण शैली के लिए अवसर प्रदान करती है और विना अवसर, केवल ओजस्वी रचना ही के लिए ओजस्वी वर्णन करने की पत जी जैसे गम्भीर एव महदाशय व्यक्ति से हमे आशा भी नही करनी चाहिए। ओजपूर्ण शैली मे काव्य-सृजन करना न तो कवि के लिए अनिवार्य हो सकता है और न वह काव्य-रचना की कसौटी ही।[1] पर इसका यदि यह आशय लिया जाय कि पत जी की अभिव्यक्ति इस क्षेत्र मे अक्षम है, तो सत्य से हम फिर दूर जा पडेंगे। वस्तुत प्रकरण या प्रसग का अभाव, कवित्व या शैली-शिल्प का अभाव नही कहा जा सकता। नवचेतना काव्य के अन्तर्गत केवल एक पक्ष ऐसा है जो ओजपूर्ण शैली के लिए अवसर प्रदान करता है और वह है आसन्न विश्वयुद्ध की रोमाचक विभीपिका। इस प्रसग के आते ही जैसे 'अहे वासुकि सहस्र फन' कहती हुई उसकी अभिव्यक्ति अपनी मुद्रा को आवेशपूर्ण वना लेती है और उसका तेवर वदल जाता है .

महिपासुर, तारक, वृत्रासुर से भी भीपण
महाकाय यह अणु दानव उड रहा गगन मे,
निर्गत कर नथुनो से शत विपमय फूत्कारे
दारुण निर्जन से दिक् कम्पित कर अनन्त को

---

1 उनका कहना था कि सभी कवि एक ही शैली के नही होते, भिन्नता मे ही मौलिकता होती है। सभी कवि विराट् और ऊर्जस्वी चित्र देने के लिए वाध्य नहीं है। परख यह होनी चाहिए कि जो शैली जिस कवि ने अपनाई है, उसके अनुरूप काव्य-उपकरणो का सचय वह कर सका है या नही। मुझे पत जी का यह विवेचन पसन्द आया क्योकि वह सारगर्भ था।

—नददुलारे वाजपेयी, श्री सुमित्रानदन पत . स्मृति-चित्र, पृ० 114 ।

मदोन्मत्त वह, विकट हास्य भरता दिग्दारक
महानाश का खर ताण्डव रच त्रस्त भुवन मे,—
त्राहि-त्राहि मच रही अवनि मे, गगन पवन मे
त्राहि त्राहि कर रहे सकल जल थलचर नभचर !

—शिल्पी, प्रथम स०, पृ० 59-60।

शैली की प्रसाद गुणयुक्त भगिमा के अभाव का दोष भी पत जी के नव-चेतना काव्य पर लगा है और आलोचको ने भाषा की क्लिष्टता एव भाव की दुरूहता की शिकायत की है।[1] "पर पत जी की कठिनता शब्दो की कठिनता नही है, उनकी कठिनाई है उनकी नवीन अभिव्यजना की, नवीन विचारधारा की, नवीन चिन्तन-दर्शन की।·· हिन्दी के व्यजना-विकास और पत जी के मानसिक विकास मे होड-सी लगी है।"[2] उच्चतर चेतनात्मक स्थितियो तथा अध्यात्म जगत् की अनुभूतियो की अभिव्यजना का दुरूह हो जाना बहुत स्वाभाविक है और साहित्य मे ऐसा पहली बार नही हुआ है। वैदिक ऋषियो, मध्य-कालीन रहस्यदर्शियो तथा आधुनिक छायावादी कवियो के साथ ऐसा हो चुका है। वस्तुत. इस कोटि का काव्य जनसाधारण के लिए होता भी नहीं है।[3]

पत जी के नवचेतना काव्य मे सर्वत्र प्रसाद गुण का अभाव हो, ऐसा नही है। उनकी काव्य-चेतना जब ग्राम्य-जीवन या युग-जीवन के तटो को स्पर्श करती है तो भाषा की भगिमा आश्चर्यजनक सारल्य से युक्त हो जाती है। यदि 'ग्राम्या' की भाषा "गाँवो के वातावरण की उपज"[4] होने के कारण प्रसाद गुण-समन्वित है तो युग-जीवन की भागवत कथा 'लोकायतन' का अधिकाश भाग भी अत्यत सरल एव प्रवाहपूर्ण भाषा मे लिखा गया है। दोनो से क्रमश एक-एक उदाहरण देखिए

1 लौट पैठ से व्यापारी भी

---

1. विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृ० 509, 680, 745।
2 बच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृ० 17।
3 मेरी दृष्टि मे सामान्य पाठक ही होता तो 'सावित्री' काव्य का प्रणयन शायद होता ही नही। इसकी रचना वस्तुत मैंने अपने ही लिए तथा उन लोगो के लिए की है जो रहस्यवादी काव्य के नव-मुक्ताओ, बिम्ब-रूपो एव शैली-शिल्प के प्रति समर्पित हो सकते है।

—श्री अरविन्द, सावित्री, पत्राचार, पृ० 822।

4 सुमित्रानंदन पत, चिदम्बरा, द्वितीय स०, चरण-चिन्ह, पृ० 13।

जाते घर, उस पार नाव पर,
ऊँटो, घोडो के सँग बैठे
खाली वोरो पर हुक्का भर !

—षष्ठ स०, पृष्ठ 64 ।

2 पिता गाँव-मुखिया थे जन-प्रिय
पक्का सुथरा था घर आँगन
दक्खिन का दालान वडा था
जिस पर डाल फूँस का छाजन
हरि ने तकली, चरखे, करघे
जुटा, सिरी कर से सचालित
खोला गृह उद्योग-शिविर था,
स्त्री जन के जीवन-विकास हित ।

—प्रथम स०, पृ० 67 ।

नवचेतना-काव्य की आर्ष शैली

निष्कर्ष यह कि पत जी के नवचेतना काव्य की अभिव्यक्ति भाव तथा अनुभूति के अनुसार अपनी भगिमा मे निरन्तर परिवर्तन करती चलती है और यही शैली तथा शैलीकार की सबसे वडी सफलता है । तथापि चेतना के ऊर्ध्व-विकास की अनुभूति को रेखाकित करने के कारण उनके नवचेतना काव्य की प्रधान शैली 'आर्ष-शैली' ही कही जा सकती है । कवि को इस शैली के अनुकूल काव्य-उपकरणो के चयन मे भी पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है । पुष्प, सुरभि, मधु, मधुलिह, जौ के खेत, चन्द्र-कला, स्वर्ण-किरण, स्वर्णिम झर, रजत-वाष्प, मेघ, आभा, तडित, सरिता, पुलिन, निर्झर, वाडव, इन्द्रधनु, पक्षी, वृक्ष, लता, आदि नाना वर्णगन्धमय उपकरण उसने प्रकृति-क्षेत्र से चुने है । इसी प्रकार मन्दिर, कलश, नीराजन, कर्पूर, अभिषेक, रजतघटियाँ, यज्ञ-धूम, हवि आदि उपकरणो का आकलन अध्यात्म जगत् से किया गया है । अन्तर्भुवन, अधि-मानस, अतिमानस, चेतना-सोपान, दिव्य-स्पर्श, करुणा, चिच्छवित आदि सामग्री अरविन्द-दर्शन से उठाई गई है । उपकरण-चयन की इस व्यापक क्षमता के परिणामस्वरूप कवि की आर्ष-शैली की समृद्धि वढ गई है । प्रसगानुसार कवि आर्ष शब्दावली को ज्यो की त्यो भी अपना लेता है जिससे शैली मे एक अपूर्व ओज एव काति का आगम हो जाता है .

अथ ऊर्ध्व वहिरतर उनके सृष्टि सचरण
सात अनन्त अनित्य नित्य का वह चिर दर्पण

एक, एकता से न बद्ध, बहु मुख शिख शोभन,
सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय वह परम !

—स्वर्णकिरण, तृतीय सं०, पृ० 136।

सामर्थ्यवती भाषा

इस प्रकार बिम्ब-विधान, प्रकृति-विधान, छंद-विधान एवं शैली-संरचना के माध्यम से पंत जी की भाषा अद्भुत सामर्थ्यवती एवं व्यंजक हो उठी है। "मेरा बराबर यह विचार रहा है कि खड़ी बोली के परुष रूप को गलाकर मोम बनाने में जितनी सफलता पंत जी को मिली, उतनी और किसी को नहीं। यह पंत जी का ऐतिहासिक कार्य है जिसकी महत्ता आगे की शताब्दियाँ भी स्वीकार करेंगी।"[1] उत्तराधिकार रूप में, पंत जी को जो काव्य-भाषा प्राप्त हुई थी वह 'जयद्रथ वध' एवं 'भारत-भारती' की खड़ी, रूक्ष एवं परुष भाषा थी। पंत जी ने अपनी चेतना की प्रयोगशाला में उसका नवीन संस्कार कर उसे अकल्पनीय सुषमा, मृदुता एवं तरलता प्रदान की।[2]

निष्कर्ष : कला-शिल्प की उत्कृष्टता

इस विवेचन के निष्कर्ष रूप में, असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सकता है कि पंत जी की नवचेतना का कला-पक्ष भी उतना ही पुष्ट है जितना कि इसका काव्य-पक्ष। तथापि पंत जी के उत्तरवर्ती काव्य में भाव का ऐश्वर्य जिस परिमाण में बढ़ा है, कला-शिल्प उसी अनुपात में अभिव्यंजक नहीं हो सका है। भावातिशयता की स्थिति में, कला-पक्ष की न्यूनाधिक अवहेलना हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। जहाँ तक टेकनीक एवं शिल्प का प्रश्न है, सृजन के क्षणों में अन्य कलाकारों की अपेक्षा कवि सबसे कम सचेतन होता है। सृजन-कर्म में लीन कवि के लिए टेकनीक एवं शैली-शिल्प का ज्ञान उसकी सचेतना का एक गौण भाग बन जाता है, यहाँ तक कि प्रेरणा के चरम क्षणों में तो उसे एक प्रकार से विस्मृत कर देने का भी अधिकार उसे रहता है। वाणी का

---

1. रामधारीसिंह दिनकर, श्री सुमित्रानंदन पंत : स्मृति-चित्र, प्रथम सं०, पृ० 126।
2. खड़ी बोली की रूखी काया में इस सीमा तक निखार लाया जा सकता है, उसकी खुरदरी मिट्टी को इस हद तक भुरभुरी, पोली और मुलायम बना कर उसमें इतने सुन्दर और रंग-बिरंगे फूल खिलाये जा सकते हैं, इसकी कल्पना तब कोई नहीं कर सकता था।

—इलाचन्द्र जोशी, वही, पृ० 136।

यह चरमोच्च रूप ही काव्य का शाश्वत तत्त्व है और उसकी स्वल्प-सी मात्रा भी, कवि के शेष कृतित्व को विस्मृत होने से बचा लेती है।[1] पत जी के नवचेतना काव्य का अधिकाश, इसी शाश्वत तत्त्व से युक्त है और यदि कला की थोडी बहुत उपेक्षा हुई भी है तो वह प्रेरणा की उत्कृष्टता या भाव की अतिशयता के कारण ही।

पत जी की दृष्टि मे, भाव की आढ्यता और अनुभूति की प्रखरता का मूल्य कला के 'कोमल फेन' की तुलना मे कही अधिक है।[2] तभी तो वे अपनी सहजबोधात्मक वाणी के लिए अलकारादि को अनावश्यक समझते है।[3] शायद ही कभी पत जी ने नवचेतना काव्य के शैली-शिल्प को सँवारने का आयास किया हो। कला उनके लिए श्वास-प्रश्वास ही की भाँति सहज हो गई प्रतीत होती है। काव्य और कला उनकी दृष्टि मे उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार पुष्प और उसका सौन्दर्य। पर सौन्दर्य की चरम परिणति वे 'शिवत्व' मे ही मानते है।[4] शिवत्व की प्राप्ति ही समस्त कला का लक्ष्य है और उस लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने पर फिर किस कला की आवश्यकता रह जाती है ? चरम परिणति के उस बिन्दु पर पहुँच कर ही कवि कह सका है :

ओ रचने,
तुम्हारे लिए कहाँ से
ध्वनि, छद लाऊँ ?
कहाँ से शब्द, भाव लाऊँ ?
कहाँ पाऊँ रूपक,

---

1 श्री अरविन्द, द फ्यूचर पोयट्री, प्रथम स०, पृ० 15।

2 कला के कोमल फेन का मूल्य मानवीय सवेदना के स्वस्थ सौन्दर्य से अधिक है, इसे मेरा मन नही मानता।

—चिदम्बरा, द्वितीय सं०, चरण-चिह्न, पृ० 17।

3 'वाणी मेरी चाहिए तुझे क्या अलकार ?'

—ग्राम्या, षष्ठ सं०, पृ० 103।

4 कविता और कला-शिल्प मेरी दृष्टि मे, फूल और उसके रूप-मार्दव की तरह अभिन्न है। रूप-मार्दव ? हाँ, किन्तु रग, गध, मधु, फल ही फूल का वास्तविक दान है। अन्न भरी सुनहरी बाल, नाल पर खडी रहने के बदले यदि अपने ऐश्वर्य-भार से झुक जाती है तो इसे विधाता की कला की चरम परिणति ही समझना चाहिए।

—चिदम्बरा, द्वितीय स०, चरण-चिन्ह, पृ० 14।

अलंकरण, कथा ?
ओ कविते,
ये मन के पार के
पवित्र भुवन हैं,—

—कला और बूढ़ा चाँद, द्वितीय सं०, पृ० 131-32 ।

अध्याय 9

नवचेतना काव्य : एक पुनर्मूल्यांकन

सम्यक् मूल्यांकन वाधित करने वाले कारण

काव्य-पक्ष की समृद्धि एवम् कला-पक्ष की उत्कृष्टता के विशद विवेचन के वाद अव यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि पत जी का नवचेतना काव्य साम्प्रनिक हिन्दी-सृजन का अप्रतिम काव्य है और कि कवि का यह क्षोभ अकारण और अनपेक्षित नही है कि उसके नवचेतना काव्य के साथ आलोचको ने न्याय नही किया है। हिन्दी पाठको का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि अव तक इस काव्य का सम्यक् मूल्याकन नही हो पाया है। इससे वडी विडम्वना और क्या होगी कि हिन्दी आलोचको को जिसमे कला-ह्रास के दर्शन हुए[1] तथा जिसका कोई भविष्य नही दिखाई दिया,[2] पत जी का वही उत्तरवर्ती काव्य अखिल भारतीय साहित्य के स्तर पर सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप मे पुरस्कृत किया गया।[3] और भी कुछ रूपो मे उसे राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत-सम्मानित

1 विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 708, 715।

2 अव तो वे एक काल्पनिक और आदर्श मन सृष्टि (यूटोपिआ) मे निवास कर रहे है। श्री अरविन्द की छाया मे पडा उनका अतिम चरण कोई चिन्ह छोड पाएगा, इसमे मुझे सदेह ही है।

—विश्वभर 'मानव' सुमित्रानदन पत, तृतीय स०, पृष्ठ 373।

3 भारतीय ज्ञानपीठ की प्रवर-परिषद् ने सर्व सम्मति से पत जी की 'चिदम्वरा' को देश की पन्द्रह भाषाओ मे 1945 से 1961 के वीच प्रकाशित सर्जनात्मक साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ घोषित किया और एक लाख रुपये का 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' कवि को 19 दिसम्वर, 1969 को नयी दिल्ली के विज्ञान भवन मे विशेष समारोह के साथ भेंट किया।

किया जा चुका है।[1] मात्र हिन्दी-आलोचना ही उन्हें समादृत करने में अक्षम रही है, दीपक तले ही अंधेरा रहा है। हिन्दी-समालोचना की इस असामर्थ्य के एकाधिक कारण रहे हैं।

नवचेतना के स्वरूप-ग्रहण में मति-भ्रम

पहला कारण तो यह कि नवचेतना के स्वरूप को लेकर आलोचकों में मति-भ्रम रहा है। सामान्यतया यही समझा जाता रहा है कि 'नवचेतना' अरविन्द-दर्शन के प्रभाव का परिणाम है जब कि वस्तु-स्थिति यह है कि कवि के अन्तर्मन में नवचेतना की रूप-रेखा अरविन्द या अरविन्द-दर्शन के सम्पर्क में आने से बहुत पहले 'ज्योत्स्ना' काल में ही स्पष्ट हो चुकी थी। हाँ, उस रूप-रेखा को विकसित करने में अरविन्द-दर्शन का योग रहा, और उसी का क्यों, गाँधी-दर्शन, मार्क्स-दर्शन तथा अन्य अनेक महापुरुषों की विचार-धाराओं का योग भी कम न रहा। भूतल पर नवीन मनुष्यता की प्रतिष्ठा के लिए कवि ने अनेक विचार-धाराओं से उपयोगी तत्त्व आकलित कर आत्मसात् किये हैं। अपने स्वप्न-पट में इन समस्त तत्त्वों के समायोजन से कवि की नवचेतना अधिक स्पष्ट तथा दृष्टि अधिक संतुलित हुई है।

प्रभावों को आत्मसात् करना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है और न उसका कवि की मौलिकता से कोई विरोध है। मौलिकता तो कवि की उस व्यक्तिगत दृष्टि में होती है जो उसे विशेष-विशेष प्रभावों ही को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। जैसा कि दिखाया जा चुका है, पंत जी की नवचेतनात्मक दृष्टि का उदय 'ज्योत्स्ना'-काल ही में हो गया था और इसी दृष्टि के प्रकाश में वे प्रभावों को आत्मसात् करते चले गये। खेद है कि हिन्दी के अधिकांश आलोचक प्रभावों के पुंज को ही देख सके, उस दृष्टि को नहीं देख सके जो उनका चयन और आकलन कर रही थी। 'वाणी' की 'नम्र अवज्ञा' कविता लिखे जाने का यही संदर्भ है।

'नवचेतना' से आशय उस नवीन दृष्टि से है जो अभावग्रस्त, युद्ध-जर्जर मानव-जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाने की आकांक्षा रखती है। प्राचीन जीवन दृष्टियाँ एकांगी तथा अतिवादी रही हैं पर कवि की नवीन दृष्टि मानव-सत्य

---

1 (क) 1961 में भारत सरकार ने कवि को 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया।

(ख) उसी वर्ष 'कला और बूढ़ा चाँद' पर पंत जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला।

(ग) 1965 में 'लोकायतन' पर 'सोवियत लैंड' का नेहरू-पुरस्कार मिला।

के सभी स्तरो का स्पर्श करने के कारण भूत और अध्यात्म का समन्वय करने वाली स्वस्थ और सतुलित दृष्टि है। विराट् वैज्ञानिक प्रगति के इस युग मे वाह्य जीवन तो वहुत प्रगति कर गया है पर मनुष्य के मन का उसी अनुपात मे सस्कार न हो पाने के कारण वह वहुत पिछड गया है। यह अल्प-विकसित अर्द्ध सस्कृत मन विज्ञान की शक्तिशाली उपलब्धियो का उपयोग, स्वय मानवता के विनाश के लिये न कर वैठे, अत उसके समुचित सस्कार की आवश्यकता भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। यह सत्य है कि वाह्य क्रान्ति की आवश्यकता है पर रोटी-रोजी की समस्या को हल करने के साथ-साथ आन्तर क्रान्ति भी उतनी ही आवश्यक है क्योकि 'भाव क्राति, क्रातियो की क्राति है।'[1] इन दोनो क्रातियो मे सतुलन वनाये रखने की चेतना ही 'नवचेतना' है। इस प्रकार पत जी का 'नवचेतना' काव्य नवीन दृष्टि का, नवीन आदर्शो का, नवीन मूल्यो का काव्य है। वह न तो विशुद्ध अध्यात्म का काव्य है और न अरविन्द-वादी काव्य ही।

काव्य-चेतना की एकसूत्रता की उपेक्षा

'नवचेतना' का सम्यक् स्वरूप-ग्रहण इसलिए भी वाधित रहा कि आलोचक पत जी की काव्य-चेतना का खण्डो मे ही अध्ययन करते रहे और उसकी प्रवहमान एकसूत्रता उपेक्षित होती रही। नददुलारे वाजपेयी जैसे सुधी आलोचक भी इस सीमा से ऊपर न उठ सके।[2] पत जी के काव्य मे 'वाद' नही, 'व्यक्ति' ही प्रधान है क्योकि सभी वादो से अनुकूल उपकरण वटोरते हुए भी वे किसी वादविशेष से वँध कर नही रहे। कवि की अविच्छिन्न काव्य-चेतना को प्रकृति-वाद, छायावाद, प्रगतिवाद, अरविन्दवाद आदि दिये गए नाम वस्तुत. पत जी की काव्य-चेतना के नही, आलोचको की दृष्टि-सीमा के नाम है। यही नही, पत जी के समग्र कृतित्व मे चूँकि उसी व्यक्तित्व तथा उन्ही चेतनात्मक प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति है, अत उनके सृजन-काल को 'प्रथम उत्थान काल' तथा 'द्वितीय उत्थान काल' के कृत्रिम खडो मे विभक्त करना भी युक्तियुक्त नही है। हाँ, सुविधा की वात भिन्न है।

---

1 पत जी, 'पतझर : एक भाव-क्राति' का विज्ञापन।

2 पत जी छायावादी से गाँधीवादी वने। उन्हे मार्क्सवाद की हवा भी लगी और अन्तत वे ऐकान्तिक अरविन्द-दर्शन के क्षेत्र मे चले गए।
—श्री सुमित्रानदन पंत . स्मृति-चित्र, प्रथम स०, पृष्ठ 115।

मतवादी एवम् व्यक्तिनिष्ठ आलोचना

नवचेतना काव्य का सम्यक् मूल्याकन न हो पाने का दूसरा कारण रहा है हमारी समालोचना का मतवादी एवम् व्यक्तिनिष्ठ होना। सब जानते है कि किस प्रकार पाँचवे दशक मे साम्यवादी विचारधारा हमारी आलोचना पर बेतरह हावी हो गई थी और साहित्यकार के लिए साहित्येतर प्रतिबद्धताएँ निर्मित करने लगी थी। किसी समय पडे-पुरोहित जिस प्रकार स्वर्ग का लोभ तथा नरक का भय दिखाकर जनता को 'धार्मिक' आचरण करने के लिए बाध्य करते थे उसी प्रकार 'कुत्सित समाजशास्त्री' आलोचक 'प्रगतिशील' और 'प्रतिक्रियाशील' के लेबल चिपकाकर काव्य की उन्मुक्त, स्वच्छन्द धारा को एक निश्चित मार्ग पर प्रवाहित करने की असफल चेष्टा मे प्रवृत्त हुए।[1] हुआ यह इसलिए कि 'प्रगतिशील लेखक सघ' की नीतियो से सहमत न हो पाने के कारण, पत जी उससे अलग हो गए थे और उनके तथाकथित प्रगतिशील आलोचको ने दल बाँध कर, योजनाबद्ध रूप से 'निराला' जी को उठाने तथा 'पत' जी को गिराने का कार्य प्रारभ कर दिया था।[2] पर न तो इस प्रकार कोई उठाया ही जा सकता है और न गिराया ही, न 'निराला' उठे, न 'पत' गिरे। मगर इस प्रक्रम मे जो प्रचारात्मक आलोचनाएँ लिखी गई उनसे पत जी के विरुद्ध एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया जो हिन्दी के सामान्य, सहज-विश्वासी पाठको मे असिद्ध धारणाएँ जमाते रहने मे कुछ काल तक सफल होता रहा।[3]

---

1 1948 की इलाहाबाद की जिस बैठक की बात वे (रामविलास जी) लिखते है, उसमे रामविलास ने अपनी कमर पर दोनो हाथ रख कर कहा था, "मैने पत की 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' भी पढ ली और 'निराला' को भी पढ लिया। निराला जी प्रगतिशील है और पत प्रतिक्रियाशील।"
—सुमित्रानदन पत, धर्मयुग, 4 जनवरी, 1970।

2. नागार्जुन जी मेरे पास आये और कहने लगे कि "आप भी हमारे दादा और निराला जी भी हमारे दादा, अब हमसे कहा जाता है कि आप के हम खिलाफ लिखे और निराला जी के पक्ष मे लिखे, ऐसा कैसे हो सकता है?"

—वही, पृष्ठ 21।

3. जो कुछ भी उनके विषय मे लिखा अथवा कहा गया है, उससे एक प्रकार का वातावरण अवश्य बन गया है और प्राय पाठक रचनाओ को स्वय पढकर अपनी सम्मति निर्धारित करने के पहले इस वातावरण से कुछ

(शेष अगले पृष्ठ पर)

हिन्दी-आलोचना की मष्टमारू नीति

आगे चल कर तो 'प्रगतिशील' कहलाने वाले आलोचको ने पत-काव्य के सम्बन्ध मे और भी घातक नीति अपनाई जिसे 'बच्चन' जी ने 'मष्टमारू' नीति कहा है,[1] कवि की रचना के प्रति पूर्ण उपेक्षा एवम् उदासीनता दिखाई जाय, उसके सम्बन्ध मे अच्छा-बुरा कुछ भी न कहा जाय और उस पर मष्ट मारकर बैठ रहा जाय। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' की उन्होने निन्दा की थी पर अब वह भी बन्द कर दी गई, यह सोच कर कि कभी-कभी निन्दा भी, प्रशसा ही के समान नामकरी सिद्ध होती है। पत जी के स्थान पर कोई साधारण प्रतिभा का व्यक्ति होता तो निश्चित रूप से उपेक्षा के इस समुद्र मे डूब जाता पर असाधारण प्रतिभा के धनी पत जी के लिए यह नीति भी बौनी सिद्ध हुई। विवेकानन्द ने एक बार कहा था, सत्य को मार कर मिट्टी मे मिला दो, वह फिर जी उठेगा। पत जी के नवचेतना काव्य के साथ भी यही हुआ है। काल के राजमराल मे नीर-क्षीर-विवेक की अद्भुत क्षमता होती है।

उपरिकथित नीति के अपवाद-स्वरूप श्री विश्वभरनाथ उपाध्याय का महाकाव्य ग्रन्थ 'पत जी का नूतन काव्य और दर्शन' (1956 ई०) यद्यपि 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' दृष्टि से हट कर, विशुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से पत-काव्य के मूल्याकन का घोषित उद्देश्य लेकर सामने आया पर मतवाद के सकीर्ण घेरे से न निकल सकने के कारण लेखक पत-काव्य मे सर्वत्र 'प्रतिक्रिया' और 'पलायनवाद' ही के दर्शन करता रहा, और तो और पत-काव्य के स्वीकृत सास्कृतिक महत्त्व[2] को स्वीकारने मे भी वह आनाकानी करता रहा।[3]

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अनोखी धारणाएँ लेकर आता है। समालोचना हमारे साहित्य का शायद सबसे कमजोर अग है। प्राय. जो एक कहता है, दूसरा उसे ले उडता है और लोग भी ऐसे सहज विश्वासी है कि जो कुछ कहा जाता है, उसे ही मान लेते है।

—बच्चन, पल्लविनी की भूमिका, चतुर्थ स०, पृष्ठ 10।

1 बच्चन, कवियो मे सौम्य सत, द्वितीय स०, पृष्ठ 186।

2 पर इस युग के कवि का उत्तरदायित्व आज बहुत बढ गया है। ऐसी दशा मे पंत जी की सांस्कृतिक एकता की स्थापना का महत्त्व असदिग्ध है।

—विश्वभर मानव, सुमित्रानदन पत, तृतीय स०, पृष्ठ 371।

3 अत भ्रमो का पोषण सच्चा सास्कृतिक प्रयत्न नही हो सकता परन्तु कल्पनावादी कवि पंत को भ्रम मनोहर लगते है। भ्रमो का अपना

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अभी हिन्दी मे सुथरी समालोचना का अभाव है, मतवादी होने के अतिरिक्त वह व्यक्तिपरक भी है और मित्रता का दायित्व वह पूरा-पूरा निभाती है। अच्छे-अच्छे समीक्षक भी सोचते है कि मित्र-आलोचक ही कृतित्व के प्रति न्याय कर सकते है।[1]

आलोचना-मानो की रूढ़ जड़ता

नवचेतना काव्य का सम्यक् मूल्यांकन न हो पाने का तीसरा कारण रहा है आलोचना-मानों की रूढ़ जड़ता। स्वय काव्य-धारा का स्वरूप स्थिर न हो कर गतिशील होना है और इसीलिए परिवर्तित युग-बोध के साथ आलोचना-मानो को भी संक्रमणशील होना पड़ता है अन्यथा नवीन रचना से साक्षात्कार होने पर वे लकड़ी की तलवार की भांति भोथरे, निरर्थक एवम् अनुपयोगी सिद्ध होते है। नवचेतना काव्य के साथ भी यही हो रहा है।[2] यह निश्चित है कि हिन्दी का काव्य-सृजन, मंजिल दर मंजिल पार करता हुआ काफी आगे बढ़ गया है और आलोचना बहुत पिछड़ गई है। इसीलिए हमारी आज की आलोचना मे एक आनद रिक्तता के दर्शन होने लगे है। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं मे सद्य प्रकाशित काव्य-कृतियो का समालोचन जो कभी मात्र कथ्य या विचार के, कभी शिल्प के और कभी अभिव्यंजना या भाषा के आधार पर किया जा रहा है वह इस बात का संकेत है कि साम्प्रतिक आलोचना एक दिग्भ्रम की

(पिछले पृष्ठ का शेष)

कलात्मक सौन्दर्य भी होता है। सीप भी चांदनी मे चांदी बन जाती है अत. आध्यात्मिकता की चांदनी मे भ्रमो मे निमग्न जनता के सम्मुख सीपियो को चमका-चमका कर रजत-हास को मुक्ति समझना-समझाना न सच्चा काव्य है, न सच्चा सांस्कृतिक प्रयत्न ही।

—विश्वभरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 781।

1 मेरा अनुमान है कि मित्रो की कमी के कारण पंत जी को उचित प्रकार के समीक्षक अच्छी मात्रा मे नही मिले है, जिसके कारण उनके काव्य का विवेचन कुछ एकागी हो गया है।

—नददुलारे वाजपेयी, श्री सुमित्रानदन पत : स्मृति-चित्र, पृष्ठ 115।

2 यह दिशा (नवचेतना) हमारे लिए अपरिचित तो है ही। यदि हम अपने पुराने मापो से इसकी माप न ले सकें तो आश्चर्य की बात नही।

—विद्यावती कोकिल, वही, पृष्ठ 78।

स्थिति मे जी रही है और ऐसी अराजक स्थिति का अधिक दिनो तक बना रहना शुभ लक्षण नही है।

युगबोध और नवीन काव्य-निकष

प्रश्न है कि हमारे अपने युग मे काव्य का, सृजन का क्या निकष हो ? आज के व्यापक युग-बोध के आधार पर ही व्यवहार्य काव्य-निकष विकसित किया जा सकता है। बीसवी शताब्दी के दूरगामी वैज्ञानिक आविष्कारो, आवागमन के द्रुत साधनो तथा विश्व-व्यापी राजनीतिक-आर्थिक क्रिया-प्रतिक्रियाओ के सयुक्त प्रभाव के परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न देश एक-दूसरे के अत्यधिक निकट आ गए है और उन देशो के प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोगो की दृष्टि उन समस्याओ पर पडने लगी है जो सभी देशो के मनुष्यो की अर्थात् मानवता की समस्याएँ है। युग के सम्मुख जो सबसे बडी समस्या है, वह है विभाजित मानवता की। यह विभाजन देश, जाति, वर्ण, धर्म, भाषा, सस्कृति आदि अनेक स्तरो पर है और जब तक इन कृत्रिम विभाजनो को विलीन कर विशुद्ध मानवता को विकसित नही किया जायगा, मानवता पर महाविनाशकारी अणु-युद्ध की छाया मँडराती रहेगी। विश्व के प्रबुद्ध विचारक न केवल इस आशका से परिचित है अपितु शक्ति-भर चेष्टा भी कर रहे है कि महानाश के कगार तक पहुँची हुई मानवता को खीच कर पुन सुरक्षात्मक स्थान तक ले आएँ।

सृजन का लक्ष्य : मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा

यह कार्य केवल राजनयिको या सत्ताधारियो का नही है, उनसे कही अधिक यह कार्य उन दार्शनिको, कलाकारो एवम् कवियो का है जो द्रष्टा कहलाने के अधिकारी है। मात्र आनन्द या रस की सृष्टि करना युग-कवि का अन्तिम लक्ष्य नही है[1] और न 'यशसे अर्थकृते' ही काव्य का अन्तिम प्रयोजन है।[2] युग-कवि के लिए काव्य का एक गभीरतर प्रयोजन होता है और वह है

---

1 लक्ष्य कवि का न मात्र आनन्द
न रस ही उसकी अन्तिम सिद्धि!

—लोकायतन, प्रथम स०, पृष्ठ 254।

2 यश धन स्त्री सुत के लिए न आता युग कवि
आता वह मन मे भरने प्रभु की नव छवि!

—वही, पृ० 220।

अपने युग के 'राम' का दर्शन कराना। द्रष्टाओं का कार्य युग को दृष्टि देना है, आदर्श देना है। अत हमारे अपने युग मे सभी प्रकार के कला-सृजन का लक्ष्य ऐसे मूल्यो की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो मानवता की विभाजक भित्तियो को ध्वस्त करने की दिशा मे कार्यशील हो सके। प्रात और देश के भीतर, जाति और धर्म के भीतर, भाषा और भूषा के भीतर जो विशुद्ध मनुष्य छिपा है, उसी का उद्घाटन समस्त सृजन का लक्ष्य होना चाहिए।

मूल्य-ध्वंस की वर्तमान स्थिति

प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यो का आज जिस त्वरा से ध्वस हो रहा है उससे लगता है कि इतिहास फिर किसी नए मोड पर है। आज का व्यक्ति मूर्ति-भजक 'महमूद' की भूमिका मे वडी निर्ममता से मूल्य-प्रतिमाओ को भग्न करता जा रहा है। न जाने उसके भीतर कैसी आग है, कैसा तिक्त असतोष और व्यापी विद्रोह है कि शाश्वत समझे जाने वाले मूल्य भी सस्ती उपेक्षा के पात्र हो गए हैं। पारिवारिक क्षेत्र से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक एक सी स्थिति है। लगता है जैसे हम किसी मूल्यहीनता के युग मे प्रवेश कर गए हैं। वस्तुत यह सक्रान्ति का युग है और द्रुतगामी वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण समस्त जीवन की पीठिका वदल रही है। "परिस्थितिया वडी सक्रिय हो गई हैं किन्तु व्यक्ति या भीतर का मनुष्य उस अनुपात मे विकसित नही हो सका है। विज्ञान ने मनुष्य को इतनी शक्ति दे दी है, जिसका कि वह किस तरह उपयोग करे, और दुनिया उन शक्तियो को सामाजिक व मानवीय मूल्य कैसे दे, यह एक वडी भारी समस्या है।"[1] युग के इस प्रश्न को लेकर भारी किंकर्त्तव्य-विमूढता फैली है और सारे विश्व की दृष्टि अपने बुद्धिजीवियो, प्रबुद्धचेताओ, मनीषियो, दार्शनिको एवम् सर्जक साहित्यकारो की ओर लगी है पर अभी कोई उपयोगी, नवीन जीवन-मूल्य सामने नही आ रहे हैं।

तथाकथित यथार्थ एवम् मानवीय यथार्थ

विश्व के अनेक देशो मे, और भारत मे भी, साहित्यकारो का एक वर्ग ऐसा है जो ह्रास और विघटन के इस मलवे के नीचे दव गया है और चूंकि वह उस मलवे के अतिरिक्त और कुछ नही देख पा रहा, अत समझता है कि यही 'यथार्थ' है और इसी से मेरा सरोकार है। हमारा आज का अधिकाश नवलेखन 'युगवोध' के नाम पर इसी ऋण-वोध का भार ढो रहा है। "द्वितीय

---

1. सुमित्रानन्दन पंत, धर्मयुग, 7 दिसम्वर 1969, पृ० 72।

विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी विवेकवादी, अस्तित्ववादी, पुनर्जागरणवादी या ह्रासोन्मुखी कुण्ठावादी साहित्य से प्रभावित आज की हमारी नवीनतम साहित्य की कुछ धाराएँ भी मरणोन्मुख विगत मानव-चैतन्य की टिमटिमाती हुई, क्षणदीप्त, आत्म-मुग्ध क्षीण लौ है जिन्हे व्यापक समूहीकरण के मूल्यो मे मिलकर स्वय को विकसित तथा सामूहिक उन्नयन की धारा को अधिक व्यापक, वैचित्र्यपूर्ण तथा समृद्ध बनाना है।"[1]

हमारी सृजन-चेतना आज अनास्था, निराशा, कुण्ठा, आत्म-दमन, आत्म-पीडन और आत्म-पराजय के वियावान मे भटक गई है और मूल्य-हीनता को ही मूल्य मान बैठी है। उसकी दृष्टि मनुष्य की दुर्बलताओ और क्षुद्रताओ पर ही पड कर रह जाती है और 'उपचेतन' के माया-जाल मे लिपटे हमारे सर्जक कलाकार अपने मानवी पात्रो को कर्दम मे रेगने वाले क्षुद्र जीवो की श्रेणी मे ला खडा करते है। मनुष्य की आशा, आकाक्षा और दुर्दम जिजीविषा को वे देख ही नही पाते जो मनुष्य का 'सत्य' है। प्रश्न है कि आज के युग मे यदि मानव की दुर्बलताएँ अधिक देखने मे आती है तो क्यो नही उन्ही को मानव का 'सत्य' मान लिया जाय ? पर सत्य का स्वरूप ऋणात्मक कैसे हो सकता है ? अत आशा, उत्साह, आकाक्षा आदि को ही मानव का 'सत्य' मानना पडता है। उदाहरण के लिए साइकिल चलाना सीखते समय हम साइकिल चलाने की अपेक्षा गिरते अधिक है पर कोई यह नही कहता कि हम 'गिरना' सीख रहे है, कहते यही है कि 'साइकिल चलाना' सीख रहे है।

मूल्य चाहे व्यक्तिनिष्ठ हो चाहे समाजनिष्ठ, वे मानवीय मूल्य होने चाहिए। करुणा, सवेदना, प्रेम, अहिंसा, उपकार, सहयोग आदि मानवीय मूल्य है, तथा हिंसा, प्रतिशोध, निर्दयता, स्वार्थपरता आदि पशु-जगत् के मूल्य है। यद्यपि यह सत्य है कि आज भी हमारे जीवन मे अनेक पशु-मूल्य हमारी रीति-विधि का सचालन करते है तथापि मनुष्यता तो इन्हे क्रम-क्रम से छोडते जाने का ही नाम है। बहुधा साहित्यकार, मनुष्य मे अवशिष्ट इन पशु-मूल्यो को ही उभार कर प्रस्तुत करने लगता है और समझता है कि वह यथार्थ का चित्रण कर रहा है। साम्प्रतिक हिन्दी-सृजन मे 'सैक्स' का जो इतना अधिक आस्फालन दिखाई पड रहा है उसके पीछे भी यही भावना कार्य कर रही है। देखा जाय तो वह जिस 'यथार्थ' का चित्रण कर रहा है वह वस्तुत मनुष्य का न होकर पशु का 'यथार्थ' है। मनुष्य का 'यथार्थ' तो पशुता से निरन्तर मनुष्यता की दिशा मे आगे बढते रहना है और इस सक्रमणशीलता का चित्रण

1 पत जी, साठ वर्ष. एक रेखाकन, प्रथम सं०, पृ० 72।

ही मानवीय यथार्थ का चित्रण है। यथार्थ-चित्रण के अपने उत्साह मे, बहुत से साहित्यकार इस गतिशीलता के दर्शन नही कर पाते क्योकि उनमे अपेक्षित दृष्टि-विस्तार का अभाव होता है। वे मानवीय यथार्थ के गतिशील सत्य मे से एक काल्पनिक स्थिर अश खोज निकालते है और गतिशीलता को स्थिरता के पैमाने से माप लेने के असम्भव प्रयत्न मे लगे रहते है।

सुन्दर और शिव

अत. सही मानो मे 'साहित्य' कहलाने का अधिकार उसी रचना को है जो मानवीय सत्य को समप्रस्तुत करे, मानवीय मूल्यो को प्रतिष्ठित करे। यहाँ फिर वही 'प्रतिबद्धता' का प्रश्न उठता है। साहित्यकारो के एक वर्ग का विश्वास है कि कला, मात्र कला के लिए है। कला के द्वारा मूल्यो की प्रतिष्ठा को ये लोग 'सुन्दर' मे 'शिव' की घुस-पैठ के रूप मे देखते है पर 'शिव' कला के लिए कोई विजातीय द्रव्य नही है। यह दिखाया जा चुका है कि सुन्दर, शिव और सत्य तीन पृथक्-पृथक् तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व के तीन पहलू है। वस्तुत 'सुन्दर' इसलिए सुन्दर है कि वह 'शिव' भी है। चित्रत्र मे वियुक्त सर्प के आकर्षक सौदर्य को कौन सुन्दर कहेगा ? यदि 'सुन्दर' के अर्थ को ऐन्द्रिय सवेदन उत्पन्न करने या नाडी-शिराओ को झनझनाने वाले अर्थ तक सीमित कर दिया जाय जैसा 'हाउसमैन' ने किया था तो बात अलग है। पर तब कठिनाई यह खडी हो जायगी कि क्या ऐसी शब्द-योजना को 'साहित्य' अर्थात् 'सहित-भाव' वाले वर्ग मे स्थान देना उचित होगा ?

कला और प्रचार

कलावादियो का कहना है कि सामाजिक चेतना की बात करने से कला 'प्रचारात्मक' हो जाती है और उसका दरजा गिर जाता है। पर साहित्य या कला के द्वारा जो प्रचार-कार्य होता है वह प्रकट न होकर प्रच्छन्न, 'कान्ता-सम्मत' प्रचार होता है और साहित्य मे वर्जित नही है। यदि कला के द्वारा सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करना भी 'प्रचार' है तब तो उसे 'हाथी दाँत' की किसी मीनार मे बन्द होकर रहना चाहिए। पर हम जिस युग मे जी रहे है उसमे जीवन के विविध क्षेत्रो के तथ्य परस्पर टकराये बिना नही रह सकते और कला के लिए भी यह शायद ही सम्भव हो कि वह अपने सामाजिक दायित्व को न संभाले।

आज की सांस्कृतिक समस्या

सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने तथा इस सक्रान्ति-युग मे जीव-नोपयोगी मूल्य देने की दृष्टि से प्रयोगधर्मा नयी कविता की अपेक्षा मार्क्स-

वादी कला कही अधिक जीवन्त तथा श्रेष्ठ है। युग-मानवता को आर्थिक-राजनीतिक मुक्ति दिला कर उसे भौतिक दृष्टि से समृद्ध बनाने का उसका स्वप्न लोक-मागल्य से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण निश्चय ही प्रशसनीय है। पर इस कला की दूसरी ही सीमाएँ है। इसका युग-बोध केवल समतल जीवन से ही सम्बन्ध रखता है, वह मानव-सत्य को आगे लाता तो है पर अश रूप मे ही। आज समस्या भौतिक साधनो के अभाव की नही है क्योकि आज का उन्नत विज्ञान यदि समुचित दिशा मे प्रवृत्त कर दिया जाय तो पृथ्वी-वासियो की प्राथमिक आवश्यकताएँ सहज ही पूरी की जा सकती है। समस्या आज यह है कि मनुष्य अभी भीतर से नही बदला है, वह अब भी बर्बर, स्वार्थी, क्षुद्र और असहिष्णु बना हुआ है और जब तक वह ऐसा बना रहेगा तथा पारस्परिक भय एवम् स्पर्द्धा का शिकार रहेगा तब तक विज्ञान की सेवाओ से लाभान्वित नही हो सकेगा। तात्पर्य यह कि बाह्य समदिक् जीवन एवम् अन्त जीवन मे सगति स्थापित करने की आवश्यकता बनी है और यह सगति अन्तर्मन का सस्कार करके ही लाई जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, आज की समस्या एक सास्कृतिक समस्या है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू इस समस्या के हल के लिए प्रयत्नशील रहे, भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् अपने भाषणो मे इसे रेखाकित करते रहे, दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसेल इसके महत्त्व को अन्त तक समझाते रहे। विश्व के और भी अनेक प्रबुद्ध जन इस सास्कृतिक समस्या का निदान खोजने मे विकल रहे और आज भी है। विश्व-मानवता का स्वप्न इन प्रबुद्ध महाजनो के मन क्षितिज पर उदित हो चुका है और उनकी सूक्ष्म मन शक्तियाँ नवीन मानवता-वादी मूल्यो को विकसित करने मे प्रवृत्त हो चुकी है। हो सकता है, कुछ मूल्य विकसित भी हो गए हो पर जिस प्रकार मलबे के ढेर के बीच उठती हुई दीवारे, कुछ काल तक दृष्टि-पथ मे नही आती, उसी प्रकार वे भी सम्प्रति लक्षित न हो पा रहे हो।

आज के सन्दर्भ मे कवि का दायित्व

इस सन्दर्भ मे, भारत ही नही, विश्व के प्रत्येक सृजनचेता साहित्यकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि इस विकसित होती हुई नवमानवता को वाणी देकर भू-मगल के भावी युग का सूत्रपात करने मे हाथ बटावे,[1] ऐसे आपातकाल मे

---

1 इस सक्रान्ति-काल मे, मैं साहित्य-स्रष्टा एवम् कवि का यही कर्त्तव्य समझता हूँ कि वह युग-सघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म

(शेष अगले पृष्ठ पर)

भी प्रबुद्धचेता कहलाने वाले साहित्यकार यदि 'कला, कला के लिए' का नारा देकर 'नायिका-भेद' मे उलझे रहे या 'स्वान्त.सुखाय' की दुहाई देकर आत्म-सुख-दु ख की चादर मे लिपटे पडे रहे या मनोविश्लेषण का कवच पहन कर अवचेतन की गहराइयो मे प्रेतो की भाँति विचरण करते रहे या वर्ग-युद्ध की ऐतिहासिक अनिवार्यता की आड लेकर साम्यवाद की शाण पर हथियारो की धार तेज करते रहे तो करने को रह ही क्या जाता है !

युग-बोध के निकष पर चेतना-काव्य की परीक्षा

सक्रान्ति-काल के इस व्यापक युग-बोध से विकसित नवीन मानवीय मूल्यो के निकष पर परीक्षा करे तो पत जी का नवचेतना काव्य साम्प्रतिक हिन्दी का श्रेष्ठ काव्य प्रमाणित होता है । व्यापक युग-बोध की दृष्टि से देखे चाहे उपयोगी मूल्य-सृजन की दृष्टि से, वर्तमान युग के हिन्दी कवियो मे कोई भी पत जी के समकक्ष नही आता । द्रष्टा कवि पत ने अपने 'नवमानवतावाद' के स्वप्न मे जो मूल्य सँजोये है वे भू-मानव का मुख उज्ज्वल करने वाले तथा लोक-मगल के विधान द्वारा भू-जीवन को स्वर्गिक जीवन मे परिणत कर देने वाले है । पत का कवि विश्व को कोई नवीन दर्शन देने का दावा नही करता, न उसका यह विश्वास है कि दर्शन के द्वारा मनुष्य का कल्याण ही हो सकता है[1] तथापि द्रष्टा होने के नाते उसे जो एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है, अवश्य वह आज की सत्रस्त मानवता को देना चाहता है । उसे पूरी निष्ठा है कि साम्प्रतिक विघटन के युग मे मानवता का त्राण यदि हो सकता है तो इसी दृष्टि से, इसी नवचेतना से ।

कवि की यह दृष्टि, यह स्वप्न कोई शेखचिल्ली का स्वप्न नही है और नवचेतना की एक भी प्रवृत्ति ऐसी नही है जिसकी व्यवहार्यता सदिग्ध हो । राग-भावना के परिष्कार का कवि का स्वप्न अवश्य कुछ अस्पष्ट एव अव्यावहारिक प्रतीत होता हे मगर कुछ ब्यौरो के सम्बन्ध मे ही । जहाँ तक स्थूल रूपरेखा का प्रश्न हे, वह न केवल अनिवार्य अपितु शत-प्रतिशत व्यवहार्य

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर-पट से आच्छादित मानव-हृदय के मच पर जिन विश्व-एकीकरण की नवीन सास्कृतिक शक्तियो का प्रादुर्भाव तथा अन्त क्रीडा हो रही है उन्हे अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-सगीत मे झकृत कर सके ।

—सुमित्रानन्दन पत, 'उत्तरा' की प्रस्तावना, द्वितीय स०, पृ० 26 ।

1 सुमित्रानन्दन पत, चिदम्बरा, चरण-चिन्ह, द्वितीय स०, पृ० 30 ।

भी है। विश्व के सभी देश यदि कृतसंकल्प होकर सगठित प्रयत्न करे तो निश्चित रूप से नवीन मानवता का यह स्वप्न जीवन की वास्तविकता मे परिणत किया जा सकता है। सामूहिक प्रयत्न एव दृढ निश्चय के अभाव मे यदि यह स्वप्न स्थूल भौतिक आकार न ग्रहण कर सके तो इसमे कवि का भला क्या दोष हो सकता है। उसके पास तो ऐसी कोई शक्ति होती नही कि वह अपने द्वारा देखे गए स्वप्न को साकार कर दिखाए।[1] उसका कार्य केवल दृष्टि-दान करना है। अधिक-से-अधिक कवि से हम निष्ठा और ईमानदारी की माँग कर सकते है[2] और इस सम्बन्ध मे पत का कवि अपने पाठक को पूर्णतया आश्वस्त कर देता है कि भावी लोक-मागल्य का जो स्वप्न उसने प्रस्तुत किया है उसकी व्यवहार्यता मे रच मात्र भी सन्देह नही हो सकता। कवि की कृतकार्यता इसी मे है।

युग को प्रभावित करने की क्षमता

पत जी उन महान् कवियो मे से है जो युग से प्रभावित होने के साथ-साथ युग को प्रभावित भी करते है। हिन्दी कवियो मे युग का प्रभाव सर्वाधिक पत जी पर ही पडा जो एक ओर तो उनके मुक्त-मन होने का, तथा दूसरी ओर युग-सत्य को उसकी समग्रता मे आत्मसात् करने के अनवरत प्रयास का प्रमाण है। नानाविध प्रभावो के पुज मे कवि का व्यक्तित्व खो नही गया, वह बराबर प्रभावो को अपनी अन्तर्दृष्टि के प्रकाश मे सँजोता और व्यवस्थित करता रहा। प्रभाव उस पर चाहे जितने पडे हो, अनुकरण उसने किसी का नही किया और

---

1 कवि होता सम्राट् न
वह सेना अधिनायक,
होता सित चित् रस पावक
जन भू उन्नायक,
नही बदलता वह जीवन को
मात्र दृष्टि भर देता जन को।

—पत जी, पौ फटने से पहिले, प्रथम स०, पृष्ठ 84।

2 उनकी रचना ऐसे स्रष्टा का सृजन है जो युग के अन्तर्जगत् मे अभिव्यक्ति के लिए विकल भावनाओ और विचारो को वाणी देते है। जीवन के मागल्य लक्ष्य के प्रति उनकी आस्था अद्वैत और साधना अडिग है।

—महादेवी वर्मा, श्री सुमित्रानदन पत स्मृति-चित्र, प्रथम स०, पृ० 172।

इस प्रकार अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण बनाए रखा। यह असत्य नही है कि प्रत्येक नवीन प्रभाव के प्रवाह मे कुछ काल तक पत जी बहे है पर शीघ्र ही जैसे उन्होने स्वय को सँभाल लिया है। नवीन प्रभाव का उतना ही अश ग्रहण करके रह गये है जितना उनकी नवदृष्टि के लिए उपयोगी था। नवचेतनात्मक प्रवृत्तियो को आधार बनाकर काव्य-सृजन की दृष्टि से यद्यपि पत जी का प्रभाव परिमित ही रहा है क्योकि विद्यावती कोकिल को छोडकर हिन्दी का अन्य कोई कवि इस पथ का अनुसरण करता अभी नहीं दिखाई पड रहा तथापि भाषा एव अभिव्यजना के क्षेत्र मे उनका प्रभाव अपरिमेय रहा है।[1]

प्रबन्ध-पटुता

गीति-काव्यकार के रूप मे तो पत जी अद्वितीय थे ही, 'लोकायतन' जैसे महाकाव्य का प्रणयन कर उन्होंने अपनी प्रबन्ध-पटुता एव विराट् कल्पना का भी परिचय दे दिया है। यद्यपि उस महाकाव्य मे कथासूत्र की विरलता है तथापि उसकी वस्तु कामायनी की अपेक्षा कम सघन नहीं है। आज से सौ वर्ष बाद आधुनिक युग के हिन्दी महाकाव्यों मे से यदि कोई बचे तो वे 'लोकायतन' और 'कामायनी' ही होंगे, शेष सब काल की धारा मे बह जायेगे। गीति-काव्य तथा प्रबन्ध काव्य की रचना मे समान रूप से श्रेष्ठ होने के कारण पत जी 'निराला,' महादेवी, 'बच्चन', 'अज्ञेय' आदि समकालीन कवियो से, जो कोई महाकाव्य नही दे पाये, सहज ही ऊपर उठ जाते है। पत जी वस्तुत. सूर-तुलसी की कोटि के महाकवि है और हिन्दी मे काव्य-सृजन से वे स्वय तो गौरवान्वित कम हुए है, हिन्दी भाषा की गौरव-वृद्धि अधिक हुई है।

आशावाद

पत जी स्वय तो आशावादी है ही, उनके काव्य का सन्देश भी आशावाद का है। भावी मानव-जीवन के मागल्य के प्रति उनकी आस्था अटूट है—

---

1 पिछली पीढी के हिन्दी-साहित्य को जिन महान् व्यक्तियो ने प्रभावित किया है उनमे पत जी अन्यतम है। मैंने प्रारम्भ मे ही कहा है, उनका प्रभाव हावी होने वाला नही है। वास्तव मे वह बल का प्रभाव नही है, वह दृष्टि का प्रभाव है, इसलिए अधिक सूक्ष्म है। मै समझता हूँ कि वह अधिक गहरा और अधिक स्थायी भी है।

—'अज्ञेय,' श्री सुमित्रानदन पत . स्मृति-चित्र, प्रथम स०, पृ० 94।

निराशा के स्वरो से तो जैसे उनका परिचय ही नही है ।[1] उनका यह आशा-वाद पाठक के लिए सक्रामक सिद्ध होता है और उसमे जीवन के प्रति एक नवीन आस्था को जन्म देता है ।

दुरूहता का आरोप एवम् उसकी परीक्षा

पत जी के नवचेतना काव्य मे कही-कही दुरूहता एवम् विचार-बोझिलता काव्य की आत्मा को क्षति पहुँचाती दिखाई पडती है । जब कवि अरविन्द-दर्शन को आधार बना कर ब्रह्म, चिच्छक्ति, जगत् तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धो का तर्क-शुद्ध विवरण देने बैठ जाता है तो राग-तत्त्व की जैसे उपेक्षा होने लगती है और सामान्य पाठक अपनी पूर्ण सहृदयता देकर भी रस-मग्न नही हो पाता । पर ऐसे प्रसगो का अनुपात पत जी के नवचेतना काव्य मे अधिक नही हैं । यदि प्रतिशतता ही का आग्रह हो तो वह दस प्रतिशत से कम ही है । शेप सारा काव्य भावना मण्डित एवम् हृदय की वृत्तियो को दुलराने वाला है । यो किसी भी महाकाव्य को लें, उसमे विशुद्ध विचार-प्रतिपादन तथा उपदेशात्मक उद्बोधन के अश मिल ही जायेगे । मिल्टन के 'पैरेडाइज लास्ट' की दुरूहता पत जी के 'लोकायतन' महाकाव्य से कई गुना अधिक है । तुलसी के 'राम-चरितमानस' मे जहाँ-जहाँ साग रूपक बाँधे गये हैं या विश्लेपणात्मक विवेक प्रदर्शित किया गया है यथा ज्ञान-भक्ति का अन्तर बताने के प्रसग मे, वहाँ-वहाँ नीरसता व्याप्त हो गई है और 'अयोध्याकाड' को छोड़ दे तो उपदेशात्मकता तो सर्वत्र छाई हुई दिखाई पडती है ।

कला के ह्रास का आरोप एवम् उसकी परीक्षा

कुछ आलोचको द्वारा द्वारा हिन्दी-जगत् मे यह भ्रम फैलाया गया है कि नवचेतना काव्य मे आकर पत जी की कला ह्रासोन्मुख हो गई है और कि 'पल्लव'-काल मे ही वह अपने चरमोच्च शिखर पर थी ।[2] पल्लव-काल के

---

1. गहन से गहन तम मे भी, पत जी सदा ही, हलकी भी क्यो न हो, प्रकाश-रेखाएँ ढूँढ ही निकालते हैं । उज्ज्वल भविष्य, मानव की स्वाधीनता एव उसके सुख मे पत जी के अटल एव सदैव वृद्धिशील विश्वास को कोई भी चीज़ धक्का नही पहुँचा सकती ।

—ई० चेलिशेव, सुमित्रानदन पत तथा आधुनिक हिन्दी कविता मे परम्परा तथा नवीनता, प्रथम सं०, पृष्ठ 189 ।

2. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पत जी का नूतन काव्य और दर्शन, प्रथम स०, पृष्ठ 708 ।

काव्य मे अग्रेजी के कवि 'कीट्स' की सी ऐन्द्रियता अवश्य है, वाह्य प्रकृति के सौन्दर्य की मुग्ध किशोर कवि की प्रतिक्रियाएं अवश्य है पर उसमे उस गभीर मानसिक एवम् आत्मिक सौन्दर्य का प्राचुर्य कहाँ जो नवचेतना काव्य का प्राण है ? यदि ये आलोचक वाह्य सौन्दर्य-चित्रण तथा इन्द्रिय-सवेद्यता को ही कला के उत्कर्ष का मापक मानते है तब तो उनके निष्कर्ष मे कोई असगति नही है क्योकि नवचेतना काव्य मे वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्त सौन्दर्य के चित्रण की प्रवृत्ति ही अधिक दिखाई पड़ती है। और भूतवादी दृष्टि के आलोचक अन्त सौन्दर्य की सत्ता माने ही क्यो ? पर बात इतनी सी नहीं है, कही अधिक गहरी है। स्वय कवि भी इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं है कि क्यो ये मतवादी एवम् पूर्वाग्रह-पीडित आलोचक उत्तरवर्ती चेतना-काव्य की कला को हेय बता कर, पल्लव-काल की कला की प्रशसा करते ह, कदाचित् वे पाठको का ध्यान उस चेतना-काव्य की ओर से हटाना चाहते है जिनमे उन्हे अपने सकीर्ण राजनीतिक मतवादो की सपुष्टि नही मिलती।[1] आश्चर्य तो यह है कि विश्वभर 'मानव' जैसे पूर्वाग्रह-मुक्त एव तटस्थ वृत्ति के समीक्षको की धारणा भी वातावरण से प्रभावित हुए विना न रह सकी।[2]

वस्तुत. मानवीय अस्तित्व के निम्नतर स्तरो को छूने वाली कला महान् नही होती। ऐन्द्रियता हमारे अस्तित्व का निम्नतम स्तर है। इससे ऊपर के स्तर है मन एवम् आत्मा के। कला उसी अनुपात मे महान् होती है जिस अनुपात मे वह हमारे उच्चतर अस्तित्व का स्पर्श करती है। इस दृष्टि से नवचेतना काव्य मे पहुंच कर पत जी की कला ह्रासोन्मुख नही, निरन्तर विकासोन्मुख रही है। पल्लव-काल की कला निश्चित रूप से उत्तरवर्ती काव्य के भाव-ऐश्वर्य का भार वहन करने के लिए बौनी एवम् अक्षम प्रमाणित होती। इसीलिए उच्चतर काव्य-चेतना के अनुकूल वनने की क्रिया मे कवि की कला उत्तरोत्तर समर्थ एवम् समृद्ध होती चली गई है। उसने जो क्रमिक ऊँचाइयाँ प्राप्त की है वे है 'उत्तरा', 'कला और बूढा चॉद', 'लोकायतन' तथा 'पतझर : एक भाव-क्रान्ति' मे। अभी कवि ने अपनी लेखनी को विराम नही दिया है और पाठक उन्नततर कला-कृति की प्रतीक्षा कर सकता है।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में कवि का स्थान

पत जी का नवचेतना काव्य, इस प्रकार, वस्तु के औदात्य, विचार की प्रौढता, भावना की मर्मस्पर्शिता, युगबोध की व्यापकता, भाषा की व्यजकता,

---

1 पत जी, चिदम्वरा, द्वितीय स०, पृष्ठ 16-17।

2. 'मानव', सुमित्रानदन पत, तृतीय स०, पृष्ठ 373।

कल्पना की समृद्धि, अभूतपूर्व मौलिकता, गीतात्मकता, प्रवध-पटुता आदि समस्त दृष्टियो से वर्तमान हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ एवम् अप्रतिम काव्य है। 'गुप्त', 'हरिऔध', 'प्रसाद,' 'निराला', 'महादेवी' 'वच्चन', 'दिनकर' और 'अज्ञेय' आधुनिक हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि है पर सव की अपनी-अपनी सीमाएँ है। सर्वतोमुखी काव्य-प्रतिभा की दृष्टि से यदि इनमे से कोई पत जी की समकक्षता प्राप्त कर सकता है तो एक मात्र जयशकर 'प्रसाद' ही। जीवित कवियो मे तो पत जी शुक्र नक्षत्र की भाँति देदीप्यमान है ही।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

(क) पंत जी की काव्य-कृतियाँ

1 वीणा
2 ग्रन्थि
3 पल्लव
4 गुजन
5 ज्योत्स्ना
6. युगान्त
7 युगवाणी
8 ग्राम्या
9. स्वर्णकिरण
10 स्वर्णधूलि
11 युगपथ
12 उत्तरा
13 रजतशिखर
14. शिल्पी
15 सौवर्ण
16 अतिमा
17. वाणी
18 कला और बूढा चाँद
19. लोकायतन
20. किरणवीणा
21 पौ फटने से पहिले
22 पतझर : एक भाव-क्रान्ति
23 आधुनिक कवि पत
24 चिदम्बरा
25 मुक्ति यज्ञ
26 रश्मिवध

(ख) अन्य संदर्भ-ग्रन्थ

27 सुमित्रानदन पत — डा० नगेन्द्र
28 सुमित्रानदन पत काव्य-कला और जीवन-दर्शन — स० शचीरानी गुर्टू
29 सुमित्रानदन · पत — विश्वभर 'मानव'
30 पत जी का नूतन काव्य और दर्शन — डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय
31 कवियो मे सौम्य सत — बच्चन
32 हिन्दी काव्य और अरविन्द-दर्शन — डा० प्रतापसिंह चौहान
33 युग कवि पत की काव्य-साधना — विनयकुमार शर्मा
34 श्री सुमित्रानदन पत स्मृति-चित्र — सम्पादित

35 साठ वर्ष एक रेखाकन — सुमित्रानदन पत
36 सुमित्रानदन पत और उनका प्रतिनिधि काव्य — डा० शिवनन्दन प्रसाद
37. सुमित्रानदन पत और लोकायतन — डा० एस० शकर राजू नायडू
38. सुमित्रानदन पत तथा आधुनिक हिन्दी कविता मे परम्परा और नवीनता — डा० ई० चेलिशेव
39 हिन्दी साहित्य . बीसवी सदी — नददुलारे वाजपेयी
40. आलोचना के मान — शिवदानसिह चौहान
41 आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ — डा० नगेन्द्र
42 कविता के नये प्रतिमान — डा० नामवर सिह
43 गद्य-पथ — सुमित्रानदन पत
44 ज्योति-विहग — शातिप्रिय द्विवेदी
45. निराला की साहित्य-साधना — डा० रामविलास शर्मा
46 पत और पल्लव — 'निराला'
47. पत, प्रसाद व मैथिलीशरण — डा० रामधारी सिह 'दिनकर'
48 समीक्षा के सदर्भ — डा० भगवतशरण उपाध्याय
49 साहित्य और सौन्दर्य — डा० फतहसिह
50 सस्कृति के चार अध्याय — डा० रामधारीसिह 'दिनकर'
51 हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष — शिवदानसिह चौहान
52 छायावाद — डा० नामवर सिह
53 छायावाद-युग — डा० शभुनाथ सिह
54 सत्य, शिवं, सुन्दर — डा० रामानद तिवारी
55 हिन्दी के श्रेष्ठ काव्यो का मूल्याकन — डा० यश गुलाटी
56 आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प — डा० कैलाश वाजपेयी
57. आधुनिक हिन्दी कवियो के काव्य-सिद्धान्त — डा० सुरेशचद्र गुप्त
58 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ — डा० नामवर सिह
59. आधुनिक हिन्दी कविता मे विषय और शैली — रागेय राघव
60. आधुनिक साहित्य और साहित्यकार — डा० गणपति चद्र गुप्त
61. निराला काव्य का अध्ययन — डा० भगीरथ मिश्र

62 समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ — डा० प्रतापनारायण टडन
63 आस्था के चरण — डा० नगेन्द्र
64 कवि निराला — नददुलारे वाजपेयी
65 आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा० वार्ष्णेय
66. छायावाद : एक पुनर्मूल्यांकन — सुमित्रानदन पत
67 हिन्दी साहित्य · एक आधुनिक परिप्रेक्ष्य — 'अज्ञेय'
68 हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास — डा० शभुनाथ सिंह
69 सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व — डा० कुमार विमल
70 हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 — सम्पादित
71 नया हिन्दी साहित्य एक भूमिका — डा० प्रकाश चन्द्र गुप्त
72 दर्शन की रूप-रेखा — डा० जे० एन० सिन्हा
73 पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग — डा० ब्रजगोपाल तिवारी
74 अरविन्द का सर्वांग दर्शन — डा० रामनाथ शर्मा

अंग्रेजी

1 A History of Indian Philosophy — Das Gupta
2. An Introduction to the Philosophy of Sri Aurobindo — Dr S K. Maitra
3 Creative Evolution — Henri Bergson
4 Evolution — Sri Aurobindo
5 History of Philosophy, Eastern and Western Vol II — Dr S. Radhakrishnan
6 Meeting of the East and the West in Sri Aurobindo's Philosophy — Dr S K Maitra
7 Studies in Sri Aurobindo's Philosophy — Dr S K Maitra
8 The Integral Philosophy of Sri Aurobindo — Haridas Choudhury
9 The Human Cycle — Sri Aurobindo
10 The Integral Yoga — Sri Aurobindo

11	The Life Divine	Sri Aurobindo
12	The Synthesis of Yoga	Sri Aurobindo
13	The Riddle of This World	Sri Aurobindo
14.	The Future Poetry	Sri Aurobindo
15	Savitri	Sri Aurobindo
16.	Aesthetics	Benedetto Croce
17.	Poetic Image	C. D. Lewis
18	Some Aspects of Modern Poetry	Alfred Noyes
19	The Pursuit of Poetry	Robert Hillyer
20	The Spirit of Psychology	C G. Jung
21.	The Varieties of Religious Experience	William James
22	The Use of Poetry and the Use of Criticism	T S Eliot
23	Theories of Personality	Calvin S. Hall and Gardner Lindzey
24	The First Romantics	Malcolm Elvin
25	The Renaissance in India	Sri Aurobindo